वर्ष २, अङ्क १ Registered No A 1340

ओ३म्

आषाढ़ १९८२] [जून १९२५

अलङ्कार
तथा
गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

मुख्य संपादक—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय सूची

विदेश से ४) एक प्रति का ।-) वार्षिकमूल्य ३)

वर्ष २, अङ्क १]　　मास, आषाढ़　　[पूर्ण संख्या १३

अलंकार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः ।
हविष्मन्तो अलंकृतः ॥ ऋ० १. १४. ५

"तद्दूरे तद्वन्तिके"

(श्री पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार)

दूर से दूर, पास से पास ।
बाहर भीतर, जगह जगह पर, हे प्रभु ! है तेरा ही वास ॥

दृग में अंजन रूप, निरंजन ! मन में रहता है भय-भंजन ।
प्रातः सायं क्षितिज तटी में, होता है तेरा आभास ॥

खिली लता के फूल फूल में, तरल नदी के कूल कूल में ।
कोमल शीतल मलयानिल में, करता है तू ही उल्लास ॥

उषा-दुलारे ओस कणों में, निशा-कुसुम नक्षत्र गणों में ।
नव शिशु के निष्पाप अधर में, दिखता है तेरा मृदु हास ॥

तुहिनाचल के तुहिन पटल में, अतल जलधि जल मुक्ताफल में ।
प्रकृति नटी के रूप रूप में, तेरा है स्वच्छन्द विलास ॥

'मनु' तथा 'इन्द्र'

(ले० प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार)

प्रत्येक भारतीय ने 'मनु' महाराज का नाम कई बार सुना है। उन्हीं के नाम से 'मनुस्मृति' नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है जिस में वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक नियमों का विधान है। प्रायः यह समझा जाता है कि मनु महाराज कोई एक व्यक्ति हुए हैं जिन्होंने भारत में शासन के नियमों का निर्माण कर अव्यवस्था को दूर किया। प्रकरण प्राप्त न होने के कारण हम यहां पर इस विषय की आलोचना नहीं करना चाहते। हमारा मत यह है कि मनु नाम से कोई एक ही व्यक्ति हुए हों, ऐसा नहीं है। व्यास,-गद्दी का नाम पड़ गया, शंकराचार्य भी गद्दी का नाम ही है, इसी प्रकार 'मनु' शब्द भी एक गद्दी के लिए प्रयुक्त होता रहा है। मनु शब्द की व्युत्पत्ति 'मन्' धातु से होती है। संस्कृत में इस शब्द का अर्थ मनन करना, नियम बनाना अथवा legislate करना है। मनु शब्द का धात्वर्थ ही नियामक अथवा legislator है। इन अर्थों में मनुस्मृति उस ग्रन्थ का नाम है जिस में भारत के प्रसिद्ध मनुओं के बनाए हुए नियमों का संग्रह हो। मनु जो कोई भी बन सकता था, परन्तु ऐसा बनने के लिए देश देशान्तरों के शासन सम्बन्धी नियमों का तुलनात्मक अध्ययन करने की योग्यता अपेक्षित होती थी। जिस व्यक्ति में इतनी योग्यता पायी जाती थी उसी को 'मनु' अर्थात् legislator की पदवी से विभूषित किया जाता था और उस के निर्दिष्ट किए हुए नियमों पर यथावत् विवेचन करके उनका समाज में प्रयोग प्रारम्भ हो जाता था। जिस प्रकार ईजिप्ट के राजाओं को फैरोहा कहा करते थे, पारसियों के शक्तिशाली राजाओं को क्सरसीज़ कहते थे, हिन्दुओं में शस्त्र से देश-रक्षा तथा देश-विस्तार करने वालों को क्षत्रिय नाम से पुकारते थे, इसी प्रकार नियमों के निर्माण में प्रचुर गति रखने वाले विद्वानों को मनु कहा करते थे।

ईजिप्शियन, यहूदी तथा ग्रीक हमारे कथन की पुष्टि करते हैं। ईजिप्ट को शासन के नियम देने वाला मेनीज़ [Manes] था, जो कि मनु के अतिरिक्त दूसरा कोई न था। हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि भारतवर्ष से मनु महाराज ही ईजिप्ट चले गये थे। अभिप्राय इतना ही है कि भारतवर्ष में नियमों की रचना करने वाले को 'मनु' कहा जाता था, इस लिये ईजिप्शियन लोगों ने भी अपने देश में शासन की व्यवस्था करने वाले को 'मेनीज' नाम देना पसन्द किया। यहूदियों में नियमों का विधान करने वाला (law-giver) 'मूसा' (Moses) है। बाइबल के पुराणे अहकनामे के अनुसार 'मूसा' ही परमात्मा (जिहोवा) के पास जाकर दस आज्ञाओं [Ten Commandments] को लाया था। यहूदियों ने भी अपने

नियमों के उपदेष्टा को मनु का ही नाम दिया जो कि उन की भाषा में 'मूसा' के रूप में प्रचलित हुआ। ग्रीक लोगों का नियम-प्रवर्तक माइनोस [Minos] कहाता है । ग्रीक इतिहास के अनुसार 'माइनोस' पूर्व की तरफ़ से क्रीट शहर में आ कर रहने लगा । उसकी विद्वत्ता से प्रभावित हो कर शहर के निवासियों ने उस से नियन्त्रण के नियम बना देने का अनुरोध किया । इस अनुरोध को देख कर उसने उन से कुछ मोहलत मांगी और यात्रा करता हुआ ईजिप्ट जा निकला । ईजिप्ट में जा कर उस ने उस देश के नियमों का खूब बारीकी से अध्ययन किया। ईजिप्ट से लौट कर वह एशिया, पर्शिया होता हुआ सिन्धु नदी के तटों पर भ्रमण करता रहा। इतने लम्बे चौड़े पर्यटन के अनन्तर वह फिर क्रीट को लौट कर चला गया जहां जा कर उसने देश के लिये नियमों की रचना की। उन नियमों को सारे ग्रीस ने स्वीकार कर लिया। इन घटनाओं को पढ़ते हुए विद्यार्थी के हृदय में तरह २ के भाव उठते हैं। ग्रीस का वह विद्वान् ईजिप्ट के शासकों से मिलता हुआ भारत में पहुंचा। हो न हो, अवश्य ईजिप्ट के धुरन्धर पण्डितों ने उसे अपने पाण्डित्य को पूर्ण करने के लिये विद्या की खान भारतवर्ष की तरफ़ संकेत किया होगा। इसी लिये तो वह महानुभाव एशिया को पार कर सिन्धु के किनारों की राख छानता रहा। जब सब देशों में भ्रमण कर देश को नियन्त्रण में रखने वाले नियमों का उस ने तुलनात्मक अध्ययन कर के उन्हें ग्रीस की प्रजा के सन्मुख रखा होगा तब उस प्रजा ने भी स्वाभाविक तौर से उसे मनु (Minos) की पदवी से विभूषित किया होगा।

इस प्रकार समझ आ जाता है कि हिन्दुओं का 'मनुः' ईजिप्शियनों का 'मेनीज़', ग्रीक लोगों का 'माइनोस' तथा यहूदियों का 'मोज़ेज़'—चारों के चारों एक ही मनु शब्द के अपभ्रंश हैं और उन २ देशों में व्यवस्था के नियम बनाने वाले भिन्न २ व्यक्तियों के लिये प्रयुक्त होते रहे हैं। 'मेनीज़' 'माइनोस'–और 'मोज़ेज़' ये नाम बचपन से ही नहीं रखे गये थे परन्तु जब वे २ व्यक्ति नियमों के निर्माता बने तब भारत वर्ष की प्रचलित प्रथा के अनुसार उन का नाम मनु या [Legislator] रखा गया।

जिस प्रकार 'मनु' का नाम भिन्न २ रूप धारण कर संसार की समुन्नत सभ्यताओं का शासन करता रहा है इसी प्रकार 'इन्द्र' देवता का विचार भी प्रायः सभी पुराने धर्मों में पाया जाता है। दूसरे धर्मों में इन्द्र का स्थान समझने के लिये हमें भारतीय देवमाला में इन्द्र का स्वरूप समझ लेना चाहिये । संस्कृत में इन्द्र के लिये 'द्यौः'-'दिवस्पितर'-'इन्द्र'-'वज्री' आदि शब्द पाये जाते हैं। पुराणों ने इन्द्र को स्वर्ग का अधिपति बतलाया है–वह स्वर्ग का राजा है, देवताओं में बहुत ऊंचे स्थान का अधिकारी है। इन्द्र के कब्ज़े में बहुत सी अप्सरायें भी हैं। साधु, सत्पुरुषों का व्रत-भङ्ग

करने के लिये इन्द्र उन का दुरुपयोग करता ही रहता है । द्युलोक में उस का निवास-स्थान है । वह बिजुली की कड़क में कभी २ अपने उग्र-रूप की झांकियां दिखलाया करता है ।

'द्यौः' की विसर्गों को यदि 'स्' कर दिया जाय तो 'द्यौः' शब्द का रूप 'द्यौस्' हो जाता है । 'द्यौस्' का अपभ्रंश 'द्युस्'–'दिउस्' होना कठिन नहीं है । 'दिउस्' बन कर ग्रीस में यही देवता 'ज़िउस' [Zeus] बन गया और पुजने लगा । ग्रीक-शब्द-शास्त्र के अनुसार [Zeus] शब्द की व्युत्पत्ति [Dios] से होती है अतः यह मानने में तनिक भी सन्देह नहीं रह जाता कि ग्रीक लोगों का सब से मुख्य देवता 'ज़ीयस' वैदिक 'द्यौस्' का ही अपभ्रंश है । ग्रीक लोगों को छोड़ दें, रोमन लोगों के यहां भी इन्द्र देवता की पूजा होती दिखाई देती है । रोम का मुख्य देवता 'जुपिटर' [jupiter] था । यह 'जुपिटर'-'द्युपितर'-'दिवस्पितर' नहीं तो और क्या है ? इन्द्र देवता ही 'ज़ीयस' नाम से ग्रीस में तथा 'जुपिटर' नाम से रोम में पूजा जाता था, इस में क्या अब कुछ भी सन्देह रह जाता है ? इन सब शब्दों की परस्पर समता विलक्षण है, उसे देख कर किसी भी ढंग से उसे आकस्मिक नहीं कहा जा सकता । इस के अतिरिक्त इन भिन्न २ देवताओं को सन्मान भी तो इन्द्र का सा ही दिया गया है ! इन सब से काम भी वही कराये गये हैं । रोम के प्रसिद्ध कवि ओविड ने जुपिटर को देवताओं में मुख्य दर्शाया है । सारी देव-मण्डली उसे अपना मूर्धन्य मानती है । जुपिटर बारम्बार बिजली की सी गर्जन करता है,—स्मरण रहे कि इन्द्र भी वज्री है–'वज्र' अर्थात् 'विद्युत्' के शस्त्र को धारण कर नभोमण्डल में हृदय को कंपा देने वाले घनघोरनाद को किया करता है । ओविड ने जुपिटर को आचार में भी शिथिल दिखाया है । जब हम स्मरण करते है कि इन्द्र के दरबार में भी अप्सराओं की भरमार रहा करती थी, वह दूसरों के आचारों को गिराने के लिये प्राणपन से प्रयत्न किया करता था और साथ ही स्वयं भी कई बार आचार भ्रष्टता के गढ़ों में गिरा करता था तब तो हमें इस बात में ज़रा भी सन्देह नहीं रहता कि हो न हो, यह जुपिटर पुराणों के इन्द्र देवता के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है ।

ग्रीकों का 'ज़ीयस' रोमनों का 'जुपिटर' हिन्दुओं के 'इन्द्र' देवता के ही दूसरे नाम हैं । इन के अतिरिक्त यहूदियों का जिहोवा 'Jehovah' भी 'द्यौः' का ही अपभ्रंश मालूम पड़ता है । जिस प्रकार 'द्यौः' का अपभ्रंश 'ज़ीयस' हो सकता है इसी प्रकार 'जिहोवा' भी हो सकता है– शब्द समानता तो इस कल्पना में समर्थक है ही परन्तु जिहोवा का वर्णन भी उसे हिन्दुओं के द्यौः' [इन्द्र] का ही अपभ्रंश सिद्ध करता है । यहूदियों के पुराणे अहदनामे [Old Testament] में जिहोवा का वर्णन बादल, आग और बिजली के रूप में पाया जाता है । पुराणा—अहदनामा इस विषय में तो कम से कम बड़ी परिपुष्ट सम्मति देता है कि जिहोवा कोई भी हो–वह 'वैदिक-देवता' तो अवश्य था । बाइबल की [Exodus]

पुस्तक के तीसरे अध्याय की चौथी आयत में जिहोवा मूसा को सम्बोधन कर के कहता है कि मेरा नाम–'I Am That I Am' या 'I Am' है। इस के लिये जिन शब्दों का प्रयोग है वे ध्यान देने योग्य हैं। वे शब्द हैं–Ehyeh ashar ehyeh, अयः अशर अयः। पारसियों की ज़िन्दावस्था में परमात्मा अपने बीस नाम गिनाता हुआ प्रथम नाम 'अह्मि' गिना कर आगे चल कर 'अह्मि यद् अह्मि' यह नाम गिनाता है। पारसी साहित्य से परिचिति रखने वाले पाठकों को विदित होगा कि संस्कृत का 'स'–ज़िन्द भाषा में जा कर 'ह' बन जाता है। इस प्रकार 'अह्मि यद् अह्मि' का रूप–'अस्मि यद् अस्मि'–यह बनता है। यह नाम ही यहूदियों के यहां उस रूप में पाया जाता है जिस का हमने ऊपर उल्लेख किया परन्तु प्रारम्भ में यह यजुर्वेद से लिया गया ! यजुर्वेद के २ रे अध्याय का २८ वां मंत्र है. "इदमहं य एवास्मि सोऽस्मि"। क्या यह वेदमन्त्र और पारसियों का 'अह्मि यदह्मि' एक ही नहीं है ? यदि एक ही है तो मानना पड़ता है कि पारसियों तथा यहूदियों ने इसी मंत्र के आधार पर अपने देवता का नाम 'अह्मि यदह्मि'—I Am That I Am रखा। कम से कम इस में सन्देह नहीं रह जाता कि यहूदियों का 'जिहोवा' कोई न कोई वैदिक देवता था। जो कुछ हम ऊपर लिख आये हैं उसके आधार पर हम यह कहने का साहस करते हैं कि वह देवता इन्द्र ही था। इन्द्र ही का 'द्यौः' नाम ग्रीकों के यहां 'ज़ीयस' पड़ा, इन्द्र ही का 'दिवस्पितर' नाम रोमनों के यहां 'जुपिटर' पड़ा और इन्द्र का 'द्यौः' नाम ही यहूदियों में जा कर 'जिहोवा' पड़ गया।

सभ्यता और शिक्षणालय

[भूमिका]

(ले० पं० भीमसेन जी विद्यालंकार)

'अलंकार' के पिछले अंकों में हम ने सभ्यताओं की परख विषय पर कुछ विचार प्रकट किये थे। उन लेखों में यह बताया गया था कि सभ्यता का उच्च से उच्च आदर्श क्या है ? उस लेखमाला में यह स्पष्ट किया गया था कि उच्च सभ्यता का निर्णायक सिद्धान्त यही है कि मनुष्य दूसरे मनुष्य को अपना समझे। किसी दूसरे मनुष्य को घृणित न समझे। कौटिल्य अर्थ शास्त्र या भारतीय साहित्य की परिभाषा में 'आर्य' व 'सभ्य' आदमी वह है जो दूसरे को अपने समान समझे। 'आर्यः यः स्वमिव परं पश्यति'।

इस लेख माला में हम यह दिखाएंगे कि सभ्यताओं का विकास किस

प्रकार होता है । सभ्यताओं का विकास दो संस्थाओं से होता है । प्रथम जाति या राष्ट्र के 'परिवारगृह' । दूसरा जाति या राष्ट्र की 'पाठशालाएं' । कई विद्वान् विचारकों की दृष्टि में, किसी भी सभ्यता के स्वरूप को समझने के लिए उस जाति के 'साहित्य' का अनुशीलन करना ही एक मात्र उपाय है । निस्सन्देह किसी अंश तक जातियों तथा राष्ट्रों के साहित्य उस जाति की सभ्यता के प्रतिबिम्ब होते हैं; परन्तु यह चित्र, यह वर्णन लेखकों तथा कवियों के काल्पनिक विचारों से रंगे हुए होते हैं । इन पर पूरा भरोसा नहीं किया जा सकता । किसी भी सभ्यता की असली स्पिरिट तथा भावना को समझने के लिए हमें उस जाति के शिक्षणालयों तथा गृहपरिवारों के इतिहास का अनुशीलन करना चाहिए ।

'शिक्षणालय' और 'परिवारगृह' ही किसी राष्ट्र के विकास के अंकुर होते हैं । इन दो भिन्न २ संस्थाओं के कारण ही भिन्न २ देशों की सभ्यताएं भिन्न २ रूप में प्रकट होती हैं । शीत प्रधान देशों में 'परिवार गृहों' का निर्माण तथा संगठन जिस ढंग से या जिन अवस्थाओं में होगा, उष्ण प्रधान देशों मे यह विकास सर्वथा दूसरे ढंग से होगा । कई देशों में 'शिक्षणालयों' का निर्माण जंगलों में, नदियों के किनारे पर होगा, और कई देशों में महाद्वीपों और घाटियों से घिरे हुए स्थानों में 'परिवार गृह' और 'शिक्षणालय' स्थापित होंगे । इन भेदों के कारण कई देशों के रहने वाले, परिश्रमी और समुद्र यात्रा प्रेमी होंगे और कई जगह के लोग नैपाल वालों की तरह कठिन परिश्रमी होंगे । इन अवस्थाओं के कारण उन के मन और आत्मा का विकास भी भिन्न २ रूप में होगा । इस समय पाश्चात्य सभ्यता, पूर्वीय सभ्यता, प्राकृतिक सभ्यता और आध्यात्मिक सभ्यताओं के नाम से ही सभ्यताओं में भेद किया जाता है । इतना ही नहीं, कई विचारक अपनी २ भावना के अनुसार किसी एक सभ्यता को सब से उत्कृष्ट सिद्ध करने का यत्न करते हैं । इस समय हमारे देश में, विशेषतः आर्य समाज में, यह लहर चल गई है कि लोग पाश्चात्यसभ्यता और प्राकृतिक सभ्यता को समानार्थक समझते हैं और पाश्चात्य सभ्यता को प्राकृतिक सभ्यता का नाम देकर निन्दित बताते हैं । हमने जहां तक थोड़ा बहुत अध्ययन किया है हम इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि आजकल जिस सभ्यता को पाश्चात्य सभ्यता के नाम से याद किया जाता है वह किसी न किसी रूप में भारत

की सभ्यता भी रह चुकी है। महाभारत और अशोक तथा समुद्र-गुप्त और हर्ष के समय की सभ्यताओं का जो इतिहास मिलता है उस से पता लगता है कि यहां भी लोग प्राकृतिक सभ्यता के वैभव तथा ऐश्वर्य का उपयोग करते थे। भेद ज़रूर था परन्तु वह भेद स्वाभाविक तथा अनिवार्य था। हमारी राय में यदि हम वास्तव में संसार की सभ्यताओं का अध्ययन या अनुशीलन करना चाहते हैं तो हमें चाहिये कि हम भिन्न २ देशों के 'शिक्षणालयों' तथा 'परिवारगृहों' का अध्ययन करें। हमारा विचार है कि हम इसी दृष्टि से इस लेख-माला में संसार की सभ्यताओं का अध्ययन करें और पाठकों के सामने यह बात रखें कि यदि हम संसार में उच्च से उच्च सभ्यता स्थापित करना चाहते हैं, संसार में शान्तिप्रधान तथा सर्वतोमुखी सभ्यता की स्थापना करना चाहते हैं तो हमें चाहिए कि अपने २ देश की शिक्षा प्रणाली और परिवार गृह-संस्थाओं को देश की प्राकृतिक तथा आत्मिक अवस्थाओं के अनुकूल बनाएं* दूसरे देशों की सभ्यताओं की व्यर्थ में निन्दा न करें और नाही उनकी चमक दमक से चका चौंध होकर उनका अनुकरण करें। इस लेख माला में क्रमशः ग्रीस, रोम, मिश्र, असीरिया बैबिलोनिया, चीन, परशिया तथा भारतवर्ष की सभ्यताओं का इसी दृष्टि से विवेचन करेंगे। इस विवेचन में तुलनात्मक दृष्टि से इन देशों की वर्तमान सभ्यता का उनकी प्राचीन सभ्यता से निरीक्षण होगा। सब से प्रथम हम अपने देश से ही इस का श्रीगणेश करेंगे क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से भारतवर्ष की सभ्यता अन्य सब देशों से पुरानी है। यह ठीक है कि अभी तक पाश्चात्य ऐतिहासिक इस स्थापना को एक दम मानने को तय्यार नहीं है परन्तु यह भी निर्विवाद बात है कि वह आज तक इस स्थापना का खण्डन नहीं कर सके। इस बात पर सब सहमत हैं कि संसार के साहित्य में ऋग्वेद सब से पुराना ग्रन्थ है। इस लिए हम इस ऐतिहासिक परम्परा के अनुसार ही इस विषय में प्रवृत्त होंगे।

* ऋषि दयानन्द इस युग में भारतीय सभ्यता के समर्थकों में शिरोमणि थे। परन्तु यह बात भी सब को मालूम है कि उन्होंने भारतीय सभ्यता की पुनः स्थापना या मण्डन करने के लिए पाश्चात्य सभ्यता या युरोपियन सभ्यता का खण्डन करने में अपना समय नहीं लगाया। उन्होंने कहीं यह नहीं लिखा कि युरोपियन सभ्यता राक्षसों की सभ्यता है, युरोपियन सभ्यता में बुराइयां हैं उन्हें दूर करना चाहिए। ऋषि दयानन्द ने अपने व्याख्यानों में भारतीय सभ्यता को परिष्कृत करने पर बल दिया था उन्होंने पाश्चात्य सभ्यता या युरोपियन सभ्यता पर [Impeachment] दोषारोप नहीं किया।

गम्भीरता !

(श्री पं० सत्यकाम जी विद्यालंकार)

इस विशाल-तम व्योम राशि पर
चढ़ी हुई है एक थकान,
अपने भार आप ही दब कर
हिमगिरि खड़ा उदास महान।
आँधी उठी, उठी,–थम चली
चढ़ी तरङ्गें, उतर चलीं,
फिर से वही थकावट जग के
अङ्ग अङ्ग में आन भरी॥

* * *

मैं तटस्थ था–दिल में मेरे
जोश उमङ्गें लेता था,
श्रोतृवृन्द ! कह डालूं जो कुछ
तब मैं सुपने लेता था।
चण्ड बवण्डर उमड़ा आवे
मैं निश्चल ही खड़ा रहूं,
प्रबल वेग से उठें तरंगें
उन्हें चीरता बढ़ा चलूं॥

* * *

वह समक्ष था लक्ष्य दीखता
बहुत कठिन, पर क्या परवाह,
वहाँ पहुंच कर उथल पुथल कर
दूं, इस जग में थी यह चाह।
यही जोश ले आया था मैं
यहाँ और ही कुछ पाया,
वही थकावट का रँग सब पर
था वह मुझ पर भी छाया॥

तब से थका पड़ा था सहसा
गुप्त ज्ञान इक जान लिया,
गई थकावट सारी मेरी
जब से उस पर ध्यान दिया।
यहाँ जोश का काम नहीं है
ठण्डे हो कर चलना है,
उछल कूद का नाम नहीं है
पग पर पग धर बढ़ना है॥

* * *

जान हथेली पर रख कर क्या
नाज़ आप पर करना है,
जीना–मरना तुच्छ बात है
फिर फिर, जीना–मरना है।
देश-धर्म पर मरने वालो
हँस हँस कर मरना सीखो,
शौर्य दिखाना हो तो भाई
रो रो कर जीना सीखो॥

* * *

एक घड़ी भर दुःख भोग कर
मरना भी क्या मरना है,
जीवन भर की कठिन यातना
कठिन असल में सहना है।
थक कर दम ले, दम ले कर चल
गिर कर उठ जा, उठ कर फिर चल,
मर कर जीना, जी कर मरना
चक्र चला है यही–अचल॥

राष्ट्रीय एकता के होने में आजकल के कुछेक विघ्न

(ले० पं० आत्मानन्द जी विद्यालंकार)

हिन्दू मेलों को धैर्य से तटस्थ होकर देखने वाले भली भांति जानते हैं कि उन में मनुष्यों की चित्तमणियों के गूथन करने द्वारा कोई लक्ष्य-सूत्र नहीं होता। मेले में घूम रहे किसी से पूछा जाय-'भाई! यह कौन मेला है'? उत्तर मिलेगा—'बैशाखी का या बसन्त का या दसहरे का' इत्यादि। 'कर क्या रहे हो'? 'अजी सब घूम रहे हैं हम भी घूम रहे हैं'। ऐसे ही हमारे देश में स्वराज्य रूपी दूर तम लक्ष्य को बार बार पुकारते हुए भी इस की सिद्धि के उपायों में हमारी एक मति और एक यत्न सर्वथा नहीं। आकाश में बिखरे तारों की न्यांई हम भटक रहे हैं और हमारे शत्रु हंसते हैं।

मूलाचूल-एकता तो भगवान् ही जानें कब होगी। पर मूर्धन्य ऐक्य की सिद्धि तो सभी 'सर्वात्मना' चाहते हैं, चाहे वे हिन्दू हों या मुसल्मान, पारसी हों सिक्ख हों ईसाई हों, नेता हो या जनता, सरकारी देसी लोग हों या ग़ैर सरकारी देसी लोग। स्वराज वादी, लिबरल, मुसलिमलीगर, खिलाफतिये, राजे, महाराजे, आर्यसमाजी, सनातनी, जमींदार, कृषक, कोठीदार, श्रमी, पंडित मौलवी, ये सभीजब जब अपने को रोग, दरिद्रता, दासता की बेड़ियों में जकड़ा हुआ देखते हैं कह उठतेहैं- "ओह! अभागा देश स्वतन्त्र नहीं इसी लिए ये क्लेश हैं, अपना राज हो तो देखो हम कैसे फलें फूलें"। पर प्रश्न होगा कि इष्ट सिद्धि में विघ्न कौन २ से हैं:—

१. देश का अतिविस्तार
२. सम्प्रदाय, भाषा, स्वभाव, दशा का अति वैविध्य
३. पिछली सात सदियों में देश की आंधी की सी हालत
४. सरकार का भाग्य और गूढ़ नीति
५. हमारा दौर्भाग्य और मूढनीति

ये तो सामान्य हैं, व्यापी हैं। दासता की सदियां इन्हीं में ओत—प्रोत पड़ी हैं पर हमें तो वर्तमान और विशेष विघ्न ढूंढने हैं। वे ये हैं:—

६. मुसल्मानों का अतर्पणीय स्वार्थ और नीच भाव
७. लिबरलों के दिमागों और शरीरों पर बुढ़ापा
८. गांधी जी का हठ और मुसल्मानों से मोह
९. नेताओं का अहङ्कार और लघुचित्तता
१०. श्री निवास शास्त्री का असाहस, और लाला जी की निर्बलता
११. समूची हिन्दू जाति की अकर्मण्यता और तेजोहीनता

पहले १, २,३, तो याप्य रोगों की न्याईं हैं, हम स्थूल बुद्धि पुरुषों को साध्य नहीं दीखते। अगले ४,५, शनैः २ दूर होंगे।

छटा तो बड़ा व्याकुल करता है। बिगड़े लड़कों की नाईं जितना इन से अच्छा वर्तो उतना ही एकता की जड़ पर ये अपने स्वार्थ का पैना कुठार रख देते हैं। खिलाफत तो पहले ही लंगड़ी थी। गांधी जी ने मुसल्मानों को मोहित करने के लिये बनावटी जोश की जांघ लगादी, आखिर वह भी टूट गई। विशेष साम्प्रदायिक स्वत्व इन्हें चाहियें थे, लखनऊ के कांग्रेस-लीग-समझौते से वे भी इन्हें मिले। अब नौकरियों में भी ये विशेष पद चाहते हैं, वे भी शनैः शनैः इन्हें मिलते जाते हैं। इस प्रकार आगे आगे उज्र, अड़ङ्गे, शरारतें बढ़ती जावेंगी। मि० मुहम्मद अली को राष्ट्रपति के पद से यह कहते तनिक लज्जा न आई कि अछूतों को धर्म परिवर्तन के लिये बांट लो। गान्धी जी भी कह देते हैं, हिन्दू तो बड़े भाई हैं। उन्हें भौतिक दान मुसल्मानों को बहुत भी देना पड़े तो कोई बात नहीं। क्योंकि मुसल्मानों ने एकता और जातीय उद्योग में स्वार्थ के लिये कोई न कोई विघ्न तो डालना ही है।

सातवां विघ्न यह है कि लिबरलों की बुद्धि और शरीर जीर्ण शीर्ण हैं।

यह सत्य है कि इन्होंने प्रारम्भ से बहुत काल तक घनी देश-सेवा की है। दादा भाई नौरोजी, फिरोज शाह मेहता, व्योमेशचन्द्र बन्द्योपाध्याय, गोखले, अम्बिका चरण, आनन्द चार्लू, अयोध्या नाथ, गङ्गाप्रसाद, मुरलीधर आदि परलोकवासी और सुरेन्द्र, वाचा, पाल, शास्त्री, चिन्तामणि, श्री बेसेन्ट आदि इहलोकवासी मान्य मूर्तियों ने इस देश पर अनेकानेक उपकार किये हैं, भगवान् इनका, इनके बच्चे, पोतों का भी भला करे। पर इनकी बुद्धि में यौवन नहीं, शरीर में बल नहीं। समझते हैं, काफ़ी मिल गया। घोर कठोर उपाय, भूल कर भी नहीं वर्तने देते। दूसरी ओर जाति ऐसी सरपट दौड़ना चाहती है कि इन बूढ़ों के सिर दर्द हो जाता है।

आठवां विघ्न है गान्धी जी का हठ और मुसल्मानों से मोह।

निस्सन्देह गान्धी मनुष्यों में देव हैं। गृही होता हुआ भी ब्रह्मचारी है। महामना है, दूरदर्शी है, दयासागर है, सत्य का प्रतिपालक है, पर हठी और मुसलमानों का मोही भी है। ९० सत्त्वांश में १० तामसांश जोड़ दो, परिणाम गान्धी जी होगा। धृतराष्ट्र का दुर्योधन शारीर—पुत्र था। मुसल्मानों में धर्मान्ध-जागरण गान्धी जी का मानस—पुत्र है। इस जागरण के साथ गान्धी जी का वैसा मोह रहा है जैसा धृ०......का दुर्०......के साथ। मालाबार की दारुण घटनाओं पर गान्धी जी ने अपने मोहवश पर्दा डालना चाहा। मुसल्मान डा० महमूद तक के कथन का तोड़ मरोड़ कर उलटा अर्थ करना चाहा पर उसने भी सत्य की इतनी हत्या को ठीक न ठहराया और गान्धी जी ने बात टाल दी। (अब हमें सूझा कि गान्धी जी यौगिक अर्थों में भी धृत—राष्ट्र हैं और मुसल्मानी जोश दुर्—योधन और दुश्—शासन)। गान्धी जी इस मानस—पुत्र को पिछले ६ वर्षों में वश में नहीं कर सके और उस जोश ने जो घोर उद्दण्ड ताण्डव इस भारत रङ्ग-भूमि पर दिखाये वे

किसी विज्ञ से छिपे नहीं, हैं। दोनों दोषी हैं, हिन्दू भी और मुसलमान भी। न्याय कर्ता को तारतम्य और पहिल किस ने की यह बताना होता है न कि पोथा पाथो को फ़िक्र करना। महात्मा जी ने जेल से निकलने के बाद देश को नहीं देखा था। उन के मानस—पुत्रों ने कान भरे कि आर्य समाजियों ने स्वराज्य नौका में विद्रोह छिद्र कर दिया, गान्धी जी ने मोहवश मान लिया। इन मानस् पुत्रों ने विश्वास दिलाया, आर्य समाजो भी मुसलमानों की तरह वैदिक धर्मी बनाने के लिये स्त्रियों को भगा ले जाते हैं। गान्धी जी ने लिख दिया- "ऐसा कहा जाता है"। पूछा गया "प्रमाण दीजिये" तो उत्तर मिलता है "मुझ से जो कहा गया मैंने लिख दिया, तुम सिद्ध करो कि तुम पर यह लाञ्छन युक्त नहीं।" अरे देवता ! संसार आप की Statement की तरफ़ टिकटिकी लगाये बाट जोह रहा है और समझ रहा है कि इसमें सप्रमाण सत्य उक्तियां भरी होंगी। ऐसे गम्भीर वक्तव्य में आर्यों पर लाञ्छन अप्रमाण लगाना तर्क शास्त्र और धर्म शास्त्र को मोह के अन्ध कूप में धकेल देना है। कम से कम सत्य के परम पालक को यह शोभा न देता था। यह तो हुआ मोह। अब हठ भी सुनिये। जिस महामति राष्ट्र सूत्रधार ने भूचाल की तरह देश को हिला दिया; दया, अहिंसा, सत्य, का प्रचार किया; अंग्रेज़ा जाति के शूर को अपने असहयोग कुसुम से ही कुण्ठित कर दिया; योरुप अमरिका के अभिमानी मुनियों के मस्तिष्कों में खुजली पैदा कर दी; उसी ने चौरी चौरा, बर्दोली, राउण्ड टेबल कान्फ़रेन्स, मालाबार, कातने के आधार पर मत का अधिकार आदि विषयों पर देश को सहसा उन्मार्ग किया इस बात को देश और गान्धी जी के बहुत से मित्र और शत्रु दोनों ही मानते है। कोई पूछे विवेचन करो। उत्तर है—९० सत्वांश में १० अंश तामस [मोह, हठ] भी सम्मिलित है न !

राष्ट्र नेतृत्व जब महाबलियों के हाथ में आ जाता है तो वे चाहें देश को हिमाचल के उत्तुङ्ग शिखर पर ले जावें और वहां पहुँच कर अनुयायियों से कहें कि तुममें से दो चार ने रास्ते में पांच दस कौवों को मार डाला था अतः तुम में हिंसा का भाव है। मेरा तुम से किनारा है। स्वयं मार्ग ढूंढ़ो और उतर जाओ। ठीक है, हमें राजनीति नहीं आती थी। इसी लिये इस सुन्दर गान्धी-हंस के पंखों में हमने डोरी बांध उस में पत्थर नहीं बांधे जिस से हम धीरे से शनैः २ नीचे तो उतर जाते। हमारा विषाद महात्मा जी के राजनीतिक ढंग से है। उन के दूसरे अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग जीवन से तो जातिको घना घना उपकार पहुँचा है, उसके लिये जाति उन की भूरि भूरि कृतज्ञ है।

अगला विघ्न इन नेताओं की अनुदात्त वृत्ति है। महात्मा उदात्त हैं, इतने काला पेक्षी नहीं। दास-नेहरू कालापेक्षी हैं, ऐसे उदात्त नहीं। मिल के चलें, बहुत कुछ बने, लोग मानें, सरकार कांपे—पर दौर्भाग्य हमारा है। गांधी जी विमान पर सवार हैं; दास-नेहरू मोटर पर; शास्त्री जी बैल गाड़ी में; लाला जी तटस्थ खड़े हैं; मालवीय जी

पुराने पण्डितों और काशीविश्वविद्यालयों में उलझे पड़े हैं; एनीबेसेन्ट अपना नया पन्थ चलाये फिरती हैं। जो ये सब एकमति, एकयत्न हो जांय तो किसकी मजाल चूं भी करे।

दूसरा विघ्न, श्री निवास शास्त्री और लाला जी की शिथिलता है। ये दोनों पक्षों में धीर हैं, गम्भीर हैं, देश को समझते हैं, जनता को इनकी बुद्धिमत्ता पर श्रद्धा है, देशदेशान्तरों में उन का नाम और काम प्रसिद्ध है, दिमाग इनका ठण्डा है पर दोनों आजकल जल्दी जल्दी विचार बदल लेते हैं। यदि ये आपस में, बैठ कर, विचार विनिमय करें तो दोनों का लेखा लगभग बराबर ही ठहरे। जो नीति ये खोजें उस पर यदि देश चले तो अगला कदम हम सफलता से उठा सकेंगे ऐसी हमारी श्रद्धा है।

अन्तिम पर अति दुःख का कारण हम हिन्दुओं की तेजो हीनता, मतिनामात्व और अकर्मण्यता है। मुसलमान लोग कुरान और मुहम्मद पर एक हैं; सिक्ख, गुरुओं और ग्रन्थ साहब पर; ईसाई बाइबिल और ईसा पर। पर हम किसी बात पर एक नहीं होते। थोड़े से जैनियों को छोड़ कर परमात्मा और वेद के नाम पर एक हो सकते हैं पर होवें न! यही महारोग है। हम हिन्दुओं में चार दल अब भी कुछ जीवित हैं। मराठे, सिक्ख, राजपूत, आर्य समाजी। मराठों को दूसरों पर श्रद्धा नहीं और दिल्ली से बहुत परे हैं। राजपूतों का खून ठण्डा हो चुका है। सिक्खों में बल है पर बुद्धि की कमी है। आर्यसमाजी अभिमानी और अविशाल हृदय होते जाते हैं। हिन्दुओं के ये चार दल भी मिल जाँय तो मुसलमान कांपे और सरकार का दिल दहले।

पर ऐसा हो न, तब। नहीं तो भगवान ही सुमति दे। ऐ आर्य जाति जाग, सिर उठा, वीर प्रसविनी भूयाः! नहीं तो दासता में दो एक सदियां और बीत जावेंगी!

जन-तन्त्र शासन-प्रणाली

(लेखक— प्रो० सत्यकेतु जी विद्यालंकार)

(१)

प्रारम्भिक विचार

अब से लगभग १॥ सदी पूर्व जन तन्त्र शासन-प्रणाली कहीं भी नहीं थी। फ्रांस, रूस, जर्मनी, इङ्गलैण्ड आदि यूरोपीय और भारत, चीन, जापान टर्की आदि एशियाई देशों में एक सत्तात्मक राजा ही शासन कर रहे थे। उस समय इङ्गलैण्ड में स्टुआर्ट राजा, फ्रांस में लुई, रूस में जार और भारत में मुसलमान व सिक्ख एक-शासकों का ही शासन था।

इसी प्रकार अन्य राष्ट्रों में भी भिन्न भिन्न सम्राटों के एकच्छत्र शासन विद्यमान थे। जनतन्त्र शासन प्रणाली का कहीं नाम भी न था। इन एक-शासकों के शासन का मूल सिद्धान्त यही था, कि हम ईश्वर के प्रतिनिधि हैं, हम में ईश्वरीय शक्ति है। जिस प्रकार इस ब्रह्माण्ड पर एक ईश्वर का अबाध शासन न्याय्य और आवश्यक है, उसी प्रकार एक देश पर उस के राजा का। 'जनता के अधिकार' 'वैयक्तिक स्वतन्त्रता' आदि शब्दों का उस समय कहीं पता भी न था।

अर्वाचीन काल में जनता के अधिकारों के लिए संघर्षण का प्रारम्भ सब से पहले इङ्गलैण्ड में होता है। जेम्स, चार्लस द्वितीय आदि के समय के झगड़ों और क्रान्तियों के साथ जनता अपने अधिकारों और स्वतन्त्रता के लिये युद्ध प्रारम्भ करती है। यद्यपि इङ्गलैण्ड ने जनतन्त्र शासन प्रणाली की ओर पहला कदम उठाया, पर उस की गति बहुत ही मन्द रही। १९ वीं सदी के प्रारम्भ में भी इङ्गलैण्ड जन तन्त्र नहीं था। इसके पश्चात् भी बहुत काल तक इङ्गलैण्ड में जन तन्त्र प्रणाली का पूरी तरह विकास नहीं होता। यह कथन भी सर्वथा निर्विवाद नहीं है, कि आज भी इङ्गलैण्ड पूर्ण रूप से जनतन्त्र राज्य होगया है। अभी इङ्गलैण्ड को पूर्ण रूप से जन तन्त्र होने के लिये अनेक दशाओं में से गुजरना आवश्यक होगा।

सन् १७७७ में अमेरिका में राज्य क्रान्ति हुई। अब से अर्वाचीन काल में जन तन्त्र शासन प्रणाली का उदय होता है। अमेरिकन राज्यक्रान्ति के उद्घोषणा पत्र में जिन सिद्धान्तों और विचारों को उद्घोषित किया गया था वे अब भी जन तन्त्र शासन प्रणाली के आधार समझे जा सकते हैं। सन् १७८९ में फ्रांस में राज्य क्रान्ति हुई। समानता, स्वतन्त्रता और भ्रातृभाव-ये सिद्धान्त इस क्रान्ति में डङ्के की चोट के साथ सुनाये गये। फ्रांस ने पुराणे आचार, विचार-सब को जड़ से उखाड़ दिया और नवीन युग का प्रारम्भ किया। नये सिद्धान्तों का प्रभाव फ्रांस तक ही सीमित नहीं रहा। जिस प्रकार तालाब में पत्थर फेंकने से लहरें चारों ओर दूर दूर तक फैल जाती हैं, उसी प्रकार फ्रांस से इन सिद्धान्तों की लहरें सारे योरोप में फैल गईं, अन्य राष्ट्रों की जनता में भी उत्साह का संचार हुवा और उन्होंने भी क्रान्तियां कीं। १९ वीं सदी के यूरोप के इतिहास में यह प्रक्रिया स्पष्ट रूप से दिखाई देती है कि जब जब फ्रांस में क्रान्ति होती है, उसके प्रभाव से अन्य देशों में भी जातियां स्वतन्त्रता और अपने अधिकारों के लिए उद्योग करती हैं। इसी प्रक्रिया से अनेक राष्ट्रों में एक शासन का अन्त हुवा और जन तन्त्र शासन प्रणाली का प्रारम्भ हुवा। धीरे धीरे सारे यूरोप में सम्राटों की गद्दियां हिल गईं। जनता का अधिकार होगया। अनेक प्राचीन राज वंशों का मूलोच्छेद होगया। जिन सम्राटों ने जनता को सम्पूर्ण अधिकार देना स्वीकृत कर

लिया-केवल नाम मात्र रह कर जिन्हों ने अपनी सत्ता बचानी चाही,वे ही आज शेष हैं। न केवल यूरोप में पर अन्य महाद्वीपों में भी अनेक प्राचीन राजवंश आज भूत के विषय होगये हैं। एशिया और अफ्रिका में भी आज जनता के अधिकारों और स्वतन्त्रता की दुन्दुभि बज रही है। जिस जन तन्त्र शासन प्रणाली की लहर ने संसार के नकशे में, और इतिहास के रंग मञ्च पर इतना परिवर्तन लादिया, वह क्या है ? इस विषय पर हमने विचार करना है। इस लेख में हमने ऐतिहासिक और विचारात्मक दृष्टि से यह सोचना है कि जन तन्त्र शासन प्रणाली क्या है और वह कहां तक सफल हुई है।

तीन तरह की शासन प्रणालियां हो सकती हैं— एकतंत्र, श्रेणितन्त्र, और जन तन्त्र। एक तन्त्र शासन प्रणाली वह है, जिस में कि राष्ट्र की शासन शक्ति किसी एक व्यक्ति में निहित हो। श्रेणितंत्र शासन प्रणाली वह है, जिस में कि राष्ट्र की शासन शक्ति किसी श्रेणि में निहित हो। और जन तन्त्र शासन प्रणाली वह है जिस में कि राष्ट्र की शासन शक्ति किसी एक व्यक्ति या एक श्रेणि में निहित न हो, परन्तु सम्पूर्ण जनता में ही निहित हो। जिस शासन प्रणाली में शासन जनता के आधीन हो, जनता स्वयं या अपने प्रतिनिधियों द्वारा नियम निर्माण करती हो, उसे जन तन्त्र शासन प्रणाली कहते हैं। अभिप्राय यह है कि प्रभुता (सौवरैनिटी) यदि जनता में निहित हो तो वह शासन जन तन्त्र शासन कहलावेगा। रिपब्लिक या गण-प्रणाली और जन-तन्त्र में भेद करना चाहिए। हो सकता है, कि किसी राष्ट्र में राज्य का सारा कार्य एक व्यक्ति के नाम पर किया जाता हो, पर राज्य करने वाली जनता ही हो; ऐसे राज्य को जन तंत्र तो कहा जायगा, पर रिपब्लिक या गण नहीं। इसी प्रकार होसकता है, कि कोई राष्ट्र राजा रहित हो, उस में कोई ऐसा व्यक्ति न हो, जिस के नाम पर कि राज्य के सब कार्य किये जाते हों पर उस में प्रभुता जनता में निहित न हो। ऐसा राष्ट्र रिपब्लिक या गण तो कहायेगा, पर जन तन्त्र नहीं। सार यह है कि जिस राष्ट्र के शासन में जितना भी जनता का हाथ हो, वह राष्ट्र उतना हो जन तंत्र है।

अर्वाचीन काल में जिस समय जन तंत्र शासन प्रणाली का प्रारम्भ हुवा, उस समय इसके अभिभावकों ने जन तन्त्र के विषय में अनेक प्रकार की कल्पनायें की थीं। सम्राटों के एक शासन से तङ्ग आये हुवे जनता के नेताओं ने जन तन्त्र को बड़ी आशा और उत्कण्ठा के साथ देखा था। उस समय के लोगों की जन तन्त्र विषयक कल्पनाओं को लार्ड ब्राईस ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'मोडर्न डिमोक्रसीज़' में इस प्रकार वर्णित किया है—"जनतन्त्र शासन प्रणाली में प्रत्येक नागरिक सार्वजनिक व राष्ट्रीय कार्यों में निरन्तर ध्यान देता रहेगा। वह यह समझेगा, कि यह मेरा कर्तव्य है और इस में मेरा

हित भी है। वह नीति विषयक मुख्य बातों पर पूरा ध्यान देने का यत्न करेगा और यह करते हुवे अपने वैयक्तिक हित को अपेक्षा सार्वजनिक हित को अधिक दृष्टि में रखेगा तथा स्वतन्त्र और निष्पक्षपात रहेगा। जनतन्त्र शासन प्रणाली में प्रत्येक नागरिक अपने सम्मति देने के अधिकार का सदा उपयोग करेगा और किसी व्यक्ति को तभी सम्मति देगा, जब कि वह उस की योग्यता और ईमानदारी से सन्तुष्ट हो जायगा। यदि उसे नियामक सभा आदि में चुना जाय तो इसके लिये अपनी योग्यता की जांच कर अवश्य तैयार हो जायगा क्योंकि सार्वजनिक सेवा प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। नियामक सभायें ऐसे ही सुयोग्य, शुद्ध हृदय और जन सेवा के लिये उद्यत तथा उत्सुक लोगों से बनी होंगी। रिश्वत, घूसखोरी आदि का नाम भी न होगा। चाहे सब नेता एक मन के न हों, चाहे सभायें सदा बुद्धिमान् न हों, चाहे शासक सदा निपुण न हों, पर सब उत्साही और ईमानदार अवश्य होंगे। विश्वास और सदिच्छा का वातावरण अवश्य होना चाहिये। झगड़े उत्पन्न करने वाली बहुत सी बातें होंगी ही नहीं, क्योंकि किसी को विशेष अधिकार प्राप्त न होंगे, जिस से कि स्पर्धा उत्पन्न हो। पद इसी लिये होंगे, कि सार्वजनिक सेवा का उत्तम अवसर मिल सके। सब की शक्ति और अधिकार बराबर होंगे, कानून के सामने सब एक समान होंगे"

जनतन्त्र शासन प्रणाली का निस्सन्देह यही आदर्श है। यदि कभी जनतन्त्र शासन प्रणाली पूर्णावस्था को प्राप्त होगी, तो उस में प्रत्येक नागरिक वस्तुतः ही ऐसा होगा। जनतन्त्र शासन की यह कल्पना कितनी गम्भीर उपयोगी और आदर्श है, यह दिखाने की यहां आवश्यकता नहीं। यह राजनीति शास्त्र के अत्यन्त गम्भीर सिद्धान्तों पर स्थित है। शुक्राचार्य के शब्दों में 'अप्रेरित हितकरं सर्वराष्ट्रं भवेत् यथा' का उच्च आदर्श केवल इसी अवस्था में पूरा हो सकता है। समानता, स्वाधीनता और भ्रातृभाव–इन सिद्धान्तों के बल से एक शासनों को गद्दियां दिलाई गई थीं, इन्हीं को पूर्णरूप से क्रियारूप में परिणत करना जनतन्त्र शासन प्रणाली का उद्देश्य होना चाहिये। अर्वाचीन काल में जनतन्त्र शासन को प्रारम्भ हुवे एक सदी से अधिक समय गुजर गया, पर यह उद्देश्य पूरी तरह से पूरा नहीं हुवा।

मनुष्य स्वयं अपूर्ण है। अतः यदि उसके कार्यों में अपूर्णता हो तो इस में आश्चर्य ही क्या है? हम किसी चीज की उत्तमता तुलनात्मक दृष्टि से ही निश्चित कर सकते हैं। पूर्ण व आदर्श अवस्था ही उत्तम हो, यह बात नहीं। उत्तम वही है, जो तुलनात्मक दृष्टि से अधिक अच्छो है। इसी कसौटी पर हम देखेंगे कि ऊपर बताये हुवे तीन शासन प्रकारों में जनतन्त्र शासन का कौन सा स्थान है। (क्रमशः)

"गमी में खुशी"

(श्री पं० धर्मदत्त जी विद्यालंकार)

जब गम नहीं था तेरा गम में, पड़ा हुआ था।
गमगीन तेरे गम में, गम से बरी हुआ हूँ॥

जब बे-फ़िकर था तुझ से फ़िकरें लगी हुई थीं।
जब से फ़िकर है तेरी, मैं बेफ़िकर हुआ हूँ॥

जब भय नहीं था तेरा, भयभीत हो रहा था।
जब भय हुआ है तेरा, निर्भय हुआ हुआ हूँ॥

जब तक नहीं दिया धन तब तक गरीब था मैं।
सब कुछ तुझे ही देकर, अब मैं धनी हुआ हूँ॥

हँसता था रात दिन मैं दिल में खुशी नहीं थी।
रो रो के तेरे गम में, अब खूब खुश हुआ हूँ॥

संसार के धार्मिक विचार

(ले० श्री पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति)

(१) मिसर

प्राचीन मिसर

ईजिप्ट, मिश्र या मिसर देश का इतिहास कहाँ से आरम्भ होता है? इस प्रश्न का उत्तर आज तक भी नहीं मिला। ईजिप्टोलोजिस्ट लोगों ने बहुत कोशिश की है परन्तु अभी तक कोई निश्चित उत्तर नहीं दे सके। मिसर के प्रारम्भ के निवासी कहाँ से आकर आबाद हुए, यह भी कहना कठिन है, इस विषय में कई भिन्न २ मत हैं। मध्य अफ्रीका, मेसोपोटामिया आदि अनेक स्थान मिसर के आदिम निवासियों के जन्मस्थान बताये जाते हैं। इतिहास लेखकों का वहाँ पर भी एकमत नहीं हुआ। प्रारम्भ में मिसर का क्या धर्म था? इस प्रश्न उत्तर में भी इतिहास लेखक चकरा जाते हैं। जिस समय से मिसर का विदित इतिहास आरम्भ होता है, वह ईसा से लग भग ४००० वर्ष पूर्व का है, परन्तु वह समय भी एक प्रकार से अन्धका-

राच्छन्न ही है। कल्पना की बत्ती से जो थोड़ा बहुत देखा जा सकता है, उसे इतिहास के नाम से पुकारें या न पुकारें, यह भी सन्दिग्ध है। तो भी हमें कल्पना का सहारा लेना ही पड़ता है। पुराने यूनानी लेखकों के लेखों से मिसर के सम्बन्ध में जो ज्ञान प्राप्त हुआ था, वह ज़मीन की कोख में से निकले हुए लेखों और पदार्थों से परिपुष्ट हुआ है। प्राचीन मिसर के बहुत से रहस्य भूगर्भ ने निकाल दिये हैं, और बहुत से अब भी निकल रहे हैं। उनकी सहायता से मिसर के सम्बन्ध में जो कुछ विदित हुआ है, वह बहुत मनोरंजक है। उसका यदि ध्यान से अनुशीलन किया जाय, तो हमें 'कब' और 'कहाँ से' के बहुत से रहस्य भी विदित हो जायंगे।

ईश्वर सम्बन्धी विचार

हम ईश्वर सम्बन्धी विचारों से आरम्भ करते हैं। प्राचीन मिसर के जितने भी लेख या ग्रन्थ मिले हैं उन से तथा यूनानियों तथा अन्यविदेशियों के ग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, उससे प्रतीत होता है कि मिसर के निवासियों के ईश्वर सम्बन्धी विचार दो प्रकार के थे। दो लहरें साथ ही साथ चलती थीं। वह दोनों एक दूसरे से विरुद्ध दिखाई देती हुई भी व्यवहार में दायें बायें हो कर बहती थीं। एक ओर बहुदेवतावाद था, और दूसरी ओर एकेश्वरवाद था। बहु देवतावाद जिस साहित्यिक पूर्णता के साथ मिसर में पाया जाता था, बहुत थोड़े देशों में पाया जाता होगा। पूरा २ देवताओं का परिवार था, जिस में हरेक इकाई नियत स्थान पर बिठा दी गई थी। देवताओं की वंश परम्परा, उनकी आकृति, उनके जीवन चरित्र और उन के कर्तव्य– यह सब कुछ निश्चित कर दिया गया था। ज्यों २ समय बीतता गया, देवताओं की संख्या बढ़ती गई।

बहुदेवतावाद की इस लहर के साथ ही एकेश्वरवाद की एक जबर्दस्त लहर भी चलती दिखाई देती है। वह लहर पुरानी है, या अर्वाचीन–यह अभी तक निश्चय नहीं किया जा सका। मिसर के निवासी बहुदेवतावाद से एकेश्वरवाद की ओर गये, या एकेश्वरवाद से बहुदेवतावाद की ओर, अभी तक यह फैसला नहीं हो सका। जिस समय हम मिसर के विचारों की प्रारम्भिक दशा में पहुँचते हैं, तो भी अनेकदेवतावाद और एकेश्वरवाद परस्पर मिले हुए ही दिखाई देते हैं; प्रारम्भ में क्या था, यह कौन कह सकता है? वह समय हमारे लिये तिरोहित है। हमारे लिये वही काल प्रारम्भिक है, जिसकी कुछ झलक हमारी दृष्टि में आ जाय। उस काल में हमें दोनों विचारों के चिन्ह मिलते हैं।

अनेक देवता वाद

समय के विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता तो भी ईसा से लगभग ३००० वर्ष पूर्व मिसर के धार्मिक विचारों की जो परिस्थिति थी, उसका एक अच्छा ब्योरा दिया जा सकता है। प्रतीत होता है कि एक

समय मिसर का सामाजिक संगठन बहुत शिथिल था। उस समय परिवार को ही समाज की इकाई माना जाता था। हरेक बड़े परिवार का अपना देवता था। जब परिवारों के कुल, और कुलों के ग्राम बन गये, तब परिवारों के देवता कुलों या ग्रामों के देवता बन गये। कुल या ग्राम में जो परिवार अधिक बलवान् हुआ, उसी का देवता मुख्य माना जाने लगा। इसी प्रकार यह भी समझा जा सकता है कि जहाँ किसी कुल के अनेक टुकड़े हो गये- वहाँ एक देवता की प्रधानता भी जाती रही। ग्रामों के नगर बन गये, और इसके साथ ही साथ ग्राम देवताओं को नगर देवताओं ने दबा लिया। कहीं विकास और कहीं ह्रास दोनों ही नियम चलते रहे, जहाँ आबादी का संगठन मज़बूत होगया वहाँ एकेश्वरवाद का विकास दिखाई देने लगा, और जहाँ संगठन शिथिल होगया और विच्छिन्नता आ-गई, वहाँ अनेक देवतावाद की ओर प्रवृत्ति दिखाई दी। एक समय आया जब मिसर—उत्तर और दक्षिण—या ऊंचा और नीचा—इन दो भागों में विभक्त होगया, उस समय देवमाला भी दो श्रेणियों में आगई। मिसर के इतिहास में ऐसा भी समय आया, जब देश की राजनीतिक एकता पूर्ण होती दिखाई दी, उसके साथ ही राजबल से एक देवता की पूजा प्रचलित करने का यत्न भी किया गया।

मिसर के इतिहास में वह परीक्षण भी बिलकुल नया था। चौथा अमोनोथस उस समय राजगद्दी पर बैठा, जब मिसर में अनेकदेवतावाद पूरे ज़ोर पर था। अनेक देवताओं में से भी 'अतन—रा' और 'अमुन—रा' नाम के देवता अधिक पूजनीय समझे जाते थे। दोनों के पुजारियों की संख्या बहुत बड़ी थी। अमोनोथस अतन-रा (सूर्य मण्डल) का उपासक था। अमुन—रा की पूजा से उसे चिढ़ थी। स्वभाव से उसका मन एक देवतावाद की ओर झुकता था। उसने देश में घोषणा कर दी कि सारी प्रजा अतन—रा की पूजा किया करे। अतन—रा की पूजा चाहे कितने ही भिन्न २ नामों से हो, परन्तु किसी दूसरे की पूजा न होने पावे। एक वार निश्चय कर लेने पर फिर रोकना कठिन था। अमोनोथस ने अतन-रा के नाम पर एक नया मन्दिर बनवाया, उसी के साथ देवता के नाम पर ही एक नई राजधानी बनवाई, सारे देश में आज्ञा होगई कि कोई व्यक्ति दूसरे देवता की उपासना न करने पावे। जिस किसी ने विरोध किया, उसे दण्ड दिया गया। राजबल से एकेश्वरवाद के प्रचार के संसार में अनेक यत्न हुए हैं, उन में अमोनोथस का यत्न विशेष ही महत्व रखता है क्योंकि वह एक ऐसे देश में किया गया था, जिस में अनेक देवतावाद स्थिर हो चुका था।

अमोनोथस के जीवन काल में अतन—रा की पूजा चल गई, और अमुन—रा के पुजारी बेरोज़गार होकर भटकने लगे, परन्तु उसकी मृत्यु के के पीछे मिसर फिर अपनी उसी दशा

में चला गया, जिसे उसकी स्वाभाविक दशा कह सकते हैं। उत्तराधिकारी पर अमुन—रा के पुजारियों ने काबू पा-लिया और देश में फिर अनेक देवता वाद पूरे ज़ोर से चल निकला।

देवमण्डल की नींव

मिसर क धार्मिक विचारों का अनुशीलन हम नीचे से आरम्भ करते हैं। उनके देवता सम्बन्धी विचारों का आरम्भ पशु—पूजा से होना है। जब से मिसर का चित्रपट शेष संसार की दृष्टि में आता है, तभी से हम उस के निवासियों को पशु पूजा के जाल में फँसा हुआ पाते हैं।

हरेक शहर और हरेक कुल का अलग उपास्य पशु था। कहीं घड़ि-याल, कहीं मगर, कहीं बकरी और कहीं बाज़ को पवित्र पशु माना जाता था। बड़े २ विशाल मन्दिरों में बन्दर या बकरी के देवता रूप में दर्शन कर के विधर्मी लोग चकित हो जाते थे। जिस नगर या ग्राम का जो देवता होता था, वह उसमें अवध्य माना जाता था। कभी २ तो केवल पशुओं की खातिर जातियों में युद्ध छिड़ जाते थे। प्रायः यह पशु स्थानीय देवता ही माने जाते थे, परन्तु कभी २ किसी एक पशु को सार्वदेशिक महत्व भी मिल जाता था। बैल को यह महत्व मिल गया था।

पशुपूजा किस प्रकार आरम्भ हुई, यह कहना तो कठिन है, परन्तु मिसर के लोग क्या मानते थे, यह मालूम है। मिसर के निवासी समझते थे कि देवता लोग मनुष्यों की देख भाल करने के लिये पशुरूप में भूमण्डल पर विच-रते हैं। जिसको जिस में देवता का रूप दिखाई दिया, वह उसी को पवित्र मान कर पूजने लगता था। मालूम होता है कि पशुओं को देवताओं का गुप्तनिवासस्थान समझ कर ही मिसर के निवासी पूज्य समझते थे।

पशु से देवता

पशु को देवता का अधिष्ठान मान-कर पशु और देवता को समान मान लेना कुछ मुश्किल नहीं था। कई देवताओं के चित्र पशु या पक्षी के रूप में मिलते हैं। होरस नाम के देवता का चित्र उक़ाब की सूरत से मिलता है। इस के साथ ही साथ आधे पशु और आधे मनुष्य की कल्पना भी दिखाई देती है। भारतीय साहित्य के किन्नारों की भाँति मिसर में भी अर्ध मनुष्य पाये जाते हैं। प्रायः सभी देवताओं में मनुष्य और पशु का मिश्रण है, ओसिरिस का सिर बैल या बन्दर का सा है; होरस का सिर उकाब का सा है; बिल्ली के सिर और औरत के शरीर से बास्ट का चित्र बना है; चनूम का चित्र मेंढे का सा है। इसी प्रकार मिसर के पवित्र देवता मनुष्य और पशु के मिश्रण से बने हैं। देवमाला के अधिक से अधिक फैलाव के समय में भी मिसर निवा-सियों ने देवताओं में से पशु के अंश को अलग नहीं किया। (क्रमशः)

खूनी

(लेखक—श्रीयुत गुप्त)

अदालत ने बड़ी गम्भीरता से पूछा—"क्यों कल्लू, मङ्गल महाजन का खून तुम्हीं ने किया है ?"

कल्लू ने सिर झुका कर उत्तर दिया—"हां सरकार !"

न्यायालय में कल्लू और मङ्गल दोनों के सम्बन्धी, जानकार, सरकारी वकील, पुलिस के आदमी—ये सब लोग मौजूद थे। सब ने एक बार आश्चर्य पूर्ण नेत्रों से कल्लू की ओर देखा।

अदालत ने देखा कि कल्लू कुछ कहते कहते रुक गया है। इस लिये उन्हों ने फिर पूछा—"तुम्हें इस खून के सम्बन्ध में कुछ कहना है ?"

कल्लू थो एक क्षण चुप रहने के उपरान्त बोला—"सरकार ! अगर इजाज़त हो तो मैं अपना पूरा बयान देना चाहता हूँ।"

अदालत ने ज़रा नरम आवाज़ से कहा—"हां, हां, कहना शुरू करो।"

कल्लू एक अपढ़ गंवार किसान था, परन्तु न मालूम उस समय उस में इतनी प्रतिभा कहां से आगई। अपने रुंधे हुए कण्ठ को साफ कर के वह बोला—

(१)

मैं हाजीपुर गांव का रहने वाला हूं। मेरी उम्र इस समय लगभग ४० बरस की है। गांव में मेरी २० बीघा मौरूसी जमीन थी। अभी डेढ बरस की बात है, उस समय मेरी तीन सन्तानें और एक घर वाली थी। मेरी सन्तानों में एक लड़की थी, उस की उम्र १३ बरस की थी, बाकी दोनों लड़के अभी छोटी उम्र के ही थे। इतनी जमीन से हम पांचों प्राणी भली प्रकार गुजारा कर लिया करते थे। उस समय मैं गांव के मुखिया लोगों में से था। परन्तु कर्मों के फेर से मेरी हालत में अचानक परिवर्तन आगया।

चैत का महीना था। गेहूँ की फसल पक चुकी थी। गांव वालों को खुशी का ठिकाना न था। साल भर में यही दिन होते हैं जब कि सब गांव वालों को भर-पेट खाना मिला करता है। गेहूँ के सुनहरी रंग के सिट्टों को देख कर हम लोग फूले न समाते थे।

मेरी जमीन की फसल भी खूब अच्छी नजर आती थी, उसे देख कर मेरा हृदय प्रसन्नता से बल्लियों उछलने लगता था। वैशाख मास के अन्त में मेरी लड़की की शादी थी। मैं बिल्कुल निश्चिन्त था, समझता था कि इस साल की फसल से शादी का खर्च जुटाने लायक आमदनी अवश्य हो जायगी।

परन्तु शायद ईश्वर को यह बात मंजूर न थी। एक दिन रात के समय गाँव के सब लोग चौपाल में बैठ कर बात चीत कर रहे थे। गाना बजाना हो रहा था। सितार की लय खूब मिल रही थी। अचानक

बड़े ज़ोर से आंधी चलने लगी। सब लोग अपने अपने घरों की तरफ भाग खड़े हुए। संगत बीच में ही टूट गई। आंधी बड़े वेग से चल रही थी— मालूम होता था कि हम लोगों की झोंपड़ियां उड़ जांयगी। परन्तु थोड़ी देर में आंधी रुक गई। हम लोगों को कुछ ढारस बंधी ही थी कि आकाश में बिजली चमकने लगी, थोड़ी देर बाद ही बड़े ज़ोर से वर्षा होने लगी। देखते ही देखते हमारी आशाओं पर तुषार पात होगया, बड़े बड़े ओले गिरने लगे! सारे गांव में हाहाकार मच गया। बाहर—खेतों में, फूस की छतों पर, घने घने वृक्षों पर—सब कहीं बड़े बड़े ओले पड़ रहे थे, और अन्दर—झोंपड़ियों में—गरीब किसानों का रोना धोना मचा हुवा था। करीब दो घण्टे तक यही हाल रहा, तब कहीं जाकर यह उपद्रव शान्त हुवा। ज़ोर ज़ोर से ठण्डी हवा चल रही थी, हम लोग सब कुछ ईश्वर के भरोसे छोड़ कर अपनी झोंपड़ियों में ही पड़े हुए थे।

प्रातः काल हुवा। मैं भागा भागा अपने खेत में पहुँचा। मेरी घरवाली भी मेरे साथ थी। खेत में पहुंचते ही कलेजा मुंह को आने लगा। मैं रोना चाहता था पर रुलाई न आती थी। मैंने देखा कि सारी फसल बिलकुल झड़ गई है। सिट्टों पर एक भी दाना नहीं बचा है, सब के सब बिलकुल झड़ गये हैं। सब खेतों का यही हाल था। गांव भर में मातम छाया हुवा था।

(२)

मैं मङ्गल महाजन के घर के दरवाजे पर आधी धूप और आधी छाया में लेटा हुवा था। दिन के १२ बज चुके थे। मेरे शरीर में ज़रा भी ताकत नहीं बची थी। मैं दो दिन से भूखा था। इस हालत में भी मैं अपने लिये ज़रा भी चिन्तित नहीं था; एक और चिन्ता थी जो मुझे धीरे२ जला रही थी, सुखा रही थी; उस के सामने भूखा रहना, धूप सहना-ये सब बातें किसी गिनती की न थीं। वह चिन्ता थी 'नथिया' के विवाह की। विवाह की तारीख आने में केवल १० दिन ही बचे थे, परन्तु मैं रुपयों का इन्तज़ाम बिलकुल न कर सका था। अगर विवाह की तारीख टल जाती तो 'नथिया' को जन्म भर कुमारी ही रहना पड़ता! मैं रुपयों की चिन्ता में दिन भर चक्कर लगाया करता था परन्तु अभी तक कोई इन्तज़ाम न कर सका था।

सख़्त गरमी मालूम हो रही थी फिर भी दरवाज़े के अन्दर प्रवेश करने की मेरी हिम्मत न होती थी। तीन चार दिन से लगातार मैं मङ्गल के घर आया करता था, परन्तु वह मुझे सदैव खींच खांच कर घर के बाहर कर दिया करता था— इसी कारण आज मैं दरवाजे के बाहर ही धरना देकर बैठ गया।

आधा दिन ढल चुकने के बाद मङ्गल पानी का लोटा लेकर कुल्ला करने के लिये घर के बाहर आया। मुंह साफ कर लेने के बाद वह दो तीन मिनट तक मेरी ओर देखता रहा। इस के बाद उसने मुझ से पूछा—"तुम्हें

कुल कितना रुपया चाहिये ?" मैं एक दम उठ बैठा, मैंने शीघ्रता से से उत्तर दिया—"७० रुपया।" दो एक क्षण तक चुप रह कर मङ्गल ने कहा "अन्दर आओ।" मङ्गल का चेहरा उस समय मुझे अच्छा नहीं मालूम हो रहा था, परन्तु रुपया मिलने की खुशी में मैंने उस ओर ध्यान न दिया। रुपया मिलने लगा है, यह जान कर मेरे दुर्बल शरीर में फिर से बल का सञ्चार हो आया। मैं मङ्गल के घर में प्रविष्ट हुआ।

मङ्गल ने शीघ्रता से ६५ रुपये गिन कर मुझे दे दिये। ५ रुपये पुरस्कार के तौर पर उसने अपने पास रख लिये। तब अपनी बही पर कुछ लिख कर, उस के पास ही लगे हुए एक टिकट पर उसने मुझे अंगूठा लगाने को कहा। मैंने बिना कुछ सोचे विचारे खुशी से अगूठे का निशान कर दिया। मैं डर रहा था कि अगर कुछ पूछ पाछ लूं तो कहीं यह रुपया देने से इन्कार न कर दे। अगूंठा लगा चुकने पर मैंने डरते डरते पूछा—"सूद की दर क्या रक्खी है।" मङ्गल ने उत्तर दिया-"बहुत नहीं। यही दुगने के करीब। एक साल में चुका देना।" मैंने फिर और कुछ नहीं पूछा, मङ्गल का उत्तर भी मुझे पूरी तरह समझ नहीं आया। मैं रुपये बांध कर अपने घर की ओर चला—उस समय मैं ऐसा अनुभव कर रहा था कि मानो मैंने राज पा लिया।

(३)

ठीक एक साल बाद बड़ी खुशी से मैंने मंगल के घर पैर रक्खा। मेरे पल्ले में उस समय १०० रुपये बंधे हुए थे। इस साल गेहूँ की फसल अच्छी हुई थी, मैं भली प्रकार अपना कर्जा उतार सकता था। साल भर में मङ्गल के घर दूध, घी, घास, गन्ने, शाक आदि पहुँचाता रहा था। जो कुछ मैं ले जाता था मङ्गल उसे प्रसन्नता से ले लेता था, एक वार भी किसी बात के लिये उस ने मुझे तंग नहीं किया। कर्ज़ या सूद का प्रश्न तो उस ने कभी भी नहीं छेड़ा। मङ्गल के इस व्यवहार के प्रभाव से मैं उसे देवता समझने लगा था। मेरी नज़र में जो महाजन अपने ऋणी लोगों को तंग नहीं करता वह देवताओं से कम नहीं है।

मङ्गल अपनी बैठक में बैठा हुआ बही की जांच पड़ताल कर रहा था, मैंने उसे बन्दगी की। मुझ पर नज़र पड़ते ही मङ्गल की आंखें कुछ झेंपने सी लगीं; परन्तु मैंने उस ओर ध्यान न दिया। मैंने बड़ी नम्रता से कहा—"भाई मङ्गल शाह, वैसे तो तुम्हारा ऋण मेरे सिर स कभी उतर ही नहीं सकता, परन्तु ईश्वर की कृपा से जो कुछ बन पड़ा है, तुम्हारी सेवा में लाया हूं। तुम्हारे हिसाब से सूद मिला कर मुझ पर क्या पड़ता है ?"

मङ्गल ने मेरे प्रश्न का उत्तर न देकर कहा—"तुम्हारी फसल तो इस साल बहुत अच्छी हुई परन्तु हमें उस का ज़रा भी स्वाद न मिला।"

मैंने बात टाल कर फिर पूछा-"मुझ गरीब के लिये क्या हुक्म है ?"

मङ्गल कुछ देर तक चुप रहा। वह जो कुछ कहना चाहता था, शायद उस के लिये अपने दिल को मजबूत

कर रहा था। मुझ पर अगर कोई छुरी का वार भी कर देता तो मैं इतना न चौंकता जितना कि मङ्गल की यह बात सुन कर चौंका ! उस ने कहा—"तुम ने मुझ से ७०० रुपया लिया था, ३०० रुपया उस पर सूद बैठता है, इस प्रकार तुम पर मेरा १००० का दावा है।"

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। मैंने चीखती हुई आवाज़ में कहा-"सात सौ नहीं, सत्तर।"

मङ्गल जबरदस्ती मुस्कराया; उस ने कर्कश स्वर में उत्तर दिया- "तब इस का निर्णय अदालत में होगा। मेरे पास तुम्हारे दस्तख़त मौजूद हैं।" मैं कांप रहा था। मेरे होश हवास गुम हो गये थे। सहसा मङ्गल का मकान छोड़ कर मैं बाहर निकल आया। उस समय मेरी आंखों से आंसू बह रहे थे। मैं क्रोध से अन्धा और दुःख से पागल हो रहा था, परन्तु मुझे कुछ भी सूझता नहीं था। हाय, यह दुनियां इतनी खोटी है !

(४)

लोग कहते थे कि मेरा दिमाग़ फिर गया है। शायद उन का यह कहना ठीक था। मुझे कुछ भी नहीं सूझता था। मेरे लिये खाना, पीना, सोना सब हराम हो गए थे। कभी क्रोध से भर उठता था; परन्तु उस के दूसरे क्षण ही अपने को सर्वथा निस्सहाय पाकर रो उठता था। सारी उम्र में मुझ पर इतनी बड़ी आफत कभी न आई थी। लोग मुझे कहते थे कि अदालत में अपने बचाव की पूरी कोशिश करो। परन्तु मेरा दिमाग़ सचमुच ठिकाने नहीं था, इस लिये मैंने अपने बचाव का ज़रा भी यत्न न किया। मुझे धनी आदमियों के न्याय पर ज़रा भी विश्वास न रहा था, अदालत को मैं इन्हीं लोगों की ढाल समझता था।

आखिर वह दिन भी आगया। दो सिपाही हथकड़ी लगा कर मुझे अदालत में ले आये। अदालत के सामने मङ्गल ने मेरे अंगूठे के निशान वाली बही पेश कर दी। मेरा बयान लिया गया। मैंने सिर्फ इतना ही कहा—"मङ्गल से मैंने ऋण तो लिया था, परन्तु सात सौ का नहीं, सत्तर का।" मेरे हक में कोई दलील नहीं थी। इस लिये अदालत ने मेरी सारी जायदाद को कुर्क कर के ऋण उतारने की आज्ञा के साथ ही साथ मुझे तीन महीने की कड़ी कैद का दण्ड भी दे दिया। अदालत का निर्णय सुनते ही मैंने एक बार आंखें उठा कर मङ्गल की ओर देखा, मेरी आंखों में आंसू भरे हुए थे। मङ्गल मेरी ओर देख न सका, उस की आंखें नीची हो गईं। इसी समय एक सिपाही ने मेरे पास आकर बाहर चलने का संकेत किया।

(५)

सांझ का समय था, जब कि तीन महीने की पूरी कैद भुगत कर मैं हाजीपुर वापिस आया। बरसात के दिन थे, चारों ओर खूब हरियावल छाई हुई थी। गांव के पश्चिम की ओर एक नाला था; यह नाला इस समय खूब वेग से चल रहा था। आकाश में हलके हलके बादल छाए हुए थे। सूर्य की अन्तिम किरणों के कारण ये बादल बड़े

सुहावने मालूम हो रहे थे। गांव के बाहर हरे हरे मैदान में लड़के खेल रहे थे। नाले के किनारे गांव के पशु पानी पी रहे थे। पूरे तीन महीने बाद गांव का वही सुहावना दृश्य मेरी आंखों के सामने आया। परन्तु इस ओर मेरा ध्यान बिलकुल नहीं था।

मेरा कलेजा धड़क रहा था; मैं जल्दी जल्दी अपने घर की ओर बढ़ा जा रहा था। अपने बच्चों से मिलने की आशा से मेरे दिल में उत्साह भरा हुवा था, खूब उमंगें उठ रहीं थीं। परन्तु ओफ़, मेरे उल्लास पूर्ण हृदय पर मानों किसी ने हथौड़े का भरपूर प्रहार कर दिया! वह टूक टूक हो गया। मैंने देखा, मेरे घर के द्वार पर ताला पड़ा हुवा है। एक दम वहां कुर्की का पुराना दृश्य मेरी आंखों के सामने घूम गया। मैं किस भूल में था। यह घर तो अब मङ्गल का है!

मेरी आंखों के सामने अंधेरा छा गया। मुझे कुछ भी नहीं दीख रहा था; मेरी झोंपड़ी, गांव, लड़कों का शोर, आकाश का सुन्दर दृश्य–ये सब मेरे ज्ञानसे सहसा ओझल हो गये। मैं सिर पकड़ कर वहां [illegible] गया। मालूम नहीं कितनी देर तक [illegible] अवस्था में मैं वहां पड़ा रहा। [illegible] मुझे होश आया तब मैंने देखा कि [illegible] लोगों ने मुझे घेर रक्खा है। [illegible] मेरा पड़ोसी था। मैंने उस [illegible] देख कर पूछा- "भाई सुक्खू, [illegible] लोग कहां हैं?" सुक्खन मेरे प्रश्न का कोई उत्तर न दे सका। कोई दूसरा आदमी भी कुछ न बोला। मैंने फिर पूछा– "क्यों भाई, क्या तुम उन के बारे में कुछ नहीं जानते?"

सुक्खन अब चुप न रह सका। सिर झुका कर वह धीरे से बोला "भाई कल्लू, एक महीने से ऊपर हो गया। तुम्हारी घरवाली ने इस नाले में डूब कर प्राण दे दिये।" इतना कह कर वह चुप हो गया। किसी प्रकार का कोई भाव प्रकट किये बिना ही मैंने कहा– "हां, हां, कहे चलो, मेरे दोनों लड़कों का क्या हुवा?" सुक्खन ने उत्तर दिया– "उन्हें मङ्गल अपने साथ ही शहर में ले गया था।"

सहसा मैं उठ खड़ा हुवा। लोग समझते थे कि अपने घर का हाल सुन कर मैं रोऊंगा, चिल्लाऊंगा। परन्तु मैं एक शब्द भी न बोला, धीरे धीरे मैं गांव के बाहर की ओर चला। मेरी अवस्था देख कर मुझे रोकने का साहस किसी को न हुवा। मैं गांव के बाहर नाले के किनारे पहुंचा। इरादा था कि मैं भी इसी में कूद कर अपने प्राण दे दूंगा। परन्तु नाले के किनारे पहुँचते ही मेरे दिल में एक और ख्याल आया। आत्म-हत्या के विचार को थोड़ी देर के लिये मैंने मुलतवी कर दिया।

इस समय तक चांद निकल आया था, परन्तु बादलों के कारण रात पूरी तरह उजेली न हो सकी थी। मैं शहर की तरफ चला। मेरे शरीर में बिजली के समान फुर्ती आ गई। शहर गांव से केवल ५ मील के अन्तर पर ही था। थोड़ी देर में मैं महाजन के दरवाजे पर जा पहुंचा।

दरवाजा खुला हुवा था। वहां पहुंचते ही मैं थोड़ी देर के लिये रुका। उस समय मेरा खून बड़े वेग से चल

रहा था। थोड़ी देर रुक कर मैं मकान में प्रविष्ट हो गया।

पहली ही नज़र में मैंने देखा कि आंगन में मेरा बड़ा लड़का घर के जूठे बरतन साफ़ कर रहा है। मैंने अपनी नज़र और आगे दौड़ाई। देखा, बरामदे के नीचे दीये के धुंधले प्रकाश में मेरा छोटा लड़का खड़ा रो रहा है। मङ्गल भी उस के पास ही खड़ा है। मैंने अभी नज़र उठाई ही थी कि मङ्गल ने उस के मुंह पर एक चपत लगाई और गाली देकर कहा- "भूख, भूख चिल्लाता है, काम कुछ भी नहीं करता।"

मेरे सिर पर खून सवार हो गया। बरामदे में ही एक ओर एक बड़ा सा गण्डासा रक्खा हुवा था, मैंने झपट कर उसे उठा लिया। अचानक मुझे इस भयङ्कर रूप में देख कर मङ्गल अभी चिल्लाया ही था कि पांच, सात वार कर के मैंने उस का काम तमाम कर दिया। मेरी इच्छा थी कि उसी गण्डासे से मैं अपने को भी वहीं समाप्त कर लूं, परन्तु इसी समय लोगों ने आकर मुझे पकड़ लिया।

* * * *

इतना कह कर कल्लू चुप हो गया। उसकी आंखों से दो चार बूँद आंसू टपक पड़े।

अदालत में बिल्कुल सन्नाटा छाया हुवा था। जज साहब बड़े ध्यान से कल्लू किसान का इज़हार सुन रहे थे। उस का कथन समाप्त हो चुकने पर वह एक शब्द भी नहीं बोले। मुज़रिम अपना कसूर स्वीकार करता है यह देख कर, एक ठण्डा श्वास ले कर, उन्हों ने लाल स्याही से कल्लू के प्राण-दण्ड की आज्ञा लिख कर अपना होल्डर तोड़ दिया।

* * * *

अगले दिन अलाहाबाद के दैनिक-पत्र 'लीडर' में समाचार छपा कि जज साहब ने जजी से अस्तीफ़ा दे दिया है।

—*:*:*—

सम्पादकीय

लाला गंगाराम का गुप्त पत्र

२२ मई के 'आर्य-जगत्' में 'आर्य समाज के छिपे शत्रुओं का गुप्त पत्र' इस शीर्षक से एक लेख निकला है जिस में शिमला आर्य समाज के प्रसिद्ध कार्य कर्ता लाला गंगाराम का एक पत्र प्रकाशित हुआ है। सहयोगी की दृष्टि में लाला गंगाराम का यह कार्य अनुचित है। पत्र इस प्रकार है:—

(गुप्त) शिमला ता० २३-४-२५

श्रीमान् महाशय जी नमस्ते!

गत नवम्बर मास में आर्य समाज बच्छोवाली ने अपने वार्षिकोत्सव का कुछ भाग आर्य्य समाज अनारकली के साथ मिल कर मानाया था। इसके अतिरिक्त बहुतसी आर्यसमाजें दीपमालिका, विजय दशमी व शिवरात्रि आदि के त्योहारों को कालेज विभाग की स्थानिक आर्यसमजों से मिल कर मानाया करती हैं। गुरुकुल विभाग के कई एक प्रसिद्ध विद्वान् तथा व्याख्याता भी

कालेज समाज की वेदी पर जाकर भाषण दे आते हैं। कुछ एक स्थानों पर महात्मा समाजों के संचालक कालेज विभाग के मुख्य २ व्याख्याताओं को बुला कर व्याख्यान दिलाने में कुछ हानि नहीं समझते।' इस से सामान्य मनुष्यों के हृदयों में स्वभावतः संदेह उत्पन्न होता है कि दोनों पक्षों में कुछ मतभेद नहीं रहा। यदि कुछ था भी तो वह भी मिट गया है क्योंकि उन के विचार में कालेज समाज के संचालकों का "मांस भक्षण" को वेद विरुद्ध स्वीकार कर लेना पर्याप्त है। शिक्षा सम्बन्धी जो कुछ भेद था, वह भी अब जाता रहा है— क्योंकि कालेज विभाग का 'ब्राह्मविद्यालय' खोलना इस बात का प्रमाण है।

मैं इस पत्र में उस लम्बी कथा के वर्णन करने की आवश्यकता नहीं समझता कि पञ्जाब में क्यों दो विभाग हुए। परन्तु जो लोग समाजों में अगुआ बन कर काम करते रहे हैं और अब भी करते हैं, वह इस बात के साक्षी हैं कि यद्यपि बाह्य रूप में कोई कार्य भेद प्रतीत नहीं होता तथापि कार्य्य रीति में व दृष्टिकोण में अब भी बहुत बड़ा भेद है। दृष्टान्त रूप से गुरुकुल विभाग की आर्य समाजें मांसाहारी को "आर्य सभासद्" बनाने में बड़ा संकोच करती हैं किन्तु कालेज विभाग की समाजों में अभी तक इस के सम्बन्ध में खुली छुट्टी है। यही कारण है कि कालेज विभाग के मुख्य नेता अभी तक मांस का आहार करते हैं। दोनों पक्षों में कार्य रीति व नीति में पर्य्याप्त भेद है ही। कालेज विभाग की समाजों में वार्षिकोत्सव के समय देवियों के आगे परदे का अब तक न हटाना पुराने विचार के प्रभाव का प्रमाण है। अस्तु, यह तो बहुत छोटी बातें हैं। वह लोग जो समाजों में कार्य्य करते हैं, इस भेद को भली प्रकार जानते हैं।

अब प्रश्न केवल इतना है कि श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब से सम्बन्धित समाजों की रीति व नीति एक सी होनी चाहिए। यद्यपि सभा की नीति इस सम्बन्ध में निश्चित है, तथापि समाजें उस आज्ञा को ध्यान में न रखती हुई गड़ बड़ में पड़ जाती हैं और अपने ही सभासदों में मतभेद उत्पन्न कर देती हैं। यदि आप इस विचार से सहमत हैं कि प्रतिनिधि सभा से सम्बन्धित समाजों की नीति एक सी होनी चाहिए और यदि आप के विचार में पुरानी नीति में कुछ परिवर्तन करने की आवश्यकता है तो आप कृपया अपनी (अपनी समाज की) सम्मति से मुझे शीघ्र सूचना देने की कृपा करें, ताकि मैं सभा के आगामी वृहद् अधिवेशन में एक ऐसा प्रस्ताव उपस्थित कर सकूं जो सब को मान्य हो।

भवदीय मङ्गलाभिलाषी—

गंगाराम
कसुम्पटी शिमला

हम ने पत्र को प्रारम्भ से अन्त तक कई बार पढ़ा परन्तु हमें समझ ही नहीं आया कि इस में कौन सी ऐसी बात है जिस के कारण सहयोगी ने लाला गंगाराम को आर्य-समाज के छिपे शत्रुओं में गिनने का साहस किया है। पत्र का अभिप्राय स्पष्ट है। लाला गंगाराम समझते हैं कि दोनों पार्टियों के दृष्टि—कोणों में मौलिक भेद है। गुरुकुल पार्टी में मांसाहारी को सभासद् भी नहीं बनाया जाता, कालिज पार्टी में मांसाहारी व्यक्ति कालेजों के प्रिन्सिपल तक बन सकते हैं। परन्तु साथ ही लाला गंगाराम इस बात को भी अनुभव करते हैं कि उन से विरुद्ध सम्मति रखने वाले लोग भी गुरुकुल विभाग में विद्यमान हैं। लाला गंगाराम के

पत्र से मालूम होता है कि वे इस विषय में सब समाजों की सम्मति इकट्ठी करना चाहते हैं, अपनी सम्मति के अनुसार समाजों को चलाने के लिये कोई गुप्त षड्-यन्त्र नहीं रच रहे। इसीलिये पत्र के अन्त में उन्होंने लिखा है कि यदि इस समय समाज की पुरानी नीति में परिवर्तन की आवश्यकता हो तो उस के लिये भी वे प्रतिनिधि सभा के बृहदधिवेशन में ऐसा प्रस्ताव रखने के लिये तैय्यार हैं जो सब को मान्य हो। इस प्रकार के पत्र को वही व्यक्ति षड्—यन्त्र समझ सकता है जो स्वयं किसी षड्-यन्त्र में लगा हो और अपने पाप को दूसरे के सिर मढ़ कर अपने को निष्कलंक सिद्ध कर देने की फ़िक्र में हो। इस समय प्रत्येक आर्य-समाजी मिलाप के सपने ले रहा है। परन्तु 'मिलाप' 'मिलाप' चिल्लाने से मिलाप न होगा। दोनों विभागों के मत—भेदों पर सब समाजों को विचार करना होगा और अपनी निश्चित नीति का निर्धारण करना होगा। हम लाला गंगाराम को सलाह देंगे कि यदि उन्हों ने अपने पत्र को सब समाजों के पास न भेजा हो तो शीघ्र ही भेजें और बहु सम्मति के अनुसार अपने प्रस्ताव को ऐसा रूप दें जो सर्व मान्य हो सके। हमें आश्चर्य है कि 'आर्य—जगत्' के अनुभवी सम्पादक ने सदिच्छा से प्रेरित पत्र को षड्-यन्त्र का सा भयानक रूप देकर एक सज्जन को क्यों बदनाम किया है? सहयोगी का यह प्रयत्न अत्यन्त घृणित तथा लज्जास्पद है।

—*:*:*—

हिन्दू वा आर्य

आर्य-समाज की स्थापना १९७५ ई० में हुई और तब से उस की तरफ़ से हिन्दू शब्द की जगह आर्य शब्द के प्रयुक्त किये जाने पर विशेष बल दिया गया। परन्तु १८७० ई० में काशी के प्रसिद्ध २ पण्डितों ने भी इस प्रश्न पर यही व्यवस्था दी थी। इस विषय की एक पुरानी व्यवस्था ढूंढ कर श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी ने 'अर्जुन' में प्रकाशित की है। व्यवस्था इस प्रकार है:—

[प्रश्न]

श्रीमद् भागवत, एकादश स्कन्ध, सत्रहवें अध्याय में लिखा है कि सतयुग में हंसवर्ण सब कोई कहावते थे; और त्रेता में हंसोक्त चार वर्ण, चार आश्रम का विभाग होता गया। इस कारण वर्णाश्रमी कहाये। अब सब कोई हिन्दू नाम करके ख्याल करते हैं। सो हिन्दू शब्द की चर्चा कोई शास्त्र में नहीं मिलता। इस हेतु हम यह जानना चाहते हैं कि हिन्दू कहावना उचित कि वा अनुचित है?

[उत्तर]

वर्णाश्रमी देश बोधक जो हिन्दू शब्द है सो यवन संकेतित है। वर्णाश्रमी बोधक जो हिन्दू शब्द है यह भी यवन संकेतित है। इस कारण हिन्दू कहावना सर्वथा अनुचित है। यह निर्णय श्री काशी मध्य टेढ नीम तले श्रीमहाराजाधिराज काशीराज महाराज संरचित धर्म-सभा में सब लोगों ने किया। हस्ताक्षरः—

[१] श्री विश्वनाथ शर्मा [२] श्री गृह मुन शर्मा [३] श्री प्यारे शर्मा [४] श्री डमकी शर्मा [५] श्री रामशरण शर्मा [६] श्री हर्षनाथ शर्मा [७] श्री बाबूनाथ शर्मा [८] श्री सकनमुनि शर्मा [९] श्री हरिदत्त शर्मा [१०] श्री महताब नारायण शर्मा [११] श्रीभानु शर्मा [१२] श्री आदिनाथ शर्मा [१३] श्री नन्दिपत शर्मा [१४] श्री श्यामलाल शर्मा [१५] श्री प्रभुनाथ शर्मा [१६] श्री हरिहर शर्मा [१७] श्री द्विवेदी वन्न

राम शर्मा [१८] श्री ताराचरण शर्मा [१९] श्री राधामोहन शर्मा [२०] श्री नवीन नारायण शर्मा [२१] श्री कैलाश शर्मा [२२] श्री कालिका प्रसाद शर्मा [२३] श्री मन्मोहन शर्मा [२४] श्री स्ववँश शर्मा [२५] श्री गूदम शर्मा [२६] श्री रघुनन्दन शर्मा [२७] श्री नकून-शर्मा [२८] श्री कीर्त्तिनाथ शर्मा [२९] श्री लाल शर्मा [३०] श्री द्वारिकानाथ शर्मा [३१] श्री राजाराम शास्त्री [३२] श्री वाल शास्त्री [३३] श्री शाखाराम भट्ट [३४] श्री वापुदेव शास्त्री [३५] श्री चन्द्रशेखर शर्मा [३६] श्री देवदत्त शर्मा [३७] श्री घनश्याम शर्मा [३८] श्री रमापति शर्मा [३९] श्री श्यामाचरण शर्मा [४०] श्री जागेश्वर शर्मा [४१] श्री अम्बिकादत्त शर्मा [४२] श्री चन्डीदत्त शर्मा [४३] श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा [४४] श्री गोस्वामी पँ० रघुनाथप्रसाद [४५] श्री बाबा शास्त्री ।

हिन्दू शब्दो हि यवनेष्वधर्मिजन बोधकः ।
अतोनार्हतितच्छब्द बोध्यतांसकलोजनः ॥
पापिनां पापी यवनः सङ्केतं कृतवान्नरः ।
नोचितः स्वीकृतोस्माभिर्हिन्दूशब्द इतीरितः ॥
काफ़िर को हिन्दू कहत, यवन स्य भाषा माँहि ।
ताते हिंदूनाम यह, उचित कहइबो नांहि ॥

इस व्यवस्था के अनुसार ह्यां काशी के बड़े २ मन्दिरों के दर्वाज़ों पर 'आर्येतराणां प्रवेशो निषिद्धः' लिखा गया है। ऐसी अवस्था में अब तक 'आर्य' शब्द को सर्वत्र न अपनाये जाने का कारण दुराग्रह के अतिरिक्त और क्या हो सकता है?

एक और व्यवस्था

हिन्दू-महासभा ने देशोद्धार का जो थोड़ा बहुत काम अपने हाथ में लिया था वह काशी में ऊंघने वाले पण्डितों को रुचा नहीं। उन्हों ने महासभा पर क्रुद्ध हो कर काशी से हाल ही में प्रकाशित होने वाले 'वर्णाश्रम' पत्र में सभा के विरुद्ध एक व्यवस्था प्रकाशित की है। इस व्यवस्था के नीचे म० म० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड, म० म० पं० नित्यानन्द पर्वती, म० म.पं० वामाचरण भट्टाचार्य, पं० अम्बादास प्रभृति विद्वानों के हस्ताक्षर हैं। व्यवस्था के शब्द ये हैं:—

"वर्णाश्रमधर्म्मानुयायिनां पुरतो निवेदनं काशीस्थविदुषाम् । पञ्चषेभ्योवत्सरेभ्यः प्रादुर्भावमुपगता हिन्दुमहासभा नाम्नी काचन समितिः पाश्चात्यशिक्षासंस्कृतमतीनां कतिपयानां प्रयत्नेन क्रमशः स्वीयं सनातनधर्मविरोधं प्रकटयंती श्रद्धालूनां सनातनधर्मानुयायिनां मनः सुकथञ्चित्सन्देहस्यावसरं प्रयच्छतीत्यस्माभिः स्पष्टाक्षरैरेवेदमावेद्यते यदियं सभा सर्वथा नास्माकमनुमता प्रत्युत् सनातन धर्मद्रुममूलस्यकुठाराघात स्वरूपेति । कैश्चिदपि धर्मश्रद्धालुभिस्तत्र सहयोगो न देयः । तथा धर्मव्याजेनाधर्मस्य सर्वत्र प्रचारं विदधती भारतधर्म महामण्डलप्रभृति समितिरपि न सहयोगार्हा । इत्थमाभिः सभाभिरितः परमपि सनातन धर्मविरोधः कथमपि क्रियेत चेत्तत्रास्माभिरवश्यं विरोधः करिष्यत इति ॥"

इस घोषणा का अभिप्राय यह है कि कुछेक अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोगों ने सानातन-धर्म रूपी वृक्ष की जड़ों पर कुल्हाड़ा चलाने के लिये हिन्दू महासभा चलाई है। यह धर्म के नाम पर अधर्म का प्रचार कर रही है, इस लिये इस के साथ कोई सहयोग न दे।

वाहरे पण्डितो! जब तुम से लोग शास्त्रों के ठेकेदार बने तब शास्त्रों का बेड़ा ग़र्क न होता तो और क्या होता! हिमाकत की भी कोई हद्द होती है, तुम उसे भी पार कर गये। हिन्दू महासभा पहले तो कर ही कुछ नहीं रही और जो कुछ थोड़ा बहुत कर भी

रही है उसे भी तुम बिना किसी शास्त्र का हवाला दिये मौलवी-मुल्लाओं की तरह फ़तवे निकाल निकाल कर ही रद्द करना चाहते हो ! किस भूल में पड़े सो रहे हो ? ज़रा आंख खोल कर तो देखो कि तुम किसी को याद भी हो या नहीं ! ज़माना तुम से बहुत आगे निकल गया है। जब तुम खुर्राटे लगा रहे थे तभी आर्य समाजी तुम्हारे वेद शास्त्रों को बग़ल में दाब कर ज़माने के साथ हो लिये थे। जल्दी २ उठ कर धोती सम्हाल कर दौड़ो-ज़माना और वेद-शास्त्र तुम से बहुत आगे निकल चुके हैं !

औरङ्गज़ेब की घोषणा

भारतवर्ष के इतिहास में औरंगज़ेब का नाम बहुत बदनाम है। कहा जाता है कि उसने हिन्दुओं पर बहुत अत्याचार किये, देवमन्दिरों को तुड़वाया और तीर्थस्थानों को भ्रष्ट किया। इस समय तक जो इतिहास लिखे गये हैं, उन में औरङ्गज़ेब एक क्रूर, धर्मान्ध और अत्याचारी बादशाह है। परन्तु धीरे धीरे कुछ ऐसे ऐतिहासिक तथ्य प्रगट हो रहे हैं, जो औरङ्गज़ेब के इतिहास पर नया प्रकाश डालते हैं। अभी कुछ समय हुआ, शारदापीठ के श्री जगद्गुरु शङ्कराचार्य ने एक व्याख्यान में कहा था कि औरङ्गज़ेब ने अनेक मन्दिरों पर इस लिये आक्रमण किया क्योंकि वे राजनीतिक विद्रोहियों के अड्डे बने हुवे थे और उन का प्रयोग औरङ्गज़ेब के शासन को उलटने के लिये किया जाता था। अभी विलायत के 'इस्लामिक रिव्यू' में औरङ्गज़ेब की एक पुरानी घोषणा प्रकाशित हुई है, जिस में बादशाह की ओर से कहा गया है कि:—

"हम घोषणा करते हैं कि हिन्दुओं के पूजा-स्थान और मन्दिरों की रक्षा की जावे और हमारे नोटिस में यह बात आई है कि कुछ लोगों ने बनारस के ब्राह्मणों के साथ क्रूरता और घृणा का व्यवहार किया। क्योंकि इस बात से हिन्दुओं को बहुत चोट पहुंचती है हम घोषणा करते हैं कि इस घोषणा की तारीख से हिन्दुओं को किसी प्रकार न सताया जावे और उनकी पूजा में बाधा न डाली जावे। हमारी हिन्दु प्रजा शान्ति और समृद्धि से युक्त हो यह हमारी कामना है"

यदि यह घोषणा सत्य है, तो औरङ्गज़ेब के इतिहास में बहुत से परिवर्तन करने की आवश्यकता होगी।

हिन्दू-धर्म

(१)

कलकत्ता की हाईकोर्ट के जज मि० पेज ने, जोगेन्द्रनाथ खान नामक व्यक्ति को अपनी स्त्री लीलावती की हत्या करने के अपराध में, मृत्यु-दण्ड दिया है। इस हत्या की कहानी विचित्र है। दो साल हुए ८ वर्ष की उम्र में लीलावती का विवाह जोगेन्द्र के साथ हुआ था परन्तु अभी तक लीला अपने माता पिता के साथ ही कलकत्ते में रहती थी। जोगेन्द्र, लीला को मिदनापुर ज़िले में अपने स्थान पर लिवा ले जाने के लिये ६ फरवरी को कलकत्ते पहुँचा परन्तु क्योंकि अगले पांच दिन अशुभ थे इसलिये लड़की के माता पिता ने जोगेन्द्र से कुछ दिन वहीं विश्राम करने का अनुरोध किया। जोगेन्द्र

ने स्वीकार कर लिया। पहली दो रात दोनों एक ही कमरे में सोये परन्तु तीसरी रात लड़की ने अपने पति के कमरे में सोने से इन्कार कर दिया। उस रात वह अपनी माता के साथ सोयी। १२फ़र्वरी की रात को जोगेन्द्र ने पान मंगवाया। उस की सास ने लड़की के हाथ पान भेज दिया। जोगेन्द्र ने कमरा बन्द कर लिया और कुछ देर बाद लड़की की माता को प्रहारों की आवाज़ तथा चीख सुनाई दी। वह भागी हुई कमरे की तरफ लपकी परन्तु क्या देखती है कि उस की प्यारी पुत्री औंधे मुंह खून में लतपत पड़ी है।

नर-पशुओं के हाथ में आठ २ वर्ष की कोमल बालिकाएँ सुपुर्द कर देने का यह नतीजा है। जोगेन्द्र के पैशाचिक कृत्य को सुन कर किस का हृदय कांप नहीं उठता, परन्तु जिन माता पिताओं ने अपनी कन्या को इतनी छोटी उम्र में व्याह दिया, उन के सिर से यह खून का पाप जन्म-जन्मान्तरों में भी नहीं उतर सकता। जोगेन्द्र को तो फांसी मिल गई परन्तु उस पाप का प्रारम्भ करने वाले लड़की के माता पिता फिर से वैसे ही पाप दोहराने के लिये समाज के भीतर खुले फिरेंगे! पाप करने वालों में से कुछेक को सज़ा मिल गई, परन्तु वह पाप फिर डंके की चोट पांव पसार कर वैसे का वैसा बना रहेगा-क्या इस से भी ज़्यादह कोई अनर्थ हो सकता है?

सरकार का कहना है कि वह बाल विवाह को बन्द नहीं कर सकती। धार्मिक मामलों में हस्ताक्षेप करना उसका काम नहीं है। हम इस बात को भली भांति समझते हैं कि हमारी सरकार का यह बहाना मात्र है। जहां सरकार को अपना काम बनता दीखता है वहां वह इन बारीकियों को ताक में रख देती है परन्तु फिर भी सरकार के पास इस काम में हस्ताक्षेप न करने का बहाना तो बना ही हुआ है। परन्तु हिन्दुओ! तुम बतलाओ, तुम्हारे पास क्या बहाना है? कौन सा वेद, कौन सा शास्त्र दस वर्ष की लड़की को एक नर-पिशाच के साथ सोने की आज्ञा देता है? ब्रह्मचर्य का नाम लेने वाले ऋषियों की सन्तान की यह दुरवस्था! यह दुर्गति!! ऐसा हिन्दू धर्म कब तक चल सकेगा?

(२)

रोमन रोलैण्ड ने 'महात्मा गान्धी' पर एक पुस्तक लिखी है जिस के १४० पृ० पर एक नवयुवक का उल्लेख है। युवक ने ब्राह्मण होते हुए भी, महात्मा जी के विचारों से प्रभावित हो कर, भङ्गियों में काम करना स्वीकार किया।

इस पुस्तक की समालोचना युरोप में, स्विटज़रलैण्ड के पादरी गैस्टन रोज़लैट ने की है। ये पादरी महोदय दक्षिणी भारत के मुल्की शहर में बहुत देर तक कार्य करते रहे हैं। पादरी महोदय इस घटना के विषय में लिखते हैं कि घटना तो निस्सन्देह सत्य है परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि वह युवक जिस के हृदय में अन्त्यज जातियों के सुधार की आग सुलग चुकी थी, हिन्दू रहता हुआ इस

कार्य को नहीं कर सका। हिन्दू-धर्म अछूतों से छुआ जाकर स्वयं अछूत हो जाता है। उस नवयुवक को इस कार्य के करने के लिए ईसाई हो जाना पड़ा। ईसाई धर्म की शरण में आकर वह अपने उद्देश्य को पूर्ण कर सका।

यदि यह घटना सत्य है तो हिन्दू-धर्म का दिवाला बोल गया समझना चाहिये। हमें आश्चर्य है कि वह युवक ईसाई होने की अपेक्षा आर्य-समाजी क्यों नहीं होगया। परन्तु यदि यह घटना असत्य भी हो तो भी इस में सन्देह नहीं कि हिन्दू धर्म के वर्तमान स्वरूप में किसी भी हिन्दू-नव-युवक के सन्मुख यह समस्या उपस्थित हो सकती है। ऐसी अवस्था में अपने को हिन्दू कहलाना छोड़ने के अतिरिक्त दूसरा कोई चारा नहीं दिखाई देता।

पहले कुंए आदि पर चढ़ने के लिए हमारे भाई ईसाई-मुसलमान होते थे, अब अछूतोद्धार आदि धर्म-कार्य करने के लिये भी हिन्दू-धर्म को छोड़ना पड़ेगा। तंग-दिल हिन्दू, अछूतों को तो घृणा की दृष्टि से देखते ही हैं परन्तु उन में काम करने वालों को भी 'अछूत' कह दिया करते हैं। जिस धर्म की ऐसी हालत होजाय उस की ज़िन्दगी के दिन थोड़े ही रह गये समझने चाहियें।

—:*:—

गुरुकुल-समाचार

ऋतु—गर्मियां समाप्त हो रही हैं। आकाश में बादल घिरने लगे हैं। थोड़ी बहुत बूंदें भी बरस चुकी हैं। कुलवासी उत्सुकता से वर्षा ऋतु की प्रतीक्षा कर रहे हैं। वर्षा ऋतु में गुरुकुल भूमि की जो अपूर्व शोभा होती है, उसे कौन कुल-पुत्र भुला सकता है। गङ्गा निरन्तर बढ़ रही है। पहले पुल टूटे थे, नाव चलती थी। अब नाव भी नहीं चल सकती, गङ्गा काफी बढ़ गई है। तमेड़ चलने लगी है।

बन्ध की मुरम्मत—पिछले वर्ष बाढ़ के कारण गङ्गा का रुख बहुत बदल गया है। अब गङ्गा की बङ्गले पर सीधी टक्कर लगती है। उधर गङ्गा का बन्ध बहुत कमजोर हो गया है। यदि अभी से कुछ इलज न किया गया, तो आगामी वर्षा-ऋतु में बंगले का बच सकना बहुत कठिन है। यही ध्यान में रख कर टूटे-फूटे बन्ध की मुरम्मत कराने का उद्योग हो रहा है। सब कुलवासी-ब्रह्मचारी और उपाध्याय इसके लिये दत्त-चित्त हो कर कार्य कर रहे हैं। स्वयं नाव पर गङ्गा पार से पत्थर ढोकर लाते हैं और बन्ध की मुरम्मत करते हैं। बन्ध के ठीक होने में लगभग एक सप्ताह लगेगा, इस समय के लिये पढ़ाईयां बन्द कर दी गई हैं।

आयुर्वेद महाविद्यालय—गुरुकुल का आयुर्वेद महाविद्यालय निरन्तर उन्नति कर रहा है। इस वर्ष इस महाविद्यालय के शिक्षा वर्ग में वृद्धि की गई है। कविराज श्री. दिनेशानन्द जी भट्टाचार्य आयुर्वेद के और श्री. डा० अमरनाथ एम.बी.बी.एस. पाश्चात्य चिकित्सा के नवीन उपाध्याय नियत हुवे हैं। शिक्षक वर्ग में इन दो विद्वानों की वृद्धि निस्सन्देह बहुत लाभ कारक होगी।

इस वर्ष आयुर्वेद की क्रियात्मक शिक्षा पर भी बहुत ध्यान दिया जा रहा है। शल्यतन्त्र और शरीर क्रिया की शिक्षा के लिये शव-छेदन (डिसेक्शन) का प्रबन्ध हो गया है। एक सप्ताह के भीतर ही तीन लाशें आ चुकी हैं, और आयुर्वेद के विद्यार्थी इन से बहुत लाभ उठा रहे हैं।

गुरुकुलीय आयुर्वेद महाविद्यालय की महत्ता अब बाहर भी स्वीकृत की जाने लगी है। पिछले दिनों संयुक्त प्रान्त की सरकार ने 'भारतीय चिकित्सा' की उन्नति के साधनों पर विचार करने के लिये एक 'समिति' नियत की थी। हर्ष की बात है कि 'गुरुकुलीय आयुर्वेद महाविद्यालय' के अध्यक्ष भी इस समिति के सदस्य नियत हुवे हैं।

व्रताभ्यास की शिक्षा—गुरुकुल की परीक्षाओं के नियन्त्रण के लिये 'शिक्षा-पटल' देर से बन चुका है। इस बार आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के साधारण अधिवेशन के समय शिक्षा-पटल की भी बैठक हुई जिस में ब्रह्मचारियों के गुरुकुलीय जीवन को अधिक उच्च बनाने के उद्देश्य से पाठविधि में एक नवीन विषय का प्रवेश सर्वसम्मति से निर्धारित हुआ। यह विषय है- व्रताभ्यास'। जिस प्रकार वेद, साहित्य, अंग्रेज़ी आदि अन्य विषयों में उत्तीर्ण होना आवश्यक समझा जाता है, इसी प्रकार व्रताभ्यास में उत्तीर्ण होना भी आवश्यक समझा जायगा। ब्रह्मचारियों को नित्य नियमों के यथावत् पालन करने पर, शिष्टाचार पूर्वक आज्ञापालन करने पर तथा अन्य साधारण व्यवहार के आधार पर अङ्क दिये जावेंगे जिन का महत्व उतना ही होगा जितना किसी अन्य विषय के अङ्कों का होता है। इस विषय में प्रतिमास अङ्क दिये जावेंगे और उन की सूचना ब्रह्मचारियों के संरक्षकों को दी जाती रहेगी। आशा की जाती है कि इस प्रकार गुरुकुलीय -जीवन को शिक्षा का आवश्यक अङ्ग बनाने का परिणाम अच्छा निकलेगा।

गुरुकुलीय सभायें— पिछले दिनों 'गुरुकुलीय हिन्दी साहित्य सम्मेलन' का सातवां वार्षिक अधिवेशन बहुत समारोह के साथ मनाया गया। श्री-युत प्रो० सत्यकाम जी विद्यालङ्कार सभापति थे। अनेक उपयोगी प्रस्ताव स्वीकृत हुवे। सम्मेलन के साथ 'कवि दरबार' और 'कविता सम्मेलन' भी हुवे। एक प्रस्ताव के अनुसार गुरुकुल में 'हिन्दी साहित्य मण्डल' की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य कुल वासियों में हिन्दी साहित्य की चर्चा के साधन उपस्थित करना है। आशा है, यह मण्डल अपने उद्देश्य में सफल होगा और कुलवासी इस से बहुत लाभ उठा सकेंगे।

इस मास 'संस्कृत कविता सम्मेलन' भी पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार के सभापतित्व में सफलता पूर्वक किया गया। सब सभायें अपने साप्ताहिक अधिवेशन नियम पूर्वक कर रही हैं। पत्रिकायें भी सफलता पूर्वक प्रकाशित हो रही हैं।

श्री प्रो० रामदेव जी— गुरुकुल के उपाचार्य श्री प्रो० रामदेव जी का स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं है। स्वास्थ्य लाभ करने और पूर्ण विश्राम के लिये उन्हें डाक्टरों ने शिमले में रहने की सलाह दी है। इसी के अनुसार प्रोफेसर जी शिमले चले गये हैं, और सम्भवतः दो तीन महीने तक वहीं पर विश्राम करेंगे।

अलंकार के प्रथम वर्ष के आय व्यय का व्योरा (आय)

मास	दान तथा चन्दा	चन्दा	[illegible]	[illegible]	शताब्दी अंक	[illegible] के लिये डाकव्यय	अन्य बिभाग	योग
चैत्र १९८१	५६)	×	×	×	×		×	१६)
बैशाख, ज्येष्ठ	५७॥)	३७॥)	×	×	×		×	६५)
आषाढ़	१२२।≡)॥।	२२३)	×	×	×		×	३४५।≡)॥।
श्रावण	४६=)	१४३॥)॥	५)	७॥)	×		॥)॥।२	२०२॥≡)।२
भाद्रपद	२)	२१॥)	६)	×	।-)		×	२६॥।-)
आश्विन	६॥।=)	३१)	×	×	×		×	३७॥।=)
कार्तिक पौष	१०)	१२=)	×	×	×		६॥।=)	२६)
माघ	×	७३)	×	×	४-)		१२)	८६-)
फाल्गुन	५)	६८)	७)	॥≡)॥	५८॥≡)		१६)	१५५।≡)॥
चैत्र	×	६४।=)	२६)	८।≡॥	४।≡)		×	१०६।)॥
बैशाख, ज्येष्ठ	५)	१२७-)	१२)	१५॥)	४३।=)	३।≡)	२६॥-)	२१२॥।≡)
योग	२१३॥।=॥।	८०१-)॥	५६)	३२≡)	११०॥।=)	३।≡)	६२≡)॥।२	१३८२॥।)२

(व्यय)

मास	कागज़	छपाई	डाकव्यय	[illegible]	[illegible]	अन्य विभाग	योग
चैत्र १९८१	×	×	॥)	×	॥।)॥	×	१।)॥
बैशाख, ज्येष्ठ	×	६॥।)॥	११-)	×	१।)	×	१६-)॥
आषाढ़	×	६०=)॥।	२७॥≡)।	×	×	×	८८=)
श्रावण	१७३॥≡	६२=)॥	७॥≡)॥	×	×	×	२४४-)
भाद्रपद	×	५५॥।)	१६॥-)॥	×	४॥।-)	×	८०=)॥
आश्विन	×	×	४।=)॥	×	६॥-)॥	×	११)
कार्तिक-पौष	१७७≡	६०।)	११।-)।	×	×	×	२४८॥।)।
माघ	×	×	१७-)	१४-)॥।	×	११॥।=)	४३)॥।
फाल्गुन	×	१२७॥।=)	१८)॥	२॥)॥	×	६॥=)	१५८-)
चैत्र	×	×	१४)।	५७)	×	१८॥।≡	८६॥।≡)।
बैशाख, ज्येष्ठ	×	२७८॥।≡)	१६)	७५)	७॥।-)	२१॥)॥।२	४०२॥)॥।२
योग	३५१≡	६५१॥।=)॥।	१५०॥।=)॥।	१४८।≡)।	२११)	६२≡)॥।२	१३८६-)॥।२

इसके अतिरिक्त ८२॥) शताब्दी अङ्क की छपाई के और देने हैं। जिस में से ७८॥) के कागज़ हमारे स्टाक में विद्यमान हैं। एवं, अलङ्कार के प्रथम वर्ष का संपूर्ण घाटा ७।) ॥ मात्र हुआ है। इस प्रकार हमारे पत्र का पहला वर्ष आर्थिक दृष्टि से भी अत्यन्त संतोषप्रद गुज़रा है। लेखों की दृष्टि से तो प्रायः संपूर्ण समाचार पत्र पत्रिकाओं ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की ही है। कई प्रसिद्ध पत्रों ने तो यहां तक लिख दिया है कि 'अलङ्कार' पत्रिका लेखों की दृष्टि से सब प्राचीन पत्रिकाओं को उलांघ गई है। कईयों ने यह सम्मति प्रकाशित की है कि अमेरिका तथा युरोप के ग्रेज्युएटों की पत्रिकाओं की तरह भारतीय स्नातकों द्वारा प्रकाशित भारत में यह पहली पत्रिका है और लेखों की दृष्टि से उन पत्रिकाओं से कम नहीं। भारत में नवयुग के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द की जन्मशताब्दी की पुण्यस्मृति में गतवर्ष प्रथम आषाढ़ से इस पत्रिका का जन्म हुआ है।

हमारा विचार है कि इसकी पृष्ठ संख्या यथासंभव शीघ्र ३२ की जगह ४० कर दें। परन्तु यह तभी हो सकता है जब कि ग्राहकों का भी पूरा सहयोग हो। यदि प्रत्येक ग्राहक कम से कम एक ग्राहक और बनाये तो पत्र की कलेवर वृद्धि होने में कोई सन्देह नहीं।

नोट—३१३॥) ॥ की दानसूचि इस प्रकार है—

स्ना० विद्याधर जी २०)
स्ना० धर्मदेव जी १५)
स्ना० सत्यपाल जी १०)
स्ना० गगादत्त जी ५)
स्ना० विक्रम जी ५)
स्ना० सोमकीर्ति जी ५)
स्ना० विद्यानिधि जी ५)
स्ना० ईश्वरदत्त जी १०)
स्ना० वागीश्वर जी १०)
स्ना० सामदत्त जी १०)
स्ना० व्रतपाल जी १०)
स्ना० प्रियव्रत जी १५॥)
स्ना० मदनगोपाल जी ५)
स्ना० सत्यव्रत जी १२)
स्ना० देवशर्मा जी १०)
स्ना० विनायक जी २०)
स्ना० ब्रह्मानन्द जी २०)
स्ना० रामचन्द्र जी ६)
स्ना० विष्णुमित्र जी १५)
स्ना० आनन्दस्वरूप जी १७॥) ॥
स्ना० विवेकानन्द जी १५)
स्ना० विराट् देव जी १०)
स्ना० जनमेजय जी ५)
स्ना० सत्यभूषण जी १५)
स्ना० भीमसेन जी ६)
स्ना० महाव्रत जी ६॥)
स्ना० नारायणदत्त जी ५।
स्ना० भद्रसेन जी ५)
पं० बाबूराम जी की धर्मपत्नी १०)
स्ना० अमीचन्द्र जी ५)
गुप्तदान १)

चन्द्रमणि
मंत्री स्नातक मण्डल

पं० सत्यव्रत प्रिन्टर और पबलिशर के लिये गुरुकुल कांगड़ी-यन्त्रालय में छपा

वर्ष २, अङ्क २] मास, श्रावण [पूर्ण संख्या १४

अलंकार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः।
हविष्मन्तो अलंकृतः॥ ऋ० १. १४. ५

पराधीन-जीवन

(श्री हरि)

[१]

दर दर के बन दीन भिखारी, अलख जगाना भी अच्छा।
पाटाम्बर को छोड़ गेरुये, वसन रंगाना भी अच्छा॥
महलों से मुख मोड़ विपिन में, कुटी बनाना भी अच्छा।
पद पद पर निज प्रिय जीवन की, त्रुटी दिखाना भी अच्छा॥

[२]

वन वन के बन वनचर दुःख के, दिवस बिताना भी अच्छा।
प्रियजन के सम खग मृग गन से, मन बहलाना भी अच्छा॥
कन्टक-कुसुम, दुःख सुख, सब कुछ, जीवन के मग में अच्छा।
पराधीन हो कर जीना ही, नहीं अहो जग में अच्छा॥

संसार के धर्मों की कुछ समानताएं

(ले० प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार)

"संसार के धर्मों में इतनी समानता है कि उन के तुलनात्मक अध्ययन करने वाले विद्यार्थी की प्रवृत्ति कभी खण्डन की तरफ़ नहीं झुकती। गम्भीर अध्ययन करने का यही सहज परिणाम निकलता है कि विद्यार्थी सच्चाई के विश्व-व्यापी स्वरूप की खोज़ करने लगता है। उसे सब धर्मों में सृष्टि-चक्र के एक ही सिद्धान्त भिन्न २ रूप धारण किये हुए दिखाई देते हैं। धर्मों के खोज-पूर्ण पाठ से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भिन्न २ धर्म, एक ही धर्म के पुत्र-पौत्र हैं, उन में तात्विक भेद नहीं। धर्मों की इस समानता को अनेक प्रमाणों से पुष्ट किया जा सकता है परन्तु हम यहां इस्लाम, ईसाइयत, पारसी धर्म तथा वैदिक-धर्म की कुछ मोटी २ समानताओं को ही पाठकों के सन्मुख रखेंगे।

१. मुसलमानों का विचार है कि मनुष्य से सूक्ष्म सत्ता रखने वाले फ़रिश्तों का शरीर आग का बना होता है। ईसाइयों तथा यहूदियों का भी यही ख़्याल है। परन्तु इस विचार की जड़, संस्कृत का 'देव' शब्द है। 'देव' की व्युत्पत्ति करते हुए निरुक्तकार लिखते हैं-देवो दानाद्वा, दीपनाद्वा, द्योतनाद्वा। देव का अर्थ दान देना, प्रकाश वा द्युति-युक्त होना है। हम इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं कि वैदिक साहित्य में फ़रिश्तों की कोई पृथक् सत्ता मानी गई है। परन्तु हां, देवताओं की कल्पना से ही फ़रिश्तों की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ है और फ़रिश्तों के शरीरों का अग्नियुक्त होने का आधार 'देव' शब्द का यौगिक अर्थ ही है-यह स्पष्ट है। वैदिक साहित्य में देव-कल्पना भिन्न २ प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर की गई थी, पृथक् चेतन सत्ताओं को लक्ष्य में रख कर नहीं। प्रकरणप्राप्त न होने के कारण इस स्थापना का विस्तृत विवेचन यहां नहीं किया जा सकता।

फ़रिश्तों के विषय में यह विचार भी पाया जाता है कि वे आस्मान में रहते हैं। निरुक्त ७। १५ में भी 'देव' [फ़रिश्ते] की व्युत्पत्ति करते हुए लिखा है—'द्यु स्थानो भवतीति वा'—अर्थात्, जो द्यु [आस्मान] में रहे उसे देव कहते हैं। इस में सन्देह नहीं कि देवतावाद का वैदिक उच्च विचार फ़रिश्तों के विचार के रूप में आकर बहुत गिर गया है, परन्तु उस पर तो अब अफ़सोस ज़ाहिर करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं किया जा सकता। हमारा प्रतिपाद्य विषय यहां इतना ही है कि फ़रिश्तों का मानना मुसलमानों तथा यहूदियों में ही नहीं परन्तु अपने यहां भी पाया जाता है।

२. मुसलमानों तथा पारसियों के धर्म ग्रन्थों के अनुसार स्वर्ग में प्रविष्ट होने से पहले एक पुल पर से गु-

ज़रना पड़ता है। यह पुल नरक के ऊपर से हो कर जाता है और बाल से भी बारीक तथा तलवार की धार से भी तेज़ है। मुसलमान लोगों को मुहम्मद इस पुल पर से हाथ पकड़ कर पार गुज़ार देगा परन्तु इतर धर्मावलम्बी इस की तेज़ धार पर न चल सकने के कारण नीचे नरक में दुलक पड़ेंगे। मुहम्मद ने इस पुल का नाम 'अल-सिरात' रखा है। यहूदी भी इस प्रकार के पुल में विश्वास करते हैं और उसे तागे के समान बारीक बतलाते हैं। पारसियों के यहां भी यह विचार जैसे का तैसा पाया जाता है और वे अपनी भाषा में इस पुल को 'पुल-चिनवद्' कहते हैं। कठोपनिषद् के १ अध्याय की ३य वल्ली में धर्म के मार्ग पर चलने को विषमता को दर्शाते हुए लिखा है —क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति। अर्थ स्पष्ट है—वह रास्ता दुर्गम है, छुरे की तेज़ धार पर चलने के समान है। इस में सन्देह नहीं कि उपनिषद् में यह विचार अभी आध्यात्मिक भाव की अवस्था में ही पाया जाता है परन्तु इस के वर्णन करने का प्रकार बिल्कुल वही है जो मुसलमानों, यहूदियों तथा पारसियों के यहां पाया जाता है। धर्म के मार्ग पर चलना छुरे की तेज़ धार पर चलने के समान है—यही भाव अवस्थान्तर तथा देशान्तर में जा कर स्वर्ग में ले जाने वाले पुल के रूप में परिणत हो गया परन्तु उस का वर्णन-प्रकार फिर बहुत कुछ वैसा ही बना रहा।

३. मुसलमानों का कथन है कि 'अल-सिरात' पर से गुज़र कर मनुष्य बहिश्त में पहुँचता है जो कि सातवें आसमान पर स्थित है। मुसलमानों के बहिश्त में बाग़ बग़ीचे, दूध और शहद की नदियां हैं और साथ ही उन्हें ७० हूरें भी मिलती हैं। यहूदियों के स्वर्ग का भी यही हाल है—उन्हें भी अन्य सब भोग्य पदार्थों के साथ यौवनारूढ़ कन्याएं मिलती हैं। पारसी स्वर्ग को बहिश्त कहते हैं और स्वर्ग की अप्सराओं को हूरें-बहिश्त कहते हैं। यह हूरों का सर्व-व्यापी विचार भी वैदिक साहित्य में पाया जाता है। पहले तो 'हूर' शब्द ही 'अप्सरा' से निकला है। 'अप्सरा' शब्द का 'अप्' उड़ गया है और 'स' को 'ह' हो गया है। 'सरा', 'हरा' और 'हरा', 'हूर' बन गया। अप् का उड़ जाना कोई अचम्भे की बात नहीं। शब्द-शास्त्र मे ऐसे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं जहां लम्बे शब्दों को संक्षिप्त कर लिया गया है। वेद में 'प्सर' शब्द का प्रयोग 'रूप' अर्थ में आता है। प्सर से ही अप्सरा बनता है। प्सर से ही हूर बनता है। प्सर के स उड़ जाने से 'परी' तथा परी से अंग्रेज़ी का फ़ेयरी (Fairy) शब्द बनता है। इस के अतिरिक्त स्वर्ग में अप्सराओं के मिलने का विचार उपनिषदों में भी पाया जाता है। कठोपनिषद् के प्रथमाध्याय की प्रथम वल्ली में नचिकेता की कथा पायी जाती है। इस कथा के अनुसार नचिकेता के पिता वाजश्रवस् ने यज्ञ कर के सब कुछ दान में दे दिया। यह देख कर नचिकेता के हृदय में भी श्रद्धा उमड़ पड़ी और वह अपने पिता से

पूछने लगा कि मुझे किस को दोगे। पिता ने कहा— तुम्हें मृत्यु के सुपुर्द करूंगा। नचिकेता को मृत्यु के पास पहुँचा दिया गया। मर कर नचिकेता स्वर्ग लोक में पहुंचा तो उसके सामने स्वर्ग के प्रलोभन रखे गये। उसे कहा गया, तुम्हें जिस किसी वस्तु की आवश्यकता है वही तुम्हारे लिये प्रस्तुत की जा सकती है। अन्त में कहा है—
"इमा रामाः सरथाः सतूर्याः नहीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः। आभिः प्रत्ताभिः परिचारयस्व नचिकेतो मरणं मानुप्राक्षीः" हे नचिकेता! इस स्वर्ग लोक में ये मद-मस्त रमणियें तुम्हारी सेवा करने के लिये तैयार हैं, इन के साथ विहार करते हुए चैन करो, इस से अधिक तुम्हें क्या चाहिये? जो उच्च आध्यात्मिक भाव इस कथा में वर्णित है उसे कठोपनिषद् की कथा में कई बार पाठकों ने सुन रखा होगा, उसे स्पष्ट करने का यह स्थल नहीं है। यहां तो इतना ही दिखाना है कि उपनिषदों का भाव किस विकृत रूप में पारसी, यहूदी तथा मुसल्मान—इन सब में पहुँच गया। नचिकेता को मृत्यु के पास पहुंचने पर भिन्न २ प्रलोभन दिये गये और उन में से सब से जबर्दस्त प्रलोभन अप्सराओं का दिया गया। इस का आध्यात्मिक भाव जो है सो है ही परन्तु इस में सन्देह नहीं कि इसी भाव ने अन्य धर्मों में आ कर एक विकृत रूप धारण किया जोकि इस समय उन में हूरों के रूप में पाया जाता है।

उपनिषदों से पूर्वकालीन वैदिक साहित्य का अनुशीलन करने से भी इस कथन की पुष्टि होती है। अथर्व-वेद में कुछ मन्त्र ऐसे पाये जाते हैं जिन का यदि लौकिक संस्कृत से ही अर्थ किया जाय तो वह बिल्कुल मुसल्मानों के स्वर्ग से मिलता है। अथर्व ७। सू. ३४। १३६ में निम्न मन्त्र पाया जाता है: "घृतह्रदा मधुकूलाः सुरोदकाः क्षीरेणपूर्णा उदकेन दध्ना। एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत्पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः।" इस मन्त्र का मोटा २ अर्थ यही है कि तुझे स्वर्ग में घी, दूध, शहद, शराब आदि की नदियें मिलें। इसी स्थल के दूसरे मन्त्र में तो यहां तक लिखा है कि—"स्वर्गेलोके बहुस्त्रैणमेषाम्"—अर्थात् स्वर्ग लोक में उन्हें बहुत स्त्रियें मिलती हैं।

वैदिक साहित्य में स्वर्ग लोक का क्या अर्थ है, उपरोक्त मन्त्रों के यथार्थ अर्थ क्या हैं— इत्यादि विषयों पर यहां प्रकाश नहीं डाला जा सकता। हमारे कथन का अभिप्राय इतना ही है कि स्वर्ग का जो चित्र इतर धर्मों में पाया जाता है हूबहू वैसा ही चित्र वैदिक साहित्य में भी मिलता है। फ़रक इतना है कि ईसाइयत, इस्लाम आदि धर्मों के अनुयायी अभी तक स्वर्ग की उस कल्पना को यथार्थ मानते हैं, वैदिक धर्मानुयायी उसे आलंकारिक बताते हैं। इस भेद के रहते हुए, समानता, असाधारण है; उपेक्षणीय नहीं।

४. सृष्ट्युत्पत्ति की कथा तो सब धर्मों में इतनी मिलती है जिसका कुछ हद्दोहिसाब नहीं। इसकी विस्तृत

तुलना अगले लेख में की जायगी परन्तु क्योंकि इस लेख में कुछ साधारण तुलनाओं पर प्रकाश डाला जा रहा है इसलिये इस विषय की साधारण तथा प्रारम्भिक तुलना पर कुछ लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है।

सृष्टि के प्रारम्भ का वर्णन करते हुए ईसाइयों की धर्म पुस्तक बाइबल में लिखा है:— And darkness was upon the face of the deep अर्थात्, प्रारम्भ में अन्धकार ही अन्धकार था। मुसलमान तथा यहूदी भी इस स्थापना को स्वीकार करते हैं। ऋग्वेद। मण्डल १०। अनुवाक् ११। सूक्त १३० में लिखा है—'तम आसीत्तमसा गूढमग्रे'। तम का अर्थ है अन्धकार। अर्थात् प्रारम्भ में अन्धकार ही अन्धकार था। बाइबल तथा वेद दोनों का एक ही कथन है—ज़रा भी भेद नहीं।

इस के आगे बाइबल की दूसरी आयत में लिखा है— And the Spirit of God moved upon the surface of the waters अर्थात्, परमात्मा की आत्मा जल के ऊपर हिल-जुल रही थी। ऋग्वेद के उसी मन्त्र का अगला पद है—'अप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदं, तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्।' सलिल का प्रचलित संस्कृत में अर्थ है पानी, जल। अर्थात् पहले पहल जो अन्धकार से आच्छन्न सलिल (जल) था वह तुच्छ्य (परमात्मा) से अपिहित (ढका) हुआ था। कहने का अभिप्राय यह हुआ कि परमात्मा की आत्मा सलिल (जल) के ऊपर लोट रही थी। दोनों भाव अक्षरशः एक ही हैं।

फिर क्या हुआ? बाइबल में लिखा है— And God said let there be light and there was light परमात्मा ने कहा, प्रकाश हो जाय और प्रकाश हो गया। कुछ ही शब्दों के हेर-फेर से यही सिद्धान्त मुसल्मानों का है। ऋग्वेद के ऊपर उद्धृत किये हुए मन्त्र का अन्तिम पद है—'तपसस्तन्महिना जायतैकम्'। तप का सम्बन्ध ताप [Heat] से है परन्तु प्रकाश [Light] भी साधारण अवस्थाओं में ताप से मिला ही रहता है। 'तप की महिमा से' का मोटा अर्थ 'प्रकाश की महिमा से'—यह भी किया जा सकता है। इस प्रकार बाइबल के पुराणे अहकनामे की सारी की सारी पहली आयत ऋग्वेद के उपरोक्त मन्त्र का अक्षरशः अनुवाद है।

इस विषय में हमारे पास अन्य प्रमाण भी मौजूद हैं। उपर्युक्त उद्धरण में हम ने सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी विचार में तीन समानताएं दिखायी हैं:—

१. प्रारम्भ में अन्धकार का आवरण होना, २. परमात्मा का जल पर लोटना तथा ३. उच्चारण मात्र से सृष्टि का उत्पन्न हो जाना।

ये तीनों विचार बाइबल की एक आयत में जिस क्रम से पाये जाते हैं उसी क्रम से ऋग्वेद के एक मन्त्र में पाये जाते हैं। इतना ही नहीं। ये तीनों विचार वेदों से पिछले साहित्य में अलग २ भी पाये जाते हैं। प्रकृति की अव्यक्तावस्था को अन्धकारावृत सभी मानते ही हैं, यह तो दार्शनिक

विचार ही है परन्तु परमात्मा के जल पर स्थित होने को भी पुराणों में स्वीकार किया है। कौन नहीं जानता कि विष्णु महाराज समुद्र पर लेटे हुए हैं! परमात्मा का एक नाम 'नारायण' है जिस की वैदिक व्युत्पत्ति जो है सो है ही परन्तु पौराणिक व्युत्पत्ति है—'आपो नारा इति प्रोक्ताः'। 'नाराः' का अर्थ है 'जल' और 'अयन' का अर्थ है 'स्थान'। 'नारायण' का पौराणिक अर्थ हुआ—'जल जिस का स्थान हो'। अतः यदि बाइबल ने कह दिया कि परमात्मा की आत्मा जल पर तैरती थी तो वह कोई नया ख्याल नहीं—पुराना ही ख्याल है और अपने वेदों से ही लिया हुआ है। बाकी रही, तीसरी समानता;

शब्द के उच्चारण मात्र से सृष्टि का उत्पन्न होना। यह कल्पना बायबल में एक अन्य स्थल पर भी पायी जाती है। जौनकी गौसपल के प्रारम्भ में ही लिखा है—In the beginning was the Word, and the Word was with God, and the word was God...... All things were made by Him अर्थात् सृष्टि के प्रारम्भ में शब्द था; शब्द ही ब्रह्म था और शब्द ने ही सब कुछ बना डाला। कुरान में भी लिखा है कि परमात्मा ने कहा—'कुन'—'हो जा'-और सृष्टि बन गई! यह विचार भी उपनिषदों का है। उपनिषदों में लिखा है- स ऐक्षत, सोऽकामयत, सोऽसृजत।

'शब्द' से सृष्टि रचना का विचार जौन ने ग्रीक लोगों से लिया जो कि Logos से सृष्ट्युत्पत्ति मानते थे। ग्रीक दार्शनिकों ने Logos तथा परमात्मा को अभिन्न सा समझ लिया था परन्तु यह विचार भी उपनिषदों का ही था। उपनिषदों में लिखा है-'शब्दं ब्रह्म'। शब्द ही ब्रह्म है। परमात्मा के ईक्षण मात्र से, संकल्प मात्र से, शब्द मात्र से सृष्टि की रचना हुई—यह विचार वेदों तथा उपनिषदों से प्रारम्भ हो कर संसार के सभी बड़े २ धर्मों में पाया जाता है। सम्भवतः इसी विचार से, शून्य से उत्पत्ति मानने के विचारों का भी उदय हुआ। लोगों ने समझ लिया कि यदि परमात्मा के शब्द मात्र से सृष्ट्युत्पत्ति हो सकती है तो वह अभाव से ही हुई होगी।

यद्यपि हम यहां पर वैदिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन नहीं कर रहे अपि तु केवल संसार के बड़े २ धर्मों की कुछ समानताएं ही दर्शा रहे हैं तथापि प्रकरण प्राप्त विषय तथा इस लेख का बहुत कुछ शब्द-शास्त्र से सम्बन्ध होने के कारण इस पर कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है।

ईसाई, मुसलमान तथा यहूदी, शून्य से सृष्टि मानते हैं क्योंकि उन के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार परमात्मा के शब्द- ईक्षण-मात्र से सृष्ट्युत्पत्ति हुई। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि उन्हीं के धर्म- ग्रन्थों में लिखा है कि परमात्मा की आत्मा 'जल' के ऊपर तैर रही थी। अतः उन्हीं के धर्म-ग्रन्थों के अनुसार परमात्मा के साथ 'जल' भी मौजूद था। वेदों के अनुसार 'सलिल' था। 'सलिल' शब्द का

लौकिक संस्कृत में पानी अर्थ है ही! परन्तु इस का क्या अभिप्राय? परमात्मा के साथ पानी कैसे मौजूद था?

इतरधर्मावलम्बियों को यही धोखा हुआ है। सलिल का अर्थ उन्हों ने पानी कर लिया। परन्तु नहीं, वैदिक संस्कृत के अनुसार 'सलिल' का अर्थ है—'प्रकृति'। सति लीयते इति सलिलम्-जो सदवस्था में लीन हो जाये उसे सलिल कहते हैं। प्रकृति नष्ट नहीं होती। अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं होती। सलिल से, प्रकृति से, Matter से ही सृष्टि की उत्पत्ति होती है और वह प्रकृति अनादि काल से परमात्मा के साथ रहती है—यही उक्त वेद मन्त्र का अभिप्राय है। ऋषि दयानन्द ने इसी लिये वेदों के यौगिक अर्थ करने पर बल दिया है। वेदों के रूढ़ि अर्थ करना भी एक प्रकार की मूर्तिपूजा है और उसी का परिणाम ही 'सलिल' शब्द का इतिहास है। एक भारी आध्यात्मिक सच्चाई रूढि अर्थ करने से कितनी उपहासास्पद हो सकती है, इस का क्या ही अच्छा नमूना है!

सृष्टि तथा सृष्ट्युत्पत्ति सम्बन्धी इन साधारण समानताओं के अनन्तर हम सृष्ट्युत्पत्ति की एक अपूर्व तथा आश्चर्यकारी समानता का दिग्दर्शन अगले लेख में करायेंगे।

परिवर्तन—तत्व

परिवर्तन—रत जयति सतत संसार सत्य-मय
सुन्दर सरल सुढाल सुगम सुविधा- सुकृत्य-मय

परिवर्तन है प्राण प्रकृति के अविकल क्रम का
परिवर्तन-क्रम ज्ञान मर्म है निगमागम का

परिवर्तन है हीर सृष्टि के सौन्दर्यों का
परिवर्तन है बीज विश्व के आश्चर्यों का

निभ सकता नहिं प्रकृत धर्म-क्रम परिवर्तन बिन
चल सकता नहिं प्रगति-कर्म क्रम परिवर्तन बिन

परिवर्तन का अतः अरे मत कर अवहेलन
लख ले उसका सुघर स्व-सत्ता से शुचि मेलन

पाय तत्व का ज्ञान तथ्य को स्वीय बनाले
परिवर्तन-आदर्श आशुता से अपनाले

मलिंगार
मसूरी ७.५. २५

—श्रीधर पाठक।

हिन्दुओं के प्रति

(द्रष्टा)

हिन्दू जाति को अपने विविध प्रकार के वास्तविक बल का—अपने शारीरिक बल का, ऐक्य बल का, अनुराग-बल का—यथार्थ अथवा पर्याप्त परिचय नहीं है, इसी से उस की कर्तव्य-निष्ठता में शोचनीय शिथिलता अधिष्ठित हो रही है। जाति-पांति-जनित अगणित सामाजिक भेद विभेद, छूआ—छूत, मतमतान्तर, धार्मिक-दृष्टि कोण की विभिन्नता से उत्पन्न अनेकों सम्प्रदाय और इन सब में अटूट आग्रह का अभ्यास तथा अनेकों अन्य दुःस्थितियां और अशक्तियां हिन्दुओं को उस एकीभूत आत्म-बल और सुदृढीभूत दुर्धर्षता के घनीभूत गुणों से सदैव वंचित रखती हैं जिनके बिना इस युग में कोई जाति, इतर जातियों की प्रबल प्रतियोगिता में, अपने स्वत्वों और सत्वों का सर्वांगीण संरक्षण नहीं कर सकती। इस स्थिति का मुख्य कारण हमारी अपरिवर्तन—शीलता है। हमें चाहिये कि सार्वभौम और सर्वकालीन शाश्वत धर्म पर दृढ़ता से आरूढ़ रहते हुए अपने उन उपधर्मों को जो शाश्वत धर्म के आधार पर देश और काल की स्थिति जनित अपेक्षा-पूर्ति के लिये हमारे पूर्वजों ने समय समय पर बना लिये थे और जिन में से बहुत से अब तक प्रचलित हैं, स्थिति परिवर्तन के साथ साथ, शाश्वत सिद्धान्तों को सुरक्षित रखते हुए परिवर्तित करते रहें।

जातक, उपनयन, विवाह, अन्त्येष्टि संस्कार; विद्योपार्जन, धनोपार्जन; गार्हस्थ्य जीवन; तथा सामाजिक व्यावहारिक जीवन अर्थात् परस्पर में रहन सहन, उठन बैठन, खान पान, स्पर्शास्पर्श; तथा आचार विचार, आहार विहार सम्बन्धी आचरण; तथा सामान्य यात्रा, तीर्थ यात्रा, विदेश यात्रा, आदि नैत्यिक व्यापारों से सम्बद्ध जो नियम हैं, वह सभी उपधर्म हैं। इन में देश और काल की विभिन्नता से परस्पर विभिन्नता होते हुए आवश्यकता के अनुसार बार बार परिवर्तन करना एक महान धार्मिक कर्तव्य है।

हिन्दू जनता का मनन—शील शिक्षित विभाग इस महत्व-विशिष्ट रहस्य से निश्चय ही भली भांति अभिज्ञ है। क्या उस की सेवा में इस तत्व की सुविस्तृत व्याख्या करने

की आवश्यकता है ? समस्त हिन्दू समाज इस बात से न्यूनाधिक परिचित है। इतना ही नहीं वह अपने चारों ओर, और स्वयं अपने में, सर्वत्र प्रतिक्षण परिवर्तन प्रवर्तित होता देखता है; वह जानता है कि सांसारिक जीवन-मात्र परिवर्तन-मय है, बिना परिवर्तन के जीवन असम्भव है। संक्षेपतः मानव समाज का सारा जीवन ईश्वरीय धर्म और मानवीय उपधर्म के आधार पर ही स्थिर रह सकता है। ईश्वरीय धर्म शाश्वत और अपरिवर्तनीय है, मानवीय उपधर्म दैशिक और कालिक (अथवा कहिये स्थानिक और क्षणिक) है। उस में, दैशिक और कालिक परिस्थिति परिवर्तित होने पर परिवर्तन करना आवश्यक होता है। अतः हिन्दू जाति को जीवित रहने के लिये अपने उपधर्मों में ऐसे प्रबल परिवर्तन कर डालने चाहियें जिन में हिन्दू-सत्ता को चिरस्थिर रखने की व्यापक शक्ति हो। अपनी सारी दुर्बलताओं का स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करके उन्हें एक एक करके तुरन्त त्याग देना चाहिये और संसार भर की सबलताओं का अनुशीलन पूर्वक संग्रह करना चाहिये; अपने रग रग और रेशे रेशे में, नस नस और हड्डी हड्डी में अविकल विश्व-प्रेम के साथ ही पर-आक्रमण-क्षम प्रबल पराक्रम का पर्याप्त समावेश करने में सदैव संसक्त रहना चाहिये। अपनी "छुई मुई" प्रकृति को "पारस" प्रकृति में परिवर्तित कर लेना चाहिये। आवश्यकता पड़ने पर "रक्तबीज" बन जाने की सुगमता संपादन कर लेनी चाहिये। अवसर उपस्थित होने पर अपने बलिष्ट वीर्य, अधृष्य धैर्य, और अलक्ष्य शौर्य की संसार पर छाप लगा देने का पक्का संकल्प कर लेना चाहिये। जीवित विश्व में जीवित जातियों की धाक इसी विधि से जमती है, उस के लिये दूसरा विधान नहीं है। और यह स्पष्ट है कि किसी को न सताओ, पर जो तुम को सतावे या सताने की चेष्टा करे उसे दिखादो कि तुम को सताना एक अति कठिन व्यापार है। जातीय धाक का यही सच्चा स्वरूप है। जातीय धाक जातीय जीवन की आवश्यक सामग्रियों में है।

वर्णाश्रम प्रथा को यदि तुम अपनी जातीयता का प्राण समझते हो तो उसे उसके असली (आद्य) रूप में ले आओ, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति में प्रत्येक वर्ण की शक्ति का संनिधान करने के प्रयत्न में भी प्रवृत्त हो जाओ। प्रत्येक

वर्ण में चातुर्वर्ण्य की प्रवृत्ति प्रतिष्ठित हो जानी आवश्यक है। बल्कि इस से भी अधिकतर शक्ति का संचार और संग्रह प्रत्येक हृदय में हो जाना अपेक्षित है। याद रक्खो, इस जीवित-मर्त्य संश्लिष्ट सबल संसार में निर्बलों को मौत ही मौत है। सिर्फ सबलों और समर्थों ही को, जो कि मनुष्य की भांति जीने और मरने की कला में कुशल हैं और तदनुकूल आचरण के अभ्यासी हैं, जीवन के सुखों के उपभोग करने का अधिकार है।

हम को अपनी शक्ति की सत्ता विश्व की आंखो के सामने प्रदर्शित करने का अभ्यास डालना चाहिये। हम उन शक्तिशाली गुणों का ग्रहण क्यों नहीं करते जिन से हमारी ओर सारा संसार सदैव समुचित समादर की दृष्टि से ही देखे और कोई सुर या असुर अवहेलना की उंगली न उठा सके? हम में किस क्षमता की कमी है, किस संभावना की असंभावना है? हमें अपने को अपनी अन्तर्दृष्टि से देखना चाहिये। क्या यह आश्चर्य और लज्जा की बात नहीं है कि हमारी इतनी अधिक संख्या होने पर भी हम में इतनी अधिक निर्बलता है? सोचने का विषय है कि हमारा हिन्दू होना हमारे लिये गर्व और गौरव की बात है या लज्जा का हेतु है। जब हिन्दू हिन्दू से भेंट होती है, हृदय में कैसा भाव उत्थित होता है? क्या एक हिन्दू दूसरे हिन्दू से हमेशा दिल खोल कर और सच्चे प्रेमभाव से मिलता है? एक हिन्दू का दूसरे हिन्दू से संसार में क्या नाता है, क्या सगापन है? यदि हम अपने वास्तविक रूप को जानें और अपनी प्रकृत शक्ति को पहचानें तथा उस का उचित उपयोग करें तो हमारे लिये क्या क्या श्रेय संभव नहीं हैं?

हम बात बात में शास्त्र की दुहाई देते हैं। सारे संकटों से उद्धार का उपाय उसी में ढूँढते हैं, और यह नहीं देखते कि सारा सच्चा शास्त्र, सूत्र रूप में, हमारे सच्चे हृदय में भरा हुआ है। क्या हमारा शास्त्र हम को किसी उचित आवश्यक आचरण से रोकता है? क्या हमारा शास्त्र हमको किसी कल्याण-कर कार्य के अनुष्ठान में प्रवृत्त होने का निषेध करता है? क्या वह हमें असमर्थ, निष्क्रिय, परावलम्बी दास बनने का विधान करता है? क्या वह हमें दिन दिन दैन्य के गहन-गर्त में गिरने से बचने की विशिष्ट विधि नहीं बताता? क्या शास्त्र हम

से हमारी नर-देह-प्राप्त पवित्र प्रवृतियों तथा सहज स्वतंत्रताओं को अन्याय्यतया छीनता है? पुरुषों को पुरुषों के और स्त्रियों को स्त्रियों के अधिकार देने में हिचकिचाता या "गोलमाल" डालता है? अनेकों असंभवनीय संभावनाओं का प्रलोभन अथवा असंभाव्य भय दिखाकर हमारे जीवन को कठिन समस्यामय बनाता है? उलझनों को सुलझाता नहीं, फैलाता है? यदि हमारा शास्त्र इन या इन के ढंग की अन्य विशेषताओं से विशिष्ट है तो उस का शासन हम न मानेंगे, उस को हम बदल डालेंगे। यदि हम उसे न बदल डालेंगे तो वह हमें दल डालेगा, कुचल डालेगा। रक्षक से भक्षक और शासक से नाशक बन जायगा। हमारा शास्त्र हमारे पूर्वजों की बनाई वस्तु है। हमारे पूर्वज बहुज्ञ और दूरदर्शी अवश्य थे, परन्तु सर्वज्ञ और सर्वदर्शी नहीं थे। जो उन का दृष्टि कोण था, जिस से कि उन्होंने शास्त्र की सृष्टि की थी, वह हमारा दृष्टि-कोण नहीं है। दृष्टि-कोण सर्वकाल के लिये एक नहीं रह सकता; कुछ काल के अनन्तर, परिवर्तन-रत काल-चक्र के बल से, बदल जाता है। दृष्टि दौड़ाओ और देखो कि काल क्या सृष्टि कर रहा है। पूर्व दृष्टि-कोण अब किस स्थल पर है और कितना जल्द जल्द बदल रहा है। बदले और बदलते हुए दृष्टि कोण से वीक्षण करो और आवश्यकतानुसार निस्सार अंगों का पुनः संस्कार आरम्भ करदो। समग्र विग्रह को परिवर्तन की तीव्र शान पर चढ़ा दो या और औजारों द्वारा चिरकाल से चढ़े हुए मैल और मोरचे को घिस कर, रगड़कर, खुरचकर, निकाल डालो और नवीन संचार चलने दो।

* स्वदेशानुराग *

घिस जाय सिल पर क्यों न, चन्दन की महक जाती नहीं।
बंध जाल में भी बुलबुलों की, वह चहक जाती नहीं॥
अभिजात मित्र, अमित्र हो, दुःख बीज को बोता नहीं।
प्रिय देश के दुःख से जला, सुख नींद से सोता नहीं॥ १॥

मद-मत्त-करि-वर-वृन्द में भी, सिंह शिशु डरता नहीं।
बलिदान हो जो जन्मभू पर, वह अमर मरता नहीं॥
परमार्थ प्रेमी स्वार्थहित नित, पाप को ढोता नहीं।
प्रिय देश के दुःख से जला, सुख नींद से सोता नहीं॥ २॥

* यमयमी-सूक्त *

(ले०—प्रो० चन्द्रमणि विद्यालङ्कार, पालीरत्न)

श्री पं० चमूपति जी एम. ए. ने यमयमी-सूक्त को विचित्र व्याख्या करते हुए जिस अनर्गल प्रणाली का आश्रय लिया है और जिस प्रकार वैदिक शब्दों का अनर्थ किया है, उसे देख कर अत्यन्त खेद होता है और सहसा महाभारत की यह उक्ति स्मरण आ जाती है 'बिभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति'। क्या इस प्रकार की व्याख्याओं से वेद का उद्धार होगा या संहार होगा? यदि इस प्रकार के व्याख्यान वेद-भक्तों की भक्ति को बढ़ाने लगे तो समझिए, वेदोद्धार का कार्य उस से भी अधिक पीछे पड़ जावेगा जितना कि ऋषि दयानन्द के प्रकाश से पूर्व था। श्री पं० सातवलेकर जी ने बड़े स्पष्ट शब्दों में श्री पं० चमूपति जी के लेख का उत्तर देते हुए उसकी अनर्थकता सिद्ध की, परन्तु पण्डित जी को फिर भी अपनी त्रुटि का ज्ञान नहीं हुआ और उन्हों ने अपने पूर्व लेख को ही परिपुष्ट करने का साहस किया। मैं समझता हूं इस में एक घुण्डी है, जब तक उस घुण्डी को नहीं खोला जाता तब तक सचाई को भी पं० चमूपति जी मानने को तय्यार नहीं होंगे। वह घुण्डी यह है कि आर्यसमाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द ने यमयमी सूक्तान्तर्गत 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' की व्याख्या नियोग परक की है। जब तक यह गांठ नहीं खुलती तब तक पण्डित जी दिन को रात बना कर भी वेद-मंत्रों की व्याख्या करने में अपने आपको कृतकृत्य समझेंगे।

हम अपने इस लेख को तीन खण्डों में विभक्त करेंगे—

पहला, पं० चमूपति जी की स्थापनाओं का खण्डन। दूसरा स्वपक्ष-स्थापन। और तीसरा, तदनुसार यमयमी-सूक्त की व्याख्या करते हुए उस की पुष्टि।

यमयमी-सूक्त के सत्यार्थ को परिपुष्ट करने से पूर्व पं० चमूपति जी की अनर्गल व्याख्या की आलोचना करनी आवश्यक है। आइए, पाठकवृन्द! पहले उसकी पड़ताल करलें।

I. पूर्वपक्षी की स्थापनाओं का खण्डन।

पं० चमूपति जी ने अपने दोनों लेखों में मुख्यतया चार स्थापनायें की हैं, जिन पर उनका संपूर्ण महल खड़ा है। वे चार स्थापनायें ये हैं—

१. यमयमी पतिपत्नी हैं।

२. भ्राता स्वसा का अर्थ पति पत्नी है।

३. 'यम' सन्यासी होने वाला वैरागी है।

४. ऋषि दयानन्द 'यम' के इस भाव के पोषक हैं।

१. यमयमी पति पत्नी हैं।

१. ब्राह्मण ग्रन्थों का अनर्थ —पं० चमूपति जी ने यमयमी को पतिपत्नी सिद्ध करने के लिये ब्राह्मण-वचनों का जो अनर्थ किया है वह अत्यन्त खेद जनक है।

(क) 'अग्निर्वै यम इयं (पृथिवी) यमी आभ्यां हीदं सर्वं यतम्' इस शतपथ के प्रमाण (७. २. १. १०) को प्रस्तुत करते हुए परिणाम निकालते हैं कि यहां यम यमी का संबन्ध पति पत्नी का ही प्रतिपादन किया हुआ है।

श्रीमन्! यहां तो यम यमी का कोई भी संबन्ध प्रतिपादन नहीं किया, प्रत्युत 'आभ्यां हीदं सर्वं यतम्' के अनुसार 'यम' धातु से यम यमी का निर्वचन करते हुए पुल्लिङ्ग होने से अग्नि का नाम यम और पृथिवी को यमी बतलाया है। आपका यह तर्क ऐसा ही है कि जैसे कोई याज्ञवल्क्य गार्गी के समय में आर्यावर्त की स्थिति का वर्णन करते हुए यह कह दे कि उस समय याज्ञवल्क्य विद्वान् था और गार्गी विदुषी थी क्योंकि इन दोनों ने पूर्ण विद्या प्राप्त की हुई थी और इस से आप यह परिणाम निकाल लें कि याज्ञवल्क्य गार्गी का पति था।

(ख) पं० सातवलेकर जी के लेख को देख कर आपकी भी उपर्युक्त ब्राह्मण वचन से पूरी संतुष्टि नहीं हुई, अतः आपने अपनी स्थापना को पुष्ट करने के लिये फिर तैत्तिरीय ब्राह्मण का सहारा लिया। आप लिखते हैं—"लीजिए तैत्तिरीय ब्राह्मण में 'अग्ने पृथिवीपते' यह पाठ मिलता है। सम्भव है आपको आपत्ति हो कि 'पति' का अर्थ यहां स्वामी है। आगे चल कर कहा है 'तस्मिन् योनौ प्रजनौ प्रजायेय' अर्थात् इस गर्भ में मैं गर्भाधान करूं। प्रकरण उस प्रकार के पतित्व का है जिससे प्रजनन होता है"।

वाचकवृन्द! इस स्थल पर तो हमारे योग्य पण्डित जी ने विचित्र कौशल दर्शाया है। 'ईशावास्यमिदं सर्वं' में आये 'ईशा' शब्द मात्र से ईसाइओं के ईसा को सिद्धि से भी आगे बढ़ कर प्रकरण द्वारा भी यम यमी को पतिपत्नी सिद्ध कर दिया। लीजिए, पहले पं० जी के दर्शाये प्रकरण को तो देख लीजिए—

'अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि, अनमीवस्य शुष्मिणः।
प्र प्र दातारं तारिषः, ऊर्जं नो धेहि द्विपदे चतुष्पदे॥"

अग्ने पृथिवीपते! सोम वीरुधां पते! त्वष्टः समिधां पते! विष्णवाशानांपते! मित्र सत्यानां पते! मरुतो गणानांपतयः! रुद्र पशूनां पते! वरुण धर्मणां पते! इन्द्रौजसांपते! बृहस्पते ब्रह्मणस्पते! आरुचा रोचेऽहं स्वयम्, रुचा रुरुचे रोचमानः। अतीत्यादः स्वराभरेह, तस्मिन्योनौ प्रजनौ प्रजायेय। वयं स्याम पतयो रयीणाम्। भूर्भुवः स्वः स्वाहा॥ ३ का० ११ प्रपा० ४ अनु०

अर्थ—हे अन्नपति परमेश्वर! हमें आरोग्य तथा बल को देने वाले अन्न को प्रदान कीजिए (आत्मसमर्पक अपने भक्त को दुःख सागर से तराइए) और, हमारे मनुष्यों तथा पशुओं में बल को स्थापित कीजिए।

पृथिवी के स्वामी अग्रणी ! औषधिओं के मालिक शान्तिधाम ! चन्दनादि शुष्क इन्धनों के पति दीप्तिमान् ! दिशा उपदिशाओं के स्वामी सर्वव्यापक ! सत्य नियमों के स्वामी मित्र ! सत्य धर्मों के पति पापान्धकार-निवारक ! वसु रुद्र आदित्य आदि गणों के स्वामी जीवनाधार ! पशुओं के स्वामी रोगनिवारक! बलों के भण्डार, सामर्थ्यशाली होते हुए दुष्टों के विदारक ! महती वाणी के पति वेदपति परमात्मन् ! मैं सात्विक अन्न के सेवन द्वारा स्वयं दीप्ति से प्रदीप्त होऊं और स्वयं प्रदीप्त होता हुआ अपनी दीप्ति से दूसरों को भी प्रदीप्त करूं। हे प्रभो ! सांसारिक सुख को छोड़ कर उस पारलौकिक सुख को मुझ में धारण कीजिए, अर्थात् अभ्युदय के पश्चात् निःश्रेयस सुख को प्राप्त कराइए। ऐसे सुखसम्पन्न गृहस्थाश्रम में प्रकृष्ट सन्तान को पैदा करूं। एवं, हम सब भूलोक अन्तरिक्षलोक और द्युलोक-तीनों लोकों के धनों के स्वामी बनें। प्रभो ! यह मेरी प्रार्थना सच्चा हार्दिक प्रार्थना है।

वाचकवृन्द ! यह है प्रकरण। उपर्युक्त प्रकरण के इतने स्पष्ट होते हुए पं० चमूपति जी को अग्नि तथा पृथिवी का परस्पर में पतिपत्नी संबन्ध जोड़ने की न जाने कैसे सूझी। पण्डित जी के हाथ में कोई अद्भुत करामात हो तो ऐसा होना संभव है कि अपनी माया से सूर्य को भी चांद बना कर दिखादें।

'अन्नपतेऽन्नस्य नो देहि' आदि मन्त्र यजुर्वेद के ११ वें अध्याय का ८३ वां मंत्र है। उसी की विस्तृत व्याख्या यजुर्वेदीय तैत्तिरीय ब्राह्मण ने की है।

(ग) गोपथ उ० २. ६ का 'पृथिव्यग्नेः पत्नी' प्रमाण पेश करते हुए पं० चमूपति जी लिखते हैं "यम यमी का पतिपत्नीभाव इससे तो नितरां स्पष्ट ही है कि अग्नि (यम) पृथिवी (यमी) की पत्नी है"।

पाठकवृन्द ! जरा इस अमोघ अस्त्र की भी जांच कर लीजिए। गोपथ का उपर्युक्त प्रकरण इस प्रकार है—

आग्नीध्रो देवपत्नीर्व्याचष्टे। पृथिव्यग्नेः पत्नी, वाग् वातस्य पत्नी, सेनेन्द्रस्य पत्नी, धेना बृहस्पतेः पत्नी, पथ्या पूष्णः पत्नी, गायत्री वसूनां पत्नी, त्रिष्टुप् रुद्राणां पत्नी, जगत्यादित्यानां पत्नी, अनुष्टुप् मित्रस्य पत्नी, विराड् वरुणस्य पत्नी, पंक्तिर्विष्णोः पत्नी, दीक्षा सोमस्य राज्ञः पत्नीति।

मैं इसकी व्याख्या पण्डित जी पर ही छोड़ता हूं। वे ही बतलावें कि इस स्थल पर पतिपत्नी के संबन्ध का क्या रहस्य है ? अथवा यहां 'पत्नी' शब्द किसी और ही अर्थ का द्योतक है जो आप के अभिप्राय को सिद्ध नहीं करता ? एवं कोई भी ब्राह्मण-वचन पण्डित जी के मत का पोषक नहीं दीख पड़ता।

(२) सूक्त की अन्तःसाक्षि पतिपत्नी के विरुद्ध है—परन्तु इसके विपरीत यम यमी सूक्त की अन्तः साक्षि यमयमी के पतिपत्नी-भाव को पुष्ट नहीं करती, प्रत्युत उसके सर्वथा विरुद्ध ही पड़ती है। सूक्त के सातवें मंत्र में आता है 'जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्याम्'। इसका अर्थ पण्डित जी भी यही करते हैं कि

पति के लिये जायारूप में मैं अपना शरीर प्रकट करूं। इससे अत्यन्त स्पष्ट है कि 'यमी' अभी 'यम' को जाया अर्थात् पत्नी नहीं परन्तु पत्नी बनना चाहती है।

(३) यास्क पति पत्नी के विरुद्ध है—(क) यदि 'अग्निर्वै यम इयं यमी' इस शतपथ-वचन का आश्रय लेकर प्रस्तुत सूक्त में यमयमी को पति पत्नी माना जावे तो यह यास्कमत के सर्वथा विपरीत है। अग्नि और पृथिवी देवता पृथिवीस्थानीय हैं। परन्तु यास्क इस सूक्त में यम यमी को मध्यमस्थानीय देवता मानता है (निरु० ११ अ० २४ ख०)।

(ख) और यदि 'यमी' यमपत्नी होती तो यास्क यमी का निर्वचन 'यमस्य पत्नी' ऐसा अवश्य करते जैसा कि इसी ११ वें अध्याय में आये 'इन्द्राणी' का 'इन्द्रस्य पत्नी' और 'रोदसी' का 'रुद्रस्य पत्नी' किया है। अतः स्पष्ट है कि यास्क 'यमी' को 'यमपत्नी' नहीं समझते।

२. भ्राता स्वसा का अर्थ पति पत्नी है।

जो विद्वान् अपनी माया से यम यमी को उपर्युक्त ब्राह्मण-वचनों में पति पत्नी दिखला सकते हैं, उनके लिये यह कोई कठिन कार्य नहीं कि भ्राता को पति और स्वसा को पत्नी बना दें। आइए, इस की भी परीक्षा कर लें।

भ्राता—सायण और यास्काचार्य के प्रमाण देते हुए आपने भाई के अतिरिक्त भ्राता के भर्ता, पोषक, भागहर्ता-ये अर्थ और दिये हैं। और लिखा है "लौकिक भाषा में भ्राता शब्द का प्रयोग केवल भाई अर्थ में होता है, पोषक तथा भागहर्ता-इन अर्थों में केवल वेद ही में इस शब्द का प्रयोग है"।

पण्डित जी यहां कुछ भ्रम में पड़ गये हैं। वह यह भूल गये हैं कि भाई के वाचक 'भ्राता' शब्द का क्या निर्वचन है। यास्क का पाठ पण्डित जी ने पूरा नहीं दिया मैं उसे पूरा कर देता हूं—भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागं, भर्तव्यो भवतीति वा।

पण्डित जी ! भाई के वाचक भ्राता शब्द के ही ये तीन निर्वचन हैं। भर्ता (पोषक) भागहर्ता, और भर्तव्य होने से भाई को भ्राता कहते हैं। पिता के पश्चात् भाई ही बहिन का पोषक होता है अतः वह भर्ता है, भाई दायभाग का आहरण करता है अतः वह भागहर्ता है, भाई भाई को परस्पर में एक दूसरे की पालना करनी चाहिए अतः वह भर्तव्य है।

पण्डित जी द्वारा निर्दिष्ट 'परायाहि मघवन्' (ऋ० ३. ५३. ५) और 'अस्य वामस्य पलितस्य' (ऋ. १. १६४. १) मंत्रों में आये 'भ्राता' शब्द का अर्थ भर्ता भाई ही है अन्य कुछ नहीं। 'अस्य वामस्य' मंत्र में सूर्य अशनि और अग्नि-इन तीन को भाई बतलाते हुए त्रिविध अग्नि का प्रतिपादन किया है। मंत्र तथा 'भ्राता' शब्द की विस्तृत व्याख्या लेखक ने वेदार्थदीपक निरुक्तभाष्य में की है।

स्वसा—'स्वसृ' शब्द के निर्वचन में पण्डित जी यास्क (११ अ० ३२ ख०)

को बिलकुल भूल गये, क्योंकि यह उनके विपरीत पड़ता था। अच्छा, पण्डित जी जिससे बचना चाहते हैं उसे हम भी छोड़ देते हैं और उन के तर्क को ओर आते हैं।

'स्वसृ' का अर्थ अंगुलि निघण्टु-पठित है और सायण ने ऋ० १. ६२. ११ में 'स्वसरम्' का अर्थ 'स्वयमेव सरन्तीं निशाम्' किया है, अतः 'स्वसृ' का अर्थ 'अभिसारिका पत्नी' भी है।

इस अद्भुत तर्क को देखिए क्या उत्तम परिणाम निकलते हैं। 'गो' का अर्थ गाय, सूर्य, भूमि, मेघ, सूर्यरश्मि आदि है अतः 'गच्छतीति गोः' निर्वचन से 'गो' का अर्थ घोड़ा और गधा भी है। 'पिता' का अर्थ बाप, सूर्य, परमेश्वर, गुरु, उपदेशक है, अतः पालक होने से पति भी पिता है। 'माता' का अर्थ मां, परमेश्वर, प्रकृति है अतः उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थों के बनाने से पुत्री भी माता है। भगवन्! ऐसे सुतर्क से काम नहीं चलेगा।

मैं निश्चय से कह सकता हूँ कि अभी तक किसी भी प्राचीन आचार्य ने भ्राता का अर्थ पति और स्वसा का अर्थ पत्नी नहीं किया। यदि किया है तो पण्डित जी उसका प्रमाण पेश करें। बिना प्रमाण के पण्डित जी का तर्क लंगड़ा है और भयङ्कर गढ़े में गिराने वाला है।

शब्दों के यौगिकत्व से यह अभिप्राय नहीं कि आप मनघड़न्त अर्थ करते जावें। यदि यह विचार है तो सर्वथा अशुद्ध और निरुक्त-शास्त्र के विपरीत है। इस विचार को एकदम मन से दूर कर देना चाहिए। लौकिक भाषा में पाचक, कहार (क=उदक) परिव्राजक आदि यौगिक शब्द हैं परन्तु फिर भी वे रसोइए, जल भरने वाले कहार और पर्य्यटन करने वाले सन्यासी के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। पण्डित जी के मतानुसार प्रत्येक गृहिणी को पाचिका, सब मनुष्यों और स्त्रिओं को कहार या कहारी और प्रत्येक चलने फिरने वाले स्त्री पुरुष को परिव्राजिका या परिव्राजक नहीं कहा जाता। हमें आश्चर्य है कि वेदाध्ययन के इन प्रारम्भिक नियमों की ओर तनिक भी ध्यान क्यों नहीं दिया गया।

३. यम सन्यासी होने वाला वैरागी है।

पं० चमूपति जी लिखते हैं कि प्रस्तुत सूक्त में 'यम' सन्यासाश्रम में प्रवेशेच्छुक संयमी महात्मा है। सूक्त-रचना को देखने से स्पष्टतया पता लगता है कि यम ऐसा पुरुष नहीं।

(क) लम्बे संवाद के पश्चात् १२ वें मंत्र में यम ने पतिपत्नी के संबन्ध की अन्तिम अस्वीकृति बड़े प्रबल शब्दों में प्रकाशित करदी। और संबन्ध न करने का कारण 'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' कहते हुए 'न ते भ्राता सुभगे वष्टयेतत्' से जतला दिया कि बस मैं यह संबन्ध नहीं करूंगा।

यदि वह सन्यासी होना चाहता है और इसलिये संबन्ध नहीं करता तो वही कारण बतलाना चाहिए था, पाप कारण नहीं हो सकता। पाप तो कारण तब होता जब कि वह वनस्थ या संन्यस्त अवस्था में होता। जब तक उसने गृहत्याग नहीं किया तबतक धर्मानुसार ऋतुगामी होने पर कोई पाप नहीं। पाप की युक्ति तभी चरितार्थ हो सकती है जब कि यम यमी का संबन्ध पति पत्नी का न हो।

(ख) जब 'यमी' यम के अन्तिम वचन से निराश हो गई तब वह १३ वें मंत्र में कहती है कि मैं तेरे मन और हृदय को नहीं खींच सकी। अस्तु, तू किसी अन्य स्त्री के साथ ही संबन्ध स्थापित करेगा। उसके उत्तर में अन्तिम इस से मंत्र में यम कहता है, हां, तू किसी अन्य पुरुष को ही अपना पति बना। साफ है कि दोनों ही गृहस्थ-धर्म को तो पालन करना चाहते हैं, परन्तु परस्पर में नहीं।

इस स्पष्ट वर्णन को पं० चमूपति जी ने 'स्त्री-सुलभ तीक्ष्णता से कटाक्ष किया' और 'यम यह कहां स्वीकार करता है कि मैं दूसरी स्त्री को आलिङ्गन दूँगा' कह कर टालना चाहा है। आश्चर्य है, पण्डित जी ने यहाँ पर सभ्य तरीके के मनुष्य-स्वभाव को सर्वथा भुला दिया। यदि कोई स्त्री किसी दूसरे पुरुष से विवाह-संबन्ध का प्रस्ताव करती है तो अनिच्छा होने पर यही उत्तर मिलेगा कि मैं आप से संबन्ध नहीं करना चाहता। उसके साथ यह कभी नहीं कहा जावेगा मैं अमुक के साथ संबन्ध करूंगा। वैदिक वर्णन मनुष्य-स्वभाव के इस उच्च तरीके की शिक्षा क्यों न देता। अतः, १३ वें मंत्र के पूर्वार्ध का ही उत्तर देना उचित था और 'अन्या किल त्वां' इत्यादि उत्तरार्ध के लिये मौनावलम्बन ही योग्य था।

(ग) नियोग के प्रतिपादन के लिये सन्यासी होने वाले यम और उस की पत्नी का यह संवाद किसी उच्च भाव का द्योतक नहीं। यदि गृहस्थाश्रम में ही किसी महात्मा को पूर्ण वैराग्य उत्पन्न होगया हो तो वैदिक मर्यादा से परिपूरिता सहधर्मिणी का भी वैसा ही उज्वल चरित्र खींचना बड़ा भावपूर्ण होता। आप ही विचारिए कि बड़े परिश्रम से अत्यन्त खींचातानी के साथ आपके मतानुसार यमयमी-सूक्त का अर्थ करने पर भी एक यति सन्यासी की सहधर्मिणी का यह चरित्र शोभाजनक है या उपनिषत्प्रतिपादित याज्ञवाल्क्य की पत्नी मैत्रेयी का 'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्य्याम' इत्यादि चरित्र उज्ज्वल है? नियोग का प्रतिपादन तो किसी अन्य विधि से और इस से भी अच्छे तरीके पर हो सकता था। अतः, बलात्कार 'यम' को 'सन्यासी होने वाला' मानकर सूक्त की संगति लगाना वेद के गौरव को घटाना है।

(घ) 'नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीवे' आदि पराशर-स्मृति का प्रमाण उद्धृत करते हुए पं० चमूपति जी लिखते हैं कि सन्यासी हो जाने पर सन्तानाभाव में पत्नी को नियोग करने का अधिकार है। ठीक है, परन्तु आपका यम तो

सन्यासी नहीं है सन्यासी होना चाहता है। इस सूक्त के प्रथम ही मंत्र में आप 'पितुर्नपातमादधीत' वाक्य का अर्थ 'अपने पिता की सन्तति को चलाये' करते हुए पण्डित जी भी इस बात को स्वीकृत करते हैं कि 'यम' की अभी कोई सन्तान नहीं हुई।

क्या यह यम विवाह करते ही पूर्ण वैरागी होगये ? और क्या इस बात को वेद आज्ञा दे सकता है कि कोई मनुष्य विवाह करते ही बिना सन्तानोत्पत्ति किये घर छोड़ कर भाग जावे और पत्नी को दुरवस्था में डाल दे ? यदि ऐसा आकस्मिक वैराग्य है तो मैं समझता हूं वह सर्वथा झूठा वैराग्य ही होगा उसे हम सच्चा और पूर्ण वैराग्य कभी नहीं कह सकते। यदि उस वैरागी ने गृह-त्याग करना ही था तो दो मास के पश्चात् भी कर सकता था, इस अन्तर में गर्भाधान करके पितृ ऋण से मुक्त हो जाता और व्यर्थ में ही पत्नी को आपत्काल में डाल कर नियोग के लिये बाधित न करता।

४. ऋषि दयानन्द के अर्थ से विरोध।

पं० चमूपति जी ने 'यम' को सन्यासी मानकर यथा कथंचित् यमयमी-सूक्त की संगति लगाने का प्रयत्न केवल इस लिये किया है कि आचार्य दयानन्द ने सत्यार्थप्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' की व्याख्या नियोग परक की है। परन्तु पता लगता है कि ऋषि के पोषक पण्डित जी ने संगति लगाते समय सत्यार्थप्रकाश के उस स्थल को भी पढ़ने का कष्ट नहीं किया। आप ऋषि दयानन्द के नाम पर सूक्त की संगति तो लगाने बैठे, परन्तु संगति लगाते २ ऋषि के अर्थ से अत्यन्त दूर चले गये, और अपनी मनघड़न्त व्याख्या को आर्षानुकूल प्रसिद्ध किया।

अब आप ऋषि के ही शब्दों में 'अन्यमिच्छस्व' की व्याख्या देखिए—

"जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे तब अपनी स्त्री को आज्ञा देवे कि (सुभगे !) हे सौभाग्य की इच्छा करने हारी स्त्री ! तू (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे पति को (इच्छस्व) इच्छा कर, क्योंकि अब मुझ से सन्तानोत्पत्ति न हो सकेगी। तब स्त्री दूसरे से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति करे, परन्तु उस विवाहित महाशय पति कि सेवा में तत्पर रहे। वैसे ही स्त्री भी जब रोग आदि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे, तब अपने पति को आज्ञा देवे कि हे स्वामी ! आप सन्तानोत्पत्ति की इच्छा मुझ से छोड़ के किसी दूसरी विधवा स्त्री से नियोग करके सन्तानोत्पत्ति कीजिए"।

"जब पति सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे' इस वाक्य को "वैसे ही स्त्री भी जब रोगादि दोषों से ग्रस्त होकर सन्तानोत्पत्ति में असमर्थ होवे"' इस वाक्य के साथ मिला कर संगति लगाने से साफ पता लगता है कि यहां रोगजन्य असमर्थता ही अभिप्रेत है, सन्यासिजन्य असमर्थता

नहीं। और फिर 'परन्तु उस विवाहित महाशय पति की सेवा में तत्पर रहे' यह वाक्य ऋषि के भाव को और भी स्पष्ट कर देता है।

पण्डित जी! यहां तो स्वामी जी को 'यम' का अर्थ 'सन्यासी' अभिप्रेत ही नहीं।

'यमाय' का अर्थ यजुर्वेद ७. ४१ में ऋषि ने 'गृहाश्रमजन्यविषयसेवनादुपरताय यमनियमादियुक्ताय' किया है और यहां सत्यार्थप्रकाश में यमयमी सूक्तान्तर्गत 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' का अर्थ नियोग परक किया है, अतः इस सूक्त में ऋषि को 'यम' से सन्यासी अभिप्रेत है-यह संयोजन 'कहीं की ईंट कहीं का रोड़ा भानमती ने कुणवा जोड़ा' के समान ही है।

पाठकगण! पण्डित जी की इन चारों स्थापनाओं में कितना बल है, यह आप ने जांच लिया। ऐसी स्थापनाओं के आधार पर भवन कितना दृढ़ बन सकता है, इसे आप स्वयं ही विचार सकते हैं। स्पष्ट है कि उस में अवश्यमेव अनेक दोष होंगे। अतः, उन सब की यहां समालोचना न करते हुए हम यथार्थ पक्ष की स्थापना करते हैं। उस में यथावसर कुछ एक अन्य दोषों की भी परीक्षा हो जावेगी।

II. स्वपक्ष-स्थापन।

(१) हमारा मत है कि प्रस्तुत सूक्त में यम यमी निस्सन्देह भाई बहिन हैं। इसकी पुष्टि के लिये हम निम्न लिखित प्रमाण पेश करते हैं—

(क) अन्तः साक्षि—किसी की पुष्टि के लिये सब से प्रबल प्रमाण अन्तः साक्षि ही हुआ करता है। मंत्र ११ में यम यमी के लिये 'भ्राता' 'स्वसा' का प्रयोग किया गया है। और १२ वें मंत्र 'पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्' में फिर यमी के लिये 'स्वसारं' प्रयुक्त है। ये शब्द सिवाय भाई बहिन के अन्य किसी भाव में कभी प्रयुक्त ही नहीं होते—यह हम पहले दर्शा ही चुके हैं।

(ख) लौकिक संस्कृत का प्रमाण—पं० चमूपति जी व्याकरण का सहारा लेकर बड़े दावे के साथ कहते हैं कि 'यम' की बहिन 'यमा' हो सकती है 'यमी' कभी नहीं। 'यमी' का अर्थ सदैव 'यम की पत्नी' ही होगा। उनके इस लेख से पता लगता है कि वे लौकिक संस्कृत से अत्यन्त अनभिज्ञ हैं। आप ज़रा शब्दकल्पद्रुम वाचस्पत्य तथा अमरकोश आदि कोषों को देखिए।

(१) वहां 'यमुना' नदी के 'यमभगिनी' और 'यमी' ये दो नाम और दिये हुए हैं। एवं, 'यम' का पर्यायवाची 'यमुनाभ्राता' बतलाया गया है। हमें इस कल्पना में जाने की कोई आवश्यकता नहीं कि 'यम' यमुना नदी का भाई क्यों है? परन्तु यह स्पष्ट है 'यम' यमुनाभ्राता है और 'यमुना' के समानार्थक शब्द 'यमभगिनी' और 'यमी' भी हैं। अतः निस्सन्देह यम यमी भाई बहिन हुए।

(२) और देखिए, भाईदूज नामक प्रसिद्ध त्योहार जो दीपावली के

तीसरे दिन प्रायः संपूर्ण भारत में मनाया जाता है उसका संस्कृतनाम 'भ्रातृ-द्वितीया' है। 'भ्रातृद्वितीया' का पर्यायवाची नाम 'यमद्वितीया' कोषों में उल्लिखित है। इससे भी यही परिणाम निकलता है कि यम यमी भाई बहिन ही हैं।

(३) परन्तु इसके विपरीत संस्कृत का अत्यन्त स्पष्ट प्रमाण है कि 'यम' की पत्नी का नाम 'यमी' बिल्कुल नहीं। शब्दकल्पद्रुम में 'यमपत्नी' का अर्थ लिखा है 'यमस्य भार्या। यमस्य द्वे भार्ये धूमोर्णा विजयेति जटाधरः'।

एवं, कोषकार 'यमपत्नी' का अर्थ यमुना तथा यमभगिनी करता है। यदि 'यमी' यमपत्नी होती तो अवश्यमेव 'यमी' का अर्थ यमपत्नी करता। अतः यह असंदिग्ध है कि 'यमी' यम की पत्नी नहीं प्रत्युत भगिनी है। व्याकरण से चाहे 'यमी' का अर्थ 'यमपत्नी' भी हो सकता हो, परन्तु साहित्य की दृष्टि से वह सर्वथा अशुद्ध ही कहलायेगा।

(ग) व्याकरण प्रमाण—इतने स्पष्ट प्रमाणों के होते हुए यम-भगिनी के अर्थ में प्रयुक्त 'यमी' की सिद्धि के लिये व्याकरण-प्रमाण देने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यदि फिर भी आग्रह हो तो लीजिए व्याकरण-प्रमाण भी दे देते हैं।

पं० चमूपति जी पुंयोगादाख्यायाम् (पा० ४.१.४८) सूत्र देकर सिद्ध करते हैं कि यमपत्नी अर्थ में ही 'यम' से 'ङीष्' प्रत्यय होगा अन्यथा नहीं। पण्डित जी! 'पुंयोगादाख्यायाम्' का अर्थ तो यह है कि जो पुल्लिङ्ग नाम पुरुष के योग से स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त है उससे 'ङीष्' हो जाता है। यहां स्त्रीपुरुष का एकमात्र दम्पतीभाव कहां से आगया? स्त्री पुरुष के संबन्ध पितापुत्री, भाई बहिन भी तो हैं? वे कैसे छूट जावेंगे? अत एव कौमुदीकार लिखते हैं "योगः संबन्धः। सचेह दम्पतिभाव एवेति नाग्रहः। संकोचे मानाभावात्" अर्थात् योग कहते हैं संबन्ध को। और वह यहां दम्पतिभाव ही है- ऐसा आग्रह नहीं, क्योंकि स्त्री पुरुष के संबन्ध को संकुचित अर्थ में ग्रहण करने के लिये कोई प्रमाण नहीं। आगे कौमुदीकार उदाहरण देता है कि केकय राजा की पुत्री का नाम 'केकयी' इसी सूत्र से निष्पन्न होता है। पण्डित जी के व्याकरणानुसार तो 'केकयी' केकय की पत्नी बन जावेगी। भगवन्! ऐसा अनर्थ न कीजिए। पुत्री को पुत्री और बहिन को बहिन ही रहने दीजिए, उन्हें पिता या भाई की पत्नी न बनाइए।

इस प्रकार आपने देख लिया कि अभी तक संस्कृत वाङ्मय में यमयमी का यदि कोई संबन्ध स्थापित है तो एकमात्र भाई बहिन का ही है अन्य कोई नहीं।

(२) 'यम' सहजात जोड़ा और असहजात जोड़ा इन दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है। यहां असहजात जोड़े के अर्थ में प्रयुक्त है। एवं, यम और यमी सगोत्र भाई बहिन हैं सगे नहीं।

संपूर्ण सूक्त में ऐसा कोई शब्द नहीं जिससे सगे भाई बहिनों की कल्पना की जा सके। पंचम मंत्र के 'गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कः' वचन को देख कर

कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं कि यहां तो स्पष्टतया सगे भाई बहिन ही अभिप्रेत हैं। यह उन की भूल है। यहां पर 'नौ' शब्द द्वितीयान्त नहीं प्रत्युत षष्ठ्यन्त है। एवं, इसका अर्थ यह होगा कि 'उत्पादक परमेश्वर ने हमारे कई भाई बहिनों को गर्भ में दम्पती बनाया है'।

(३) गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। १०.८५.३६
विधवेव देवरम् मर्यं न योषा। ऋ० १०.४०.२
उदीर्ष्व नार्यभिजीवलोकम्। ऋ० १०.१८.८

इत्यादि मंत्रों में विवाह और नियोग का सामान्यतया विधान है। परन्तु यमयमी-सूक्त सगोत्र-विवाह और सगोत्र-नियोग का निषेधक है।

असपिण्डा च या मातुरसगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ मनु ३.५

अर्थात्, जो स्त्री माता की छः पीढ़ी और पिता के गोत्र की न हो, वह द्विजों के लिये (दारकर्मणि) विवाहार्थ और (मैथुने) नियोग में गर्भधारणार्थ प्रशस्त है।

उपर्युक्त मनुवचन का मूल यही यमयमी-सूक्त है। इसी वेदाज्ञा को सामने रखते हुए ऋषि दयानन्द ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के नियोग प्रकरण में लिखते हैं—"परन्तु माता, गुरुपत्नी, भगिनि, कन्या, पुत्रवधू आदि के साथ नियोग करने का सर्वथा निषेध है।" अत एव पुत्री का नाम 'दुहिता' है क्योंकि वह 'दूरे हिता' होती है। विवाह या नियोग के संबन्ध के लिये सगोत्रों से बाहर दूर निहित होती है।

सपिण्ड, सगोत्र, सनाभि, सजाति—ये सब शब्द शब्दकल्पद्रुम ने समानार्थक बतलाये हैं। इस अर्थ में 'जामि' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है जिसकी सिद्धि हम अभी करेंगे।

चतुर्थ मन्त्र में आये 'गन्धर्वो अप्सु अप्या च योषा' 'सा नौ नाभिः' 'परमं जामि तन्नौ' और १० वें मंत्र का 'जामयः' शब्द इसी सगोत्रता का द्योतक है।

(४) ये यम और यमी पूर्ण सन्यासी हैं। मन्त्र-व्याख्या के देखने से आपको स्पष्टतया ज्ञात हो जावेगा कि यमी के संयम में भी कोई सन्देह स्थल नहीं। 'पितुर्नपातमादधीत वेधा' 'एकस्य चिरत्वजसं मर्त्यस्य' 'विवृहेव रथ्येव चक्रा' आदि में यमी उच्च उद्देश्य का ही निर्देश कर रही है।

'काममूता' में उसने स्पष्टतया ही कह दिया है कि मैं यथेष्ट प्रवृद्धचेता होती हुई इस संबन्ध के लिये कह रही हूं।

अन्त में अपने प्रस्ताव के न माने जाने पर दुःखी नहीं होती प्रत्युत 'बतो बतासि' कहती हुई बड़ी प्रसन्नता प्रकट कर रही है। यमी का प्रस्ताव अशिष्ट

है, भाव पापपूर्ण नहीं प्रत्युत पवित्र है।

सगोत्र वालों में दम्पती संबन्ध मानुषी कल्पना के भी बाहर है—यह बात ठीक नहीं। इस पाप-कर्म को अनेक जातियें और व्यक्तियें करती रही हैं और कर रही हैं। इस का निषेध करना आवश्यक ही था।

सगोत्र वालों में विवाह के लिये जिस किसी तरह भी बुद्धि और हृदय को अपील किया जा सकता है, किया गया। और फिर उसके ठीक २ उत्तर देकर निषेधात्मक परिणाम निकाला गया जिस से प्रस्तावकर्त्री यमी भी सहमत हो गई। यह है संवाद का रहस्य।

पं० चमूपति जी को भाई बहिन के पक्ष में 'बाजारू बातों' की गन्ध आने का एक मात्र कारण मंत्रों के यथार्थ अर्थों को न समझना ही है।

(५) यमयमी-सूक्त के नियोगपक्ष में यह स्पष्टतया विदित होता है कि 'यमी' का पति जीवित है परन्तु उस से कोई सन्तान नहीं हुई। प्रथम ही मंत्र में यमी कह रही है 'पितुर्नपातमादधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः' अर्थात् पितृवंश की चिन्ता करता हुआ मेरा विधाता पति पृथिवी पर अपने पिता के वंश का नष्ट न होने देने वाले प्रकृष्ट पौत्र को धारण करे।

सातवें मत्र में यमी कहती है 'विवृहेव रथ्येव चक्रा'' हम पतिपत्नी रथ के दोनों चक्रों के समान मिलकर उद्योग करें।

९वें मंत्र में 'यम' यमी और उस के पूर्व पति—दोनों के लिये परमेश्वर से कल्याण-प्रार्थना करता है।

नियोग-पक्ष में १३ वें तथा १४वें मंत्र को देखने से यह भी विदित होता है कि 'यम' की पत्नी से भी कोई सन्तान नहीं हुई। अतः वह भी किसी से नियोग करना चाहता है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं कि उस की पत्नी जीवित है या मर चुकी है। परन्तु यह असंदिग्ध है कि 'यमी' का पति अभी जीता है।

जिस प्रकार यम भाई ने यमी बहिन के लिये 'अन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्' का प्रयोग किया है उसी प्रकार असमर्थ पति पत्नी को और असमर्थ पत्नी पति को यह बात कह सकती है। अतएव ऋषि दयानन्द ने सत्यार्थ-प्रकाश के चतुर्थ समुल्लास में नियोग-प्रकरणगत उपर्युक्त मंत्र वचन का अर्थ 'हे सौभाग्य की इच्छा करने हारी स्त्री' इत्यादि किया है।

(६) अब 'जामि' शब्द पर और विचार करना रहगया है जिस के कारण सायणाचार्य तथा उस के अनुयायी विद्वान् 'आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि' मंत्र के अर्थ का अनर्थ करते हैं।

'जामि' पर विस्तृत विवेचन लेखक ने वेदार्थदीपक निरुक्तभाष्य में किया है। यहां पर संक्षेप से ही लिखा जावेगा।

'आ घा ता गच्छान्' मंत्र की व्याख्या यास्काचार्य ने नि० ४ अ० ४६ शा० में की है। वहां 'जामयः' 'अजामि' का अर्थ करते हुए लिखते हैं—जाम्यतिरे-

कनाम वालिशस्य वा समानजातीयस्य वोपजनः"। जामि अतिरेक का नाम है, मूर्ख का वाचक है, और समानजातीय अर्थात् सजाति का बोधक है। 'जामि' समानजातीय अर्थ में 'जा' में 'मि' का आगम करने से सिद्ध होता है। एक-स्मिन्कुले जायते इति जा, जा एव जामि-यह निर्वचन सजाति अर्थ में होगा।

दुर्गाचार्य ने अपनी व्याख्या में 'असमानजातीयस्य' ऐसा पदच्छेद किया है। पं० चमूपति जी ने भी बिना विचारे उसे ही मान लिया है। परन्तु यह उन की नितान्त भूल है। एक तो निघण्टु-व्याख्याकार देव-राजयज्वा ने 'अतिरेकवालिशसमानजातीयानां वाचको जामिशब्दः' लिखते हुए 'समानजातीय' ही पाठ माना है। और दूसरा 'असमानजातीयस्य वा उपजनः' इस पाठ से कोई आशय ही नहीं निकलता।'असमानजातीय' मानने से 'जामि' का निर्वाचन क्या होगा ? और तीसरे, सायणादि भाष्यकारों ने 'समानजातीय' के आधार पर अनेक स्थलों पर जामि का अर्थ 'ज्ञाति' या 'बन्धु' किया है। अतः 'समानजातीयस्य' ऐसा पाठ मानना ही संगत है।

यास्काचार्य ने 'आ घा ता गच्छान्' की व्याख्या में 'जामि' का पहला अर्थ 'अतिरेक' दिया है। अतः प्रस्तुत मंत्र में यह अर्थ अवश्य होना चाहिए।

अतिरेक के बारे में देखिए सायण क्या कहता है—

(क) जामि अतिरेकनाम, अतिरिक्तं अहितं प्रयोजनरहितम्। ऋ. ८. ६. ३.
(ख) जामि प्रवृद्धं सर्वमतिरिच्य वर्तमानम्। ऋ० ८.६१.४
(ग) अजामि दोषरहितम्। ऋ० ५. १९. ४
(घ) जामि योग्यमनुरूपम्। ऋ० १०. ८. ७

यहां तीसरा अर्थ पहिले अतिरेक के भाव को बतलाता है और चौथा अर्थ दूसरे अतिरेक का निर्देश करता है। 'अजामि' के 'दोषरहितम्' अर्थ में 'जामि' (वालिश) मूर्खता के भाव को भी प्रकट करता है।

एवं, आप देखिए कि 'जामि' के यास्ककृत तीनों अर्थ किस प्रकार 'आ घा ता गच्छान्' मंत्रमें सुसंगत होते हैं। अतएव 'यत्र जामयः कृणवन् अजामि' का अर्थ मैंने यह किया है—जहां कि सगोत्र (सजाति) स्त्री पुरुष महत्त्वयुक्त योग्य अनुरूप कार्य्य करेंगे।

वाचक वृन्द ! यद्यपि पं० चमूपति जी लिखते हैं कि ब्राह्मणग्रन्थ, यास्काचार्य, ऋषि दयानन्द, और व्याकरण-सब उन के मत का पोषण करते हैं। परन्तु यहां तक के मेरे लेख से आप को भलीभांति विदित होगया होगा कि इन में से कोई भी इनके मत का पोषक नहीं प्रत्युत सब के सब नितान्त विरुद्ध हैं। परन्तु मेरे पक्ष में ब्राह्मण, यास्काचार्य, ऋषिदयानन्द, व्याकरण, सायणाचार्य, बृहद्देवता आदि सभी हैं। इन सब का समन्वय सिद्धान्तरूप से मेरे पक्ष में ही हो रहा है।

अब आप मेरे लेख के तीसरे भाग 'मंत्र-व्याख्या' की ओर आइए। और देखिए उस व्याख्या से मेरे पक्ष की किस तरह पुष्टि हो रही है।

III. मंत्र-व्याख्या।

यमी की उक्ति।

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरूचिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमादधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः॥ १॥

(ओ चित्!) हे ज्ञानवान् यम! (सखायं चित् सख्या ववृत्याम्) तुझ श्रेष्ठ मित्र को मैं गृहस्थ-धर्म के लिये वर्तू-ग्रहण करूं (तिरः अर्णवं चित् पुरु जगन्वान्) यतः तू विद्यमान भवसागर में संपूर्णता को-पूर्ण यौवन को प्राप्त कर चुका है। (दीध्यानः वेधा) प्रकाशमान या हमारा ध्यान करता हुआ-हमारे पर अनुग्रह करता हुआ विधाता प्रभु (अधिक्षमि) पृथिवी स्थानीय मुझ स्त्री में (पितुःप्रतरं नपातं) पितृवंश को नष्ट न होने देने वाली प्रकृष्ट सन्तान को (आदधीत) धारण करे।

नियोग पक्ष में—(दीध्यानः वेधा) पितृवंश की चिन्ता करता हुआ मेरा विधाता पति (अधिक्षमि) पृथिवी पर (पितुः प्रतरं नपातं आदधीत) अपने पिता के वंश को नष्ट न होने देने वाले प्रकृष्ट पौत्र को धारण करे।

विशेष—दूसरा 'चित्' पूजार्थक है (निरु० १ अ० ४ ख०) सख्या=सख्याय, सुपां सुलुक् (पाणि० ७. १. ३९) से 'ङे' को 'आ'। तिरस्=प्राप्तम् (निरु० ३ अ० २० ख०)। पुरु=संपूर्णता, देखिए सुश्रुत क्या कहता है—चतस्रोवस्था शरीरस्य वृद्धिर्यौवनं संपूर्णता ततः किञ्चित्परिहाणिश्चेति। पूर्ण यौवन के पश्चात् चौथी वृद्धावस्था में विवाह या नियोग संबन्ध नहीं हो सकता। इस संबन्ध के लिये पूर्ण योवनावस्था ही सर्वोत्कृष्ट समझी जाती है। अतः उसी का यहां निर्देश किया गया है। 'दीध्यानः' रूप दीप्त्यर्थक 'दीधीङ्' या 'ध्यै' चिन्तायाम्-इन दोनों धातुओं से निष्पन्न होता है। क्षमि=क्षमायां, यहा आतो धातोः (पाणि० ६. ४. १४०) में 'आतः' योग विभाग से 'आ' का लोप हो गया है। जैसे क्त्वो ल्यप् (पा० ७. १. ३७) हलः श्नः शानज्झौ (पा० ३. १. ८३) इन पाणिनि सूत्रों में 'क्त्वायाः' को जगह क्त्वः' और 'श्नायाः' की जगह 'श्नः' आकारलोप से हो गया है। नपात्=पुत्र या पौत्र, न पातयतीति नपात्।

मंत्र से स्पष्ट है कि यहां भोग के लिये विवाह या नियोग का संबन्ध नहीं हो रहा प्रत्युत प्रकृष्ट सन्तान पैदा करना ही इसका एकमात्र उद्देश्य है, जैसे 'गर्भं धाता दधातु ते' आदि मंत्रों में प्रतिपादन किया हुआ है।

यम की उक्ति।

न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत् सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवोधर्तार उर्विया परिख्यन्॥ २॥

(ते सखा एतत् सख्यं न वष्टि) हे यमि बहिन! तेरा मित्र ऐसे गृहस्थ को नहीं पसन्द करता (यत् सलक्ष्मा विषुरूपा भवाति) यतः, समान चिन्हों

वाली बहिन विषमरूपा होती है, विवाह या नियोग के लिये अयोग्य होती है। (महः असुरस्य) पूज्य प्राणाधार परमेश्वर के (वीराः) वीर-पापनाशक (दिवः धर्तारः) और सत्य-प्रकाश-प्रदात्री वेदवाणी के धारण करने वाले (पुत्रासः, उर्विया परिख्यन्) पुत्र बड़े बल से ऐसे संबन्ध का प्रत्याख्यान करते हैं।

विशेष—सगोत्र स्त्री पुरुष प्रायः सलक्ष्म ही हुआ करते हैं। भाई बहिन मामा भानजा आदि के रूप किस तरह मिलते जुलते होते हैं, इसे प्रत्येक रूपदर्शी समझ सकता है। पं० चमूपति जी ने इस वैज्ञानिक सचाई को टालना चाहा है, परन्तु यह उनकी सरासर भूल है। इस समानता के कारणों को भी यदि आप ढूंडना चाहें तो आयुर्वेद-विज्ञान के शरीरशास्त्र को पढ़ लीजिए। वैज्ञानिक दृष्टि से ऐसा सलक्ष्म-संबन्ध दोषपूर्ण होने से सर्वथा त्याज्य है। वेद इसी सगोत्र विवाह या नियोग को विषमरूप कहता हुआ निषेध कर रहा है।

विषु, विषुण्, विषुण, विषम-ये सब शब्द वेद में समानार्थक हैं। (निरु० ४ अ० ४' १ श०, ११ अ० १६ श०, १२ अ० १० श०) वीर=पापनाशक, वीरयत्यमित्रान् (निरु० १ अ० ७ ख०)। उर्विया=उरुणा, 'टा' की जगह 'इयाट्' (पाणि० धा० ७. १. ३६)। अपपरी वर्जने (१. ४. ८८) में पाणिनि 'परि' को वर्जनार्थक भी मानते हैं।

य इन्दोः पवमानस्यानु धामान्यक्रमीत्।

तमाहुः सुप्रजा इति यस्ते सोमाविधन्मनः॥ ऋ० ६. ११४. १

(यः इन्दोः पवमानस्य) जो मनुष्य ऐश्वर्यधाम पावक परमात्मा के (धामानि अनु अक्रमीत्) सर्वसत्यविद्यास्थानों वेदों का अनुकरण करता है (सोम ! यः ते मनः अविधत्) और हे शान्तिधाम ! जो तेरे मनोनुकूल-तेरी आज्ञाओं के अनुसार चलता है (तं सुप्रजाः इति आहुः) विद्वान लोग उसको तुम्हारा 'सुपुत्र' कहते हैं।

यह है परमेश्वर के सुपुत्र का लक्षण। ऐसे सुपुत्र वेद की आज्ञाओं से प्रभावित हो कर सलक्ष्म संबन्ध का बड़ा घोर प्रत्याख्यान करते हैं अतः यह संबन्ध अनिष्ट है, यम ऐसे सम्बन्ध को नहीं चाहता।

यमी की उक्ति।

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।

नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमाविविश्याः॥ ३॥

(ते अमृतासः घ) हे यम भ्रातः ! वे अमृतपुत्र भी (एकस्यचित् मर्त्यस्य) एक मनुष्य के (एतत् त्यजसं) इस एक स्त्री-रत्न को (उशन्ति) चाहते हैं। (ते मनः अस्मे मनसि निधायि) अतः तेरा मन मेरे मन में निरन्तर स्थित हो, (जन्युः पतिः तन्वं आविविश्याः) और सन्तानोत्पत्ति करने वाला पति होकर इस शरीर को-मुझ को-प्राप्त हो।

नियोगपक्ष में—हे यम भ्रातः! वे अमृतपुत्र भी प्रत्येक मनुष्य के इस पुत्र-रत्न को चाहते हैं। अतः तेरा मन मेरे मन में नियोग पूर्वक स्थित हो, और सन्तानोत्पत्ति करने वाला पति बनकर मेरे शरीर में प्रविष्ट हो, अर्थात् मेरे अन्दर गर्भ धारण कर।

विशेष—त्यजस = धन, त्यज्यते म्रियमाणस्य पुरुषस्येहैवेति त्यजसम्। मरते हुए मनुष्य का धन यहीं छूट जाता है। धन मनुष्य के साथ नहीं जाता प्रत्युत यहीं रह जाता है। यास्काचार्य ने "परिषद्यं ह्यरणस्य रेक्णः नित्यस्य रायः पतयः स्याम। न शेषो अग्ने" इत्यादि मंत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है 'रेक्ण इति धननाम, रिच्यते प्रयतः। शेष इत्यपत्यनाम शिष्यते प्रयतः (३२ अ० २ ख) अर्थात् 'रेक्णस्' धनवाची है यतः स्वामी के मरने पर रिक्त रहजाता है, यहीं छूट जाता है। और 'शेष' का अर्थ अपत्य है, क्योंकि पिता के मरने पर सन्तान अवशिष्ट रह जाती है। 'परिषद्यं' मंत्र में धनवाची 'रेक्णः तथा 'रायः' शब्द यास्क ने 'पुत्र' अर्थ में प्रयुक्त किये हैं और इसी तरह 'स्त्री' को भी वेद ने बहुत्र धन कहा है अतः प्रस्तुत मन्त्र में 'त्यजस' के स्त्रीरत्न और पुत्ररत्न, ये अर्थ किये गये हैं।

विवाह-पक्ष में यमी कहती है कि वे अमृत-पुत्र भी इससे सहमत हैं कि एक पुरुष की एक पत्नी होनी चाहिए। यम! आपकी अभीतक कोई पत्नी नहीं और मेरा अभीतक कोई पति नहीं। अतः आइए सन्तानोत्पत्ति के लिये हम दोनों विवाह करलें।

नियोग पक्ष में यमी का कथन है कि प्रत्येक मनुष्य का एक न एक पुत्ररत्न अवश्य होना चाहिए—यह सिद्धान्त शिष्ट-सम्मत है। मेरा पति रोग आदि के कारण जन्यु अर्थात् सन्तानोत्पत्ति करने में असमर्थ है, अतः आप मेरे जन्यु (सन्तानोत्पत्तिकर्ता) पति बन कर मेरे अन्दर गर्भ धारण कीजिए।

यहां पर भी विवाह या नियोग एकमात्र सन्तानोत्पत्ति-हेतुक ही बतलाया गया है विषयभोग के लिये नहीं।

'मेरे शरीर में प्रविष्ट हो' के यथोक्त भाव को समझने के किये 'आत्मा वै पुत्रनामासि' 'एतैरेव प्राणैः सह पुत्रमाविशति' आदि वचनों का ध्यान कीजिए।

यम की उक्ति।

न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥

(यत् पुरा न चकृम) जो पहले ऐसा सगोत्र-संबन्ध हम अमृत-पुत्रों ने नहीं किया (कत् ह नूनं) भला अब कैसे (ऋता वदन्तः) सत्यनियमों को जतलाते हुए (अनृतं रपेम) असत्य नियम का प्रचार करें? (गन्धर्वः अप्सु) मेरा वेदज्ञ पिता प्राप्त संबन्धों में से है—तुम्हारे निकट संबन्धों में से

है, (योषा च अप्या) और मेरी माता निकटसंबन्धिनी है । (सा नः नाभिः) वह मेरी माता और यह मेरे पिता हम सब भाई बहिनों के सनाभि हैं-सगोत्र हैं (तत् नौ) इस लिये हम दोनों का (परमं जामि) परम सजातित्व है। अतः हमारे में विवाह या नियोग के संबन्ध का होना सर्वथा नियम विरुद्ध है।

विशेष—एवं, यम उत्तर देता है कि हे बहिन ! यह ठीक है कि एक पुरुष की एक पत्नी होनी चाहिए और प्रत्येक पुरुष का कोई न कोई पुत्र-रत्न आवश्यक है। परन्तु इसकी पूर्ति के लिये सगोत्र भाई बहिनों का विवाह या नियोग सत्य-नियमों के सर्वथा विपरीत है। ऐसे सत्य धर्म का विलोप कभी नहीं किया गया। अतः तुम्हारी प्रार्थना को मैं स्वीकार नहीं कर सकता।

यमी की उक्ति।

गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः ।
नकिरस्य प्रमिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौ ॥ ५ ॥

(देवः सविता विश्वरूपः त्वष्टा जनिता) हे भाई ! सर्वप्रकाशक सर्वप्रेरक सर्वद्रष्टा और जगत्कर्ता हमारे उत्पादक परमेश्वर ने (नौ गर्भे नु दम्पती कः) हमारे कई भाई बहिनों को गर्भ में दम्पती बनाया है। (अस्य व्रतानि नकिः प्रमिनन्ति) इस प्रभु के नियमों को कोई नहीं तोड़ सकते। (अस्य नौ पृथिवी उत द्यौः वेद) इस बात को हमारे में से प्रत्येक स्त्री और पुरुष जानता है।

विशेष—यमी कहती है भाई ! यह तूने कैसे कह दिया कि सगोत्र स्त्री पुरुषों का संबन्ध पहले कभी नहीं हुवा और ऐसा संबन्ध ईश्वरीय सत्यनियमों के विरुद्ध है ? क्या तुम यह नहीं जानते कि हमारे कई भाई बहिन जोड़े के रूप में पैदा हुए हैं। क्या उन्हें परमेश्वर ने एक ही गर्भ में इकट्ठे संबद्ध नहीं रखा ? क्या वे दम्पती की तरह एक ही स्थान में सहवास नहीं करते रहे ? अतः, यह ईश्वरीय नियम तो यही बतलाता है कि सहजात भाई बहिनों तक में संबन्ध हो सकता है। यह तुम जानते ही हो कि ईश्वरीय नियमों का भंग किसी को भी न करना चाहिए। इस सत्य सिद्धान्त के साक्षि प्रत्येक स्त्री पुरुष हैं। अतः भाई ! ईश्वरीय नियमों का पालन इसी में है कि मुझ से विवाह या नियोग करो।

यम की उक्ति।

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्रवोचत् ।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्यानॄन् ॥ ६ ॥

(अस्य प्रथमस्य अह्नः कः वेद) हे यमी ! गर्भवास के इस पूर्वकाल के तत्त्व को कौन जानता है ? (कः इम् ददर्श) किसने इस पूर्वकाल के तत्त्व का साक्षात्कार किया है ? (कः इह प्रवोचत्) और कौन उस गर्भवास-तत्त्व का यहां प्रवचन कर सकता है ? अर्थात् गर्भवास के रहस्य को कोई नहीं समझ सकता। (मित्रस्य वरुणस्य धाम बृहत्) सब के मित्र श्रेष्ठ परमे-

श्वर का सामर्थ्य-तेज महान् है। (आहनः !) हे असभ्यभाषिणि बहिन! (कत् उ वीच्य) तब तू कैसे विवेचन करके निश्चय पूर्वक (नून् ब्रवः) भाईयों को यह कहती है कि सगोत्र भाई बहिनों का सम्बन्ध ईश्वरीय नियमों के अनुकूल है? अर्थात् तेरा यह कथन असत्य है।

विशेष—यम कहता है कि गर्भवास के समय युगल भाई बहिनों को दम्पती के रूप में किस ने जाना देखा या कहा है। अनन्त सामर्थ्यवान् परमेश्वर की महिमा को समझना अत्यन्त दुष्कर है। गाढ़ सुषुप्ति की अवस्था में स्त्री पुरुष इकट्ठे नग्न पड़े रहें, इस से उनका दम्पतीभाव स्थापित नहीं होता है। दम्पतीभाव किसी विशेष धर्म को लेकर स्थापित होता है, एकमात्र सहवास से ही दम्पती नहीं कहलाये जाते। अतः ऐसा कोई सत्य नियम नहीं जिससे सगोत्र स्त्री पुरुषों में विवाह या नियोग का संबन्ध स्थापित होसके।

वीच्य = विविच्य। इसी सूक्त के ८वें मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्क ने नि० ५ अ० ११ श० में 'आहनः' का अर्थ 'असभ्यभाषिणि !' किया है।

यमी की उक्ति।

यमस्य मा यम्यं काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा ॥ ७ ॥

(समाने योनौ सहशेय्याय) समान गृहस्थाश्रम में सहवास के लिये अर्थात् परस्पर में विवाह के लिये (मा यम्यं) मुझ यमी को (यमस्य कामः आ अगन्) यम की कामना आयी है। अतः स्वयंम्बर-विवाह के अनुसार (पत्ये जाया इव तन्वं रिरिच्याम्) पति के लिये जाया की तरह जायाभाव से शरीर को तुझ से जोड़ूं—अपना तन तुझ पति के अर्पित करदूं। (चित् रथ्या चक्रा इव विवृहेव) और रथ के दोनो चक्रों के समान मिलकर हम उद्योग करें—धर्म अर्थ काम मोक्ष का सम्पादन करें।

नियोग पक्ष में—समान स्थान में सहवास के लिए-गर्भधारण करने के लिए मुझ यमी को तुझ यम की कामना है। अतः स्वयंवर-नियोग के अनुसार जैसे मैं अपने पति के लिए जायाभाव से अपने शरीर को फैलाती थी वैसे तेरे लिए अपने शरीर को फैलाऊं, जिस से सन्तानोत्पत्ति होने पर हम पतिपत्नी रथ के दोनों चक्रों के समान मिल कर उद्योग करें।

विशेष—अब यहां यमी कामना की-स्वयंवर की-युक्ति प्रस्तुत करती है। वह कहती है कि स्वयंवर-विवाह या स्वयंवर-नियोग तो आप्त सिद्धान्त है। यम! मैंनें विवाह या नियोग के लिए तुझे ही चुना है, अतः तू मेरे से संबन्ध करले।

बिना सन्तान के प्रायः गृहस्थ कैसा दुःखधाम बन जाता है यह किसी से छिपा नहीं। सर्वदा सन्तान-चिन्ता से दुःखी रहने के कारण स्त्री पुरुष पूरे

साहस के साथ पुरुषार्थ-लाभ नहीं कर सकते। अतः पुत्रविहीना यमी 'यम' से कहती है कि मैं जैसे अपने पति के लिये जायाभाव से शरीर को फैलाती थी वैसे मैं तेरे लिए अपने शरीर को फैलाऊं जिस से सन्तानोत्पत्ति होने पर हम पतिपत्नी रथ के दोनों चक्रों के समान मिलकर उद्योग करें।

नियोग पक्ष में 'विवृहेव' से स्पष्ट परिज्ञात होता है कि यमी का पति जीवित है मृत नहीं।

'रिरिच्याम्' में रिच वियोजनसंपर्चनयोः धातु है।

यम की उक्ति।

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन विवृह रथ्येव चक्रा॥ ८॥

(एते देवानां स्पशः) ये ईश्वरीय नियमों के गुप्तचर (ये इह चरन्ति) जो इस संसार में विचर रहे हैं (न तिष्ठन्ति न निमिषन्ति) वे न ठहरते हैं और न आंख झपकते हैं। (आहनः) अतः, हे असभ्यभाषिणि! (मत् अन्येन तूयं याहि) मेरे से भिन्न दूसरे पुरुष के साथ शीघ्र जायात्व को प्राप्त कर। (तेन रथ्या चक्रा इव विवृह) और उस पति के साथ मिलकर रथ के दोनों चक्रों की तरह उद्योग कर।

नियोग पक्ष में—(मत् अन्येन तूयं याहि) मेरे से भिन्न दूसरे पुरुष के द्वारा शीघ्र सन्तान को प्राप्त कर (तेन रथ्या चक्रा इव विवृह) और उस सन्तानलाभ से तू अपने पति के साथ मिलकर रथ के चक्रों की तरह उद्योग कर।

विशेष—यम कहता है कि सगोत्र वालों में विवाह या नियोग के संबन्ध की कामना करना पाप है। परमेश्वर के गुप्तचर निरन्तर इस संसार में विचर रहें है। वे एक क्षण के लिये भी न ठहरते हैं और न आंख झपकते हैं, प्रत्युत लगातार हमारे कर्मों को देख रहे हैं। ये ईश्वरीय-नियम रूपी गुप्तचर यद्यपि हमें नहीं दीख पड़ते तथापि ये अपना कार्य निरन्तर कर ही रहे हैं। तदनुसार राजाओं के महाराजा परमेश्वर की तरफ से पापकर्म का दण्ड अवश्य मिलेगा। अतः हे बहिन! तू यह अशुभ कामना एकदम त्याग दे और अन्य पुरुष के साथ संबन्ध कर।

'स्पश' शब्द गुप्तचर के लिये लौकिक साहित्य में प्रयुक्त होता है। वेद में उस की जगह 'स्पश्' का प्रयोग है। ऋ० ४. ४. ३ में भी इसी रूप में प्रयुक्त हुआ है। दर्शनार्थक 'पश्' से 'क्विप्' और सुडागम।

रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवापृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि॥ ९॥

(अस्मै रात्रिभिः अहभिः दशस्येत्) इस व्याहे जाने वाले दम्पती-युगल के लिये अथवा नियोग द्वारा पुत्रलाभ हो जाने पर पुराने दम्पतीयुगल

के लिये परमात्मा अहर्निश सुख प्रदान करे, (सूर्यस्य चक्षुः मुहुः उन्मिमीयात्) सूर्य के प्रकाश को बहुत देर तक उत्तमतया निर्मित करे । (मिथुना दिवापृथिव्या सबन्धू) ये दोनों स्त्री पुरुष समानभाव से परस्पर में बंधे रहें । (यमीः यमस्य अजामि बिभृयात्) और यमी मुझ यम के दोषरहित बन्धुत्व को धारण करे ।

पूर्व तथा अपर मंत्र के अनुसार अपने को छोड़ कर जिस अन्य पुरुष के साथ बहिन का विवाह या नियोग होगा—उस दम्पतीयुगल को लक्ष्य में रखकर यम इस मंत्र में प्रभु से प्रार्थना करता है कि हे प्रभो ! इस व्याहे जाने वाले दम्पतियुगल के लिये अथवा नियोग द्वारा पुत्रलाभ हो जाने पर पुराने दम्पतियुगल के लिये रात और दिन सुख देने हारे हों । इन की चक्षु आदि इन्द्रियें दीर्घकाल तक अविकल रहें और ये चिरायु हों । यह जोड़ा समान भाव से परस्पर में बंधा रहे । और हम भाई बहिनों का सम्बन्ध वैसा ही निष्कलङ्क और पवित्र बना रहे ।

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उपबर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥ १० ॥

(ता उत्तरा युगानि घ आगच्छान्) वे उत्तर काल भी ऐसे ही आवेंगे (यत्र जामयः अजामि कृणवन्) जहां कि सगोत्र स्त्री पुरुष महत्त्वयुक्त योग्य अनुरूप कार्य करेंगे । अर्थात् पहले भी सगोत्र वालों में विवाह या नियोग का संबन्ध नहीं था, आगे भी ऐसा ही रहेगा । यह ईश्वरीय नियम तीनों कालों में एकरस है अटल है । (सुभगे) अतः हे सौभाग्य की इच्छा रखने हारी यमी ! (मत् अन्येन) मेरे से भिन्न दूसरे पति को विवाह या नियोग के लिये (इच्छस्व), इच्छा कर (वृषभाय बाहुं उपबर्बृहि) और उस वीर्यवान् पति के लिये अपनी बाहु को बढ़ा—उसे बाहुदान कर । घ=अपि ।

यमी की उक्ति ।

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात् ।
काममूता बह्वेतद्रपामि तन्वा मे तन्वं संपिपृग्धि ॥ ११ ॥

(किं भ्राता असत्) वह क्या भाई (यत् अनाथं भवाति) जो बहिन की मांग को न पूर्ण करने वाला है ? (उ किं स्वसा यत् निर्ऋतिः निगच्छात्) और वह क्या बहिन है जिस को भाई के होते हुए, दुःख प्राप्त हो ? (कामं ऊता) हे भाई ! मैं यथेष्ट प्रवृद्धचेता होती हुई (एतत् बहु रपामि) इस विवाह या नियोग के बारे में बहुत कह रही हूँ । (मे तन्वा तन्वं संपिपृग्धि) अतः भाई ! मेरे तन के साथ अपने तन को जोड़ो, अर्थात् मेरे साथ विवाह या नियोग का संबन्ध स्थापित करो ।

विशेष—यमी अपने भाई से कह रही है कि भाई ! वह किस बात का भाई जो अपनी बहिन की मांग को, प्रार्थना को, या इच्छा को पूरा नहीं करता । और वह कैसी बहिन जो भाई के रहते हुए दुःख तो पाती है परन्तु अपने भाई

से सहायता नहीं लेतो। अतः भाई ! तुझे मेरी मांग पूरी करनी चाहिए। और मेरा भी यही कर्तव्य है कि मैं तेरे से सहायता लेकर अपने कष्ट को दूर करूं। भाई ! मेरी यह मांग किसी पापवासना को लेकर पैदा नहीं हुई अपितु पूर्ण पवित्र भावों से भरी हुई है। अतः तू मेरे से विवाह या नियोग कर।

'नाथ' धातु याचना और इच्छा अर्थ में भी धातुपाठ में पठित है। 'कामम्' अव्यय यथेष्टवाची प्रसिद्ध हो है। धातुपाठ में 'अव' धातु गति रक्षण कान्ति प्रीति बृद्धि आदि १६ अर्थों में पठित है। 'ऊता' में 'अव' बृद्धयर्थक प्रयुक्त है।

'काममूता' से स्पष्ट है कि बहिन की उक्ति पवित्रभाव से परिपूर्ण है। यह किसी विषयवासना से प्रेरित होकर यम से विवहा या नियोग क. लिये नहीं कह रही।

यम की उक्ति।

नवा उ ते तन्वा तन्वं संपपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत् ॥ १२ ॥

(ते तन्वा तन्वं न वै उ संपपृच्य.मू) बहिन ! मैं तेरे तन के साथ अपने तन को निश्चय पूर्वक नहीं जोड़ूंगा (यः स्वसारं निगच्छात्) क्योंकि जो बहिन को विवाह संबन्ध या नियोग संबन्ध से प्राप्त होता है (पापं आहुः) उसे विद्वान् लोग पापी कहते हैं। (मत् अन्येन) अतः मेरे से भिन्न दूसरे पुरुप के साथ (प्रमुदः कल्पयस्व) विवाह या नियोगजन्य सुखों को मना। (सुभगे ते भ्राता एतत् न वष्टि) हे सौभाग्य को चाहने वाली बहिन ! तेरा भाई इस विवाह कर्म या नियोग कर्म को नहीं चाहता।

यम कहता है कि बहिन ! यह ठीक है कि मुझे तेरी इच्छा पूर्ण करनी चाहिए। और तेरा भी यह धर्म है कि तू मेरे से सहायता ले। और यह भी सच है कि तू प्रवृद्धचेता है और पवित्रभाव से प्रेरित होकर ही मुझे कह रही है। परन्तु बहिन ! हमें ऐसा कर्म तो न करना चाहिए जिस का परिणाम पाप हो। सगोत्र भाई बहिनों के संबन्ध को पाप माना जाता है। अतः, बहिन ! यह तू निश्चय जान कि मैं तेरे से विवाह या नियोग किसी भी अवस्था में नहीं कर सकता। इस लिये तू किसी अन्य पुरुप के साथ यह संबन्ध स्थापित कर। मैं इस संबन्ध को नहीं करूंगा।

यमी की उक्ति।

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयञ्चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम् ॥ १३ ॥

(यम बत बतः असि) यम ! मुझे बड़ा सन्तोप है कि तू धर्म-दुर्बल धर्म-भीरु है। (ते मनः हृदयं च न एव अविदाम) इसी लिये तेरे मन और हृदय को मैंने नाही पाया। (वृक्षं लिबुजा इव) वृक्ष को लता की तरह (युक्तं कक्ष्या इव) और ब्रह्मचर्य-युक्त ब्रह्मचारी को मेखला के समान या पुरुपार्थ-

युक्त पुरुषार्थी को उद्योग के समान (अन्या किल त्वां परिष्वजाते) अन्य ही विवाहित या नियुक्त पत्नी तुझे आलिङ्गन करेगी।

विशेष—यम के उत्तर प्रत्युत्तर से अत्यन्त प्रसन्न होकर यमी कहती है—यम ! यह देख कर मुझे बड़ा हर्ष हुआ कि तू धर्म-दुर्बल अर्थात् धर्म के सामने सिर झुकाने वाला ही सिद्ध हुआ। मैंने पहले प्रभावोत्पादक तर्क करते हुए बुद्धिबल से तुझे मनाना चाहा। परन्तु तूने उन तर्कों का ऐसा समाधान किया कि मुझे चुप होना पड़ा। फिर मैंने 'किं भ्रातासद्' आदि मंत्र से तेरे हृदय को अपील करना चाहा। परन्तु उस अमोघ अस्त्र से भी मुझे असफलता ही हुई। इस प्रकार तेरी धर्मनिष्ठा के कारण मैं तेरे मन और हृदय को किसी तरह भी अपनी ओर न खींच सकी- यह देख कर मुझे अत्यन्त प्रसन्नता है। अच्छा, अब तू जैसे वृक्ष के साथ लता रहती है, ब्रह्मचारी के साथ मेखला रहती है, या पुरुषार्थी के साथ क्रियाशीलता रहती है, एवं किसी अन्य योग्य स्त्री को विवाह या नियोग के लिये अपने साथ संबन्धित कर।

'बत' निपात लौकिक संस्कृत के कोषों में संतोषार्थक पढ़ा है। और इसी मंत्र की व्याख्या करते हुए यास्काचार्य (११ अ० २४ श०) 'बतः' का अर्थ 'दुर्बलः' करते हैं।

'कक्ष्या गृहप्रकोष्ठे स्यात् सादृश्योद्योगकाञ्चिषु । बृहतिकेभनाड्योश्च' इस वचन में हेमचन्द्र ने 'कक्ष्या' के गृह, प्रकोष्ठ, सादृश्य, उद्योग, काञ्चि अर्थात् मेखला, बृहतिका (उत्तरीय वस्त्र) हथिनी और नाड़ी—ये अर्थ किये हैं।

यम की उक्ति।

अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उ त्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १४ ॥

(यमि उ त्वं अन्यं सु) हे यमि ! इसी तरह तू अन्य पुरुष से शोभनभाव से संबन्ध कर। (उ वृक्षं लिबुजा इव अन्यः त्वां परिष्वजाते) और वृक्ष को लता की तरह दूसरा पुरुष तेरे से संबन्ध करे। (वा तस्य मनः त्वं इच्छ) और उसके मन को तू चाह (वा सः तव) और वह तेरे चित्त को चाहे। (अध) एवं परस्पर एकचित्त हो कर (सुभद्रां संविदं कृणुष्व) कल्याणमय संयम या आचार को बना।

विशेष—इन दोनों मंत्रों की वाक्य-रचना और इस अन्तिम मंत्र के 'अन्यमू' वाले 'उ' के प्रयोग से अत्यन्त स्पष्ट है कि यम यमी दोनों विवाह या नियोग तो करना चाहते हैं, परन्तु परस्पर में ऐसे संबन्ध का प्रत्याख्यान किया गया है।

'वा' निपात समुच्चय अर्थ में यास्क ने माना है (निरु० १ अ० ५ ख०)

"संवित् संभाषणे ज्ञाने संयमे नाम्नि तोषणे । क्रियाकारे (कर्मनियमे) प्रतिज्ञायां संकेताचारयोरपि ॥" यहां हेमचन्द्र ने 'संवित्' का अर्थ संयम और आचार भी स्वीकृत किया है।

सम्पादकीय

देशबन्धु दास !

देशबन्धु चित्त-रञ्जन दास, आँखें चौंधिया देने वाले धूम्रकेतु के समान, भारत के राजनीतिक नभोमण्डल में एकदम चमके, और अभी हम उस उग्र आलोक की प्रचण्डता से सहसा-निमीलित-नेत्रों को उद्घाटित न कर पाये थे कि क्षणों में ही तेजःपुञ्ज की अथाह वृष्टि कर, अन्तर्धान भी हो गये! अभी तो वे आये ही थे, आह! वे आने से पहिले ही चल भी दिये! उस दिन किसी को विश्वास न होता था। बंगाल में द्वैध-शासन के टूट जाने पर देशबन्धु की जयकार पुकारी जा रही थी। इस अभूतपूर्व विजय के उपलक्ष्य में विजेता की किसी विलक्षण घोषणा की प्रतीक्षा हो रही थी। इसी प्रतीक्षा में दैनिक-पत्रों को हाथ में उठाया था, परन्तु—'हमरे मन कछु और है, विधना के मन और'—जिस २ ने पत्र उठाया उसी पर मानो अनभ्र वज्रपात हुआ और वह भौंचक्का सा खड़ा देखने लगा। क्षणभर में मातम छा गया—देशबन्धु की मृत्यु के समाचार ने मित्र, शत्रु, बाल, युवा, वृद्ध, सभी को रुला दिया और भारत-माता को निस्सीम दुःख-सागर में डुबो दिया।

इस दुःख के आवेग में बार २ यही स्मरण कर के सन्तोष होता है कि यद्यपि देशबन्धु हमारी आँखों के सन्मुख बहुत थोड़ी देर तक न रहे तथापि जब तक रहे, पूरे रूप में रहे, बड़ी ज़ोर से रहे, ऐसे रहे कि इतनी ही देर में सब की आँखों और दिलों में बस गये, घर कर गये। देशबन्धु ने अपने भौतिक शरीर को इस प्रकार क्यों समेट लिया? कहीं उन की व्यथित आत्मा एक शरीर को स्वराज्य-संग्राम में निर्बल पाकर अपने देश-वासियों के तेंतीस करोड़ शरीरों को तो अपना शरीर बनाने के लिये व्याकुल नहीं हो उठी? कहीं देशबन्धु दास, करोड़ों देशबन्धुओं के रूप में जन्म लेने के लिये तो नहीं मरे? कहीं भारतवासियों के हृदय हृदय में अपनी प्रतिकृति बैठा देने के लिये तो वे अकस्मात् ओझल नहीं हुए?

कौन जानता है इस दैवीय प्रकोप का वास्तविक अभिप्राय क्या है? इस में सन्देह नहीं कि वे भारत-माता के उन पुत्रों में से थे जो अकेले उस की गोद को भर रहे थे। करोड़ों के रहते हुए भी उन के चले जाने से वह गोद खाली हो गई, सूनी हो गई, माता लुट गई। भारत माता को सान्त्वना तभी मिलेगी जब यह अभाव पूरा होगा। देशबन्धु की आत्मा तभी शान्ति लाभ करेगी जब भारत-जननी के करुण-क्रन्दन को सुन कर देश की मिट्टी से बना एक २ शरीर अपनी माता के बन्धनों को काटने के लिये, परमात्मा को साक्षी करके, प्रण कर लेगा और उस प्रण के निबाहने में ही लड़ाई के मैदान में डटा हुआ देशबन्धु की तरह प्राण दे देगा। देशबन्धु के अभाव को पूरा करने की ज़िम्मेवारी भारत-माता के एक २ पुत्र के

कन्धे पर आ पड़ी है। स्वतन्त्रता देवी के लिए कर्मण्यता की वेदी पर उस देशभक्त वीर ने अपने तन-मन-धन-परिजन-सर्वस्व को बलि चढ़ा दिया। आज वह अजेय योद्धा अपने जीवन की अन्तिम आहुति देकर इस पार से उस पार जा खड़ा हुआ है। विश्व-वैतरणी के उस किनारे पर खड़ी देशबन्धु की अमर-आत्मा, इस किनारे, मातृभूमि की स्वतन्त्रता के लिए चलते युद्ध को बड़ी उत्सुकता पूर्वक दिव्य-चक्षुओं से टिक-टिकी बाँधे देख रही है। कान लगा कर सुनो, उस आत्मा के धीमे २ शब्द इस पार भी सुनाई दे रहे हैं। वह कह रही है: "मेरे अभाव को पूरा करो!"

देशबन्धु जिए या मरे, इस का फ़ैसला करना अब उन के देशभाइयों के हाथ में है। देशबन्धु सौ वर्ष और जी जाते और भारत-माता का एक बन्धन भी शिथिल न होने पाता तो उन का जीना, मरने के बराबर होता। देशबन्धु मर गये हैं, भौतिक लीला संवरण कर चुके हैं परन्तु यदि इस समय उन का प्राण-वायु भारत भर में व्याप्त हो कर प्रत्येक छाती को देश-भक्ति के दम से भर दे तो उन का मरना भी जीने से बढ़ कर होगा, मुर्दों को भी ज़िन्दा करने वाला होगा। देशबन्धु मरना नहीं चाहते, जीना चाहते हैं; और इसी लिए देश के अपने भाइयों और बहनों को पुकार २ कर कह रहे हैं,—"मेरे जीने मरने का फैसला करना तुम्हारे हाथ में है। मेरे अभाव को पूरा करो। मुझे अमर बना दो"।

क्या देशबन्धु की आवाज़ बहरे कानों पर पड़ेगी? क्या हम, बल संचय करके यह कहने का साहस कर सकेंगे कि देशबन्धु मरे नहीं, ज़िन्दा हैं? क्या हम इस से भी एक कदम आगे बढ़ कर कह सकेंगे कि यदि देशबन्धु मर गये हों तो भी हम उन्हें अमर करने के लिये कमर कस कर खड़े हैं?—देशबन्धु की आत्मा इन प्रश्नों के उत्तर की प्रतीक्षा कर रही है और न जाने कब तक करती रहेगी!!

भारत-सचिव का वक्तव्य

मौन्ट-फ़ोर्ड सुधार स्कीम के अपर्याप्त होने के कारण भारत में बढ़ते असन्तोष पर विचार करने के लिए भारत-सचिव ने लार्ड रेडिंग को विलायत की यात्रा कराई। बहुत दिनों तक दोनों में खूब मन्त्रणा होती रही। पिछली ७ जुलाई को भारत-सचिव लार्ड बर्कनहेड ने पार्लियामेण्ट में इन मन्त्रणाओं का परिणाम स्वरूप अपना वक्तव्य भी कह दिया। इस वक्तव्य में ऐसी एक बात भी नहीं कही गई जिस के लिए लार्ड रेडिङ्ग को भारत से बुलाया जाता। इतने दिनों तक ज़मीन-आस्मान एक कर के, दुनियाँ भर में शोर मचा कर भारत-सचिव इसी परिणाम पर पहुँचे कि चलो, अभी कुछ न करना ही अच्छा है! भारत के साथ कैसा मख़ौल किया गया है! क्या मामूली रोज़ाना अख़बारों को पढ़ कर भारतसचिव ऐसा ही वक्तव्य प्रकाशित न कर सकते थे? ऐसे शून्य, अपमान-जनक वक्तव्यों को सुनने के हम आदी हो चुके हैं परन्तु लार्ड बर्कनहेड ने जिस आडम्बर को रच कर भारत की उभरती हुई इच्छाओं को ठुकराया

है उसे देख कर किस आत्म-गौरवान्वित देश के मार्मिक-स्थल पर असह्य आघात नहीं पहुँचता ?

लार्ड बर्कनहेड के कथन का सार यह है कि भारत एक देश नहीं, उस में एक जातीयता नहीं; वह युरोप की तरह महा-प्रदेश है। इस महाप्रदेश में हिन्दु-मुसलमान, ब्राह्मणाब्रह्मण अनेक जातिएं, उपजातियें रहती हैं जो आपस में एक दूसरे के खून की प्यासी हैं। इस के साथ ही इस महा-प्रदेश में पंजाब, बंगाल, मद्रास आदि भिन्न २ देश हैं जिन की युरोप के भिन्न २ देशों के साथ तुलना की जा सकती है। अंग्रेज़ भारत को छोड़ जाँय तो भारतवासी आपस में लड़ कर मर जायें। एशियन सोसाइटी के डिनर में भी हज़रत ने इन्हीं भावों को सन्मुख रखते हुए कहा था कि हम हिन्दुस्तान की तलवार के ज़ोर से ही रक्षा कर रहे हैं। इन में जातीयता के भाव आ जायें, ये एक हो जायँ, आपस में लड़ना छोड़ दें तभी तो अंग्रेज़ हिन्दुस्तान को छोड़ सकते हैं, नहीं तो अनर्थ न हो जाय, भारतवर्ष तबाह न हो जाय ! हमें आश्चर्य तथा खेद इसी बात का होता है कि यह सब कुछ सीखने के लिए ही भारत-सचिव को, वाइसराय को भारत से बुलाना पड़ा। यह तो अंग्रेज़ लोग सदा से ही कहते चले आये हैं, इस में कौनसी नई बात धरी थी जो लार्ड रेडिंग ही जाकर लार्ड बर्कनहेड को सिखाते !

भारत में एक जातीयता न होने की बात देर से कही जा रही है लेकिन यह सरासर झूठ है। इस देश के इतिहास में 'भारत' तथा 'आर्य' शब्दों का प्रयोग सदा भारतवर्ष तथा आर्यावर्त भर में रहने वाले सम्पूर्ण नर-नारियों के एक समुदाय के लिए होता रहा है। हिन्दुस्तान शब्द में भी यही भाव प्रधान है। हिन्दु शब्द धर्म सूचक नहीं परन्तु देश सूचक है क्योंकि यह सिन्धु शब्द का अपभ्रंश है। सिन्धु के इस पार रहने वाले सभी हिन्दुस्तानी कहाते थे, एक जातीयता के सूत्र में बँधे हुए थे। भारतवर्ष की सबसे बड़ी बदकिस्मती यह है कि इस के इतिहास को अपने देश के लेखक नहीं मिले। अन्य देशों के इतिहास-लेखकों ने अपने २ देशों की घटनाओं का वर्णन करते हुए लड़ाई झगड़ों, परस्पर कलहों, ईर्षा—द्वेषों तथा घर की उस समय की फूटों की तरफ इशारा तक नहीं किया जब कि वे विदेशी शासनों के आधीन स्वतन्त्रता के युद्ध की तैयारियाँ कर रहे थे। इस के विपरीत, उन लेखकों का आदि से अन्त तक, यही दर्शाने का उद्योग रहा है कि वे निरन्तर एक जातीय संगठन में, एक ही इच्छाओं, भावनाओं तथा आदर्शों में पिरोए हुए थे। अपनी निर्बलता के इतिहास को वे ,बिलकुल लाँघ गये हैं। भारत का दौर्भाग्य यही रहा है कि इस के विदेशी इतिहास लेखकों ने यहाँ के निवासियों के उत्साह, जोश तथा उमंग पर सदा के लिए पाला डाल देने के उद्देश्य से अपने २ इतिहासों में भारत के पराजयों का ही कालिमा-पूर्ण चित्र खींचा है जिस से उनकी आत्म-ग्लानि उन्हें किसी काम के योग्य न रहने दे। इन स्वार्थी इतिहास-लेखकों ने अशोक,

चन्द्रगुप्त, समुद्रगुप्त आदि के दिग्दिगन्त-व्यापी साम्राज्यों का जो फीका वर्णन किया है उसे पढ़ कर इनकी मानसिक कलुषता में तनिक भी सन्देह नहीं रहता। वास्तव में इन राजाओं ने भारतवर्ष में ऐसे राष्ट्र की आधार शिला रख दी थी जिसे ग्रेट ब्रिटेन के 'एम्पायर' की तरह साम्राज्य कहा जा सकता था। वह साम्राज्य इतना ही स्थिर रहा जितने रोम तथा ग्रीस के साम्राज्य स्थिर रहे। उन राष्ट्रों में एक जातीयता ही उत्पन्न न हो गई थी परन्तु अन्तर्राष्ट्रीय भावना भी जाग्रत हो रही थी। उस समय का हमारे सामने चित्र खींचने के लिए देशभक्त भारतीय इतिहासज्ञों की लेखनी उठनी चाहिये। हां, यह एक जातीयता धीरे २ से टूट रही थी जब कि विदेशियों के आक्रमणों से, फिर से भारत अपनी पुरानी सभ्यता तथा संस्कृति की एकता का नाम लेकर बिखरते हुए मनकों को माला बनाने के लिए समेटने लगा। मुगलों के शासन काल में भारत की जातीय-एकता का मराठों तथा सिक्खों के उद्योग से पुनरुज्जीवन हो रहा था और दावे से कहा जा सकता है कि यदि इस बीच में भारत का शासन कम्पनी के हाथ और उनसे ब्रिटेन के हाथ न आ जाता तो प्रबुद्ध होती हुई जातीय-एकता अब तक अपने यौवन में पहुंच चुकी होती।

अंग्रेज़ों के भारत में आने से पहले यहाँ जातीयता उत्पन्न हो रही थी, यह बात इतिहास से साधारण सा परिचय रखने वाले व्यक्ति को भी विदित होनी चाहिये। तब से १७० वर्ष तक अंग्रेज़ों के भारत में राज्य करने के अनन्तर आज भारत-सचिव का कहना है कि भारत में जातीयता नहीं। यदि यह बात ठीक है तो इस का कारण अवश्य ढूंढना चाहिये। मुसलमानों के राज्य के समय झगड़ा हिन्दुओं तथा मुसलमानों में था और वे दोनों किसी न किसी तरह आपस में समझ रहे थे। कोई तीसरी शक्ति न आती तो झगड़ा अब तक का समाप्त हुआ होता। सम्भव है इसे समाप्त करने के लिये तलवारें खड़कतीं, खून की नदिएँ बहतीं परन्तु इस में सन्देह नहीं कि यह समस्या इतनी देर तक न चलती। इसका अन्त शीघ्र ही हो जाता और भारत पर जातीयता के न होने का दोष आज कोई न दे सकता। अंग्रेज़ों के आ जाने से इस झगड़े का समाप्त न होने देना तथा इसे धीरे २ सुलगाते रहना उनका स्वार्थ होगया। उनके यहाँ पाँव जमने में यही तो सब से बड़ा साधन हो सकता था। हिन्दु-मुसलमान सदा लड़ते रहें और अंग्रेज़ उन दोनों के सिर पर तलवार का भय दिखा कर संसार के सामने अपने शान्ति के मिशन की घोषणा करते रहें! हिन्दू-मुसलमानों के झगड़े को यह तूल रूप दिया ही हमारी माई-बाप सरकार ने है। मिन्टो-मोर्ले सुधारों के समय का वर्णन करते हुए लार्ड मोर्ले ने अपने 'रिकलेकशन्स' में मिन्टो को लिखी एक चिट्ठी दी है जिस में भारत के वायसराय को संबोधन कर के लिखा है—'You started the Muslim hare.' घटना का स्वरूप यह

है कि सुधारों की घोषणा करने से पहले मिन्टो ने कुछ मुसलमानों को बुला कर कहा कि तुम अपनी जाति के लिये Communal representation (जाति-गत-प्रतिनिधित्व) मांगो और तुम्हें दिया जायगा। तब से हिन्दु-मुसलमानों के धार्मिक झगड़े ने राजनीति के क्षेत्र में पदार्पण किया और भारत-वर्ष की जातीयता के वायु-मण्डल में विष का सञ्चार कर दिया। इस समय भी इस झगड़े के अधिकाधिक बढ़ने का श्रेय हमारे रक्षकों को ही है।

परन्तु हम तो इन सब बातों के होते हुए भी यह मानने के लिये तैय्यार नहीं कि भारत–देश जातीयता से शून्य है। तीसरी शक्ति के लाख कोशिश करने पर भी विश्व-व्यापी जातीयता की लहरें भारत में उमड़ रही हैं और आज भारत में इतनी जातीयता अवश्य दिखाई देती है जिस पर विश्वास किया जा सके और जिस के आधार पर, भारत, संसार के सन्मुख अपने स्वतन्त्र होने का दावा रख सके। इटली जिस दिन स्वाधीन हुआ उस दिन उस में इतनी ही जातीयता थी जितनी आज भारत में दिखाई देती है। कनाडा में तो स्वतन्त्र होते समय इतने भी जातीयता के बीज न थे। यदि वे देश स्वतन्त्र हो गये तो भारत स्वतन्त्र क्यों नहीं हो सकता? हिन्दु-मुसलमानों, ब्राह्मणाब्राह्मणों के धार्मिक झगडे दूसरे नामों से क्या युरुप में न थे? सारे युरुप में रोमन कैथोलिक और प्रोटस्टेन्ट लोगों ने एक दूसरे का खून बहाया है। स्पेन में इन्क्वीज़ीशन रही, फ्रांस में ह्यूगनोट के अनुयायियों पर कैथोलिक लोगों की तरफ़ से अमानुषिक अत्याचार होते रहे, इङ्गलैंड में घरेलु झगड़े नाक में दम करते रहे! यदि इन सब के होते हुए इन देशों में एक जातीयता थी तो आज भारत में एक जातीयता क्यों न मानी जाय?

जातीयता की सब से बड़ी शर्त एक है। परस्पर झगड़ते हुए भी यदि किसी देश के लोग यह अनुभव करते हैं कि संसार के अन्य देशों तथा मनुष्यों की अपेक्षा उनका अपने देश तथा अपने देश के मनुष्यों से अधिक सम्बन्ध है तो उस देश में जातीयता के भावों की मौजूदगी से इन्कार नहीं किया जा सकता। भारत वर्ष के सभी लोगों में ये भाव पाये जाते हैं। हाँ, यहाँ, जातीयता के लिए जिस एक परमावश्यक वस्तु की आवश्यकता है वह एक वस्तु ही नहीं पायी जाती, और वह है स्वराज्य! स्वराज्य के बिना किसी देश में जातीयता अपने पूर्ण रूप को नहीं धारण कर सकती। मानना पड़ता है कि स्वराज्य न होने के कारण आज भारत की जातीयता का शरीर अधूरा है परन्तु लार्ड बर्कनहेड का कहना है कि जातीयता न होने के कारण भारत को स्वराज्य नहीं मिल सकता। क्या अजीब चक्कर है! लार्ड बर्कनहेड ने अपनी वक्तृता झाड़ते हुए अपनी युक्ति को इस अन्योन्याश्रय दोष से बचाने का प्रयत्न नहीं किया!

✓ जिन्होंने रेडिंग तथा बर्कनहेड के संवाद से शेखचिल्ली के हवाई

किले बनाने शुरु कर दिये थे उन की आँखें अब तक खुल चुकी होंगी। उन्हें समझ पड़ने लगा होगा कि ब्रिटिश-राजनीतिज्ञों की भारत के प्रति सहानुभूति का दिवाला निकल चुका है। हमारा विचार है कि ब्रिटेन ने पर्याप्त उदाहरणों से सिद्ध कर दिया है कि भारत को उस से किसी प्रकार की सहायता की आशा न करनी चाहिये। ऐसी अवस्था में हमारे देश भाइयों के सन्मुख एक ही रास्ता खुला है। जितना समय हम आशा तथा प्रतीक्षा में व्यतीत करते हैं उस से अपने संगठन में ही शिथिलता बढ़ती है, अपना चलाया हुआ कार्य ही दस कदम पीछे जा पड़ता है। ये लोग कान्फरेन्सें किया करें, लैक्चर दिया करें, किसी की रत्ती-भर भी पर्वा न करते हुए मातृभूमि को हृदय में मूर्ति स्थापित कर कमर कस लेने से ही उद्धार हो सकता है, अन्य किसी भी उपाय से नहीं। स्मरण रखना चाहिए, स्वतन्त्रता, स्वावलम्बन से मिलती है क्योंकि स्वावलम्बन का ही दूसरा नाम स्वतन्त्रता है!

भारत में विधवाएं

१९२१ की भारत-गणना के अनुसार हमारे देश में पांच वर्ष से कम आयु की ११८९२ विधवाएं हैं। न जाने इस दुर्भागे देश पर भगवान् की कब कृपा होगी। हम कब समझ सकेंगे कि देश में इतनी विधवाओं के रहते भारत-माता का वैधव्य भी दूर नहीं हो सकता! विधवा पुत्रियों को गोद में रखते हुए क्या माता का सुहाग बना रह सकता है? भारत-माता की गोद में जितनी विधवा-पुत्रियें हैं उन की संख्या को देख कर माता के मुख पर पड़ी वैधव्य-दुःख की झुर्रियों का अभिप्राय तत्काल समझ आ जाता है। १९२१ की गणना के अनुसार हिन्दू विधवाओं की संख्या निम्न लिखित है:—

आयु				संख्या
०—१	...	...	...	५६७
१—२	...	...	...	४६४
२—३	...	...	...	१२५७
३—४	...	...	...	२८३७
४—५	...	...	...	६७०७
कुल				११८९२
५-१०	...	...		८५०३७
१०-१५	...	...		२३२१४७
१५-२०	...	...		३९६१७२
२०-२५	...	...		७४२८२०
२५-३०	...	...		११६३७२०
कुल				२६१९८९६
सर्व योग				२६३१७८८

साढ़े छब्बीस लाख के लगभग भारत की होनहार पुत्रियें तीस वर्ष से कम आयु की मौजूद हैं। इस उम्र से ऊपर चल कर तो वैधव्य आ ही जाता है क्योंकि इस हतभाग्य देश में आयु की औसत ही २१ वर्ष के ऊपर नहीं है! जब तक देश में इतनी विधवाएं रहेंगी तब तक भारत-माता को शृङ्गार करने का कोई अधिकार नहीं!!

धार्मिक झगड़े

मुसलमानों की तरफ़ से अपनी संख्या-वृद्धि के लिए जो अनुचित उद्योग हो रहे हैं वे दिनोंदिन भयानक रूप धारण करते चले जा रहे हैं।

ईसाई लोग भी उसी प्रकार के साधनों का प्रयोग करते दिखाई देते हैं। कहीं डण्डा दिखा कर, कहीं पैसा दिखा कर, कहीं स्त्री दिखा कर, कहीं धोखा दे कर, भोले भाले हिन्दुओं को धर्मच्युत किया जा रहा है। आश्चर्य यह कि यह सब कुछ धर्म की दुहाई दे कर हो रहा है। हमें यह देख कर असीम दुःख होता है कि हिन्दु इस प्रकार डर कर, लालच में आ कर अपने पूर्व पुरुखाओं को भुलाने तक के लिये तैयार हो जाते हैं। परन्तु इस में शायद उन का इतना दोष नहीं, जितना हिन्दु-धर्म के ठेकेदारों का—शास्त्र के तत्व को न समझ कर उसकी हत्या करने वाले, मोटी २ चोटी तथा जनेऊ रखने वाले, पोथे-पत्री तक दौड़ लगाने वाले पण्डित-पुरोहितों का। विशाल तथा उदार हिन्दु-धर्म को जिस में ग्रीक, रोमन, मंगोलयन, सब समा गये थे, वर्तमान छुई-मुई का सा रूप देने का पाप इन्हीं लोगों के सिर पर है। हिन्दुओं की इस निर्बलता का फ़ायदा उठा कर ईसाई-मुसल्मान अपने २ धर्मों में भर्ती का काम करने में दिन रात एक कर के लगे हुए हैं। इस अनर्थ को रोका जाता है तो झगड़े खड़े हो जाते हैं और हिन्दु-मुसल्मानों के सिर फूट जाते हैं।

ऐसी अवस्थाओं में यह समाचार बड़े हर्ष से सुना जायगा कि रीवाँ रियासत का अनुकरण करते हुए कोटा रियासत में भी महाराजा ने यह आज्ञा प्रचलित कर दी है कि १८ वर्ष से पहले कोई लड़का तथा २० वर्ष से पहले कोई लड़की न स्वयं धर्म-परिवर्तन करे और न किसी दूसरे द्वारा प्रभावित हो कर अपने धर्म को बदले। हाँ, इस आयु के बाद यदि किसी को धर्म परिवर्तन की इच्छा हो तो उसे अव्वल दर्जे के मैजिस्ट्रेट के सामने यह उद्घोषित करना होगा कि वह किसी प्रलोभन, बहक वा डरावे में आकर नहीं प्रत्युत् दूसरे धर्म की आत्मिक उच्चता को समझता हुआ ही उसे स्वीकार कर रहा है। इस प्रकार मैजिस्ट्रेट से प्रमाण-पत्र पाकर ही वह शुद्ध किया जा सकेगा। इन घटनाओं को पत्रों में प्रकाशित नहीं किया जायगा ताकि उन से पारस्परिक वैमनस्य उत्पन्न न हो। अनाथ बालकों की रक्षा उन के सहधर्मी ही करेंगे। जिस अनाथ को उस के सहधर्मी लेने से इन्कार कर देंगे वह राजकीय अनाथालय में भेज दिया जायगा। इस आज्ञा के भङ्ग करने पर ३ वर्ष की सख़्त सज़ा तथा १०००) तक का जुर्माना किया जा सकता है। ऐसे नियम सर्वत्र बनने चाहियें ताकि धर्म अन्त तक बदनाम होने वाली चीज़ ही न बनी रहे।

यम-यमी-सूक्त

वैदिक साहित्य के इस सूक्त पर बहुत विवाद उठ खड़ा हुआ है। हमारे पास इस विषय में कई लेख आये हैं। हम ने गुरुकुल काँगड़ी के योग्य उपाध्याय पं० चन्द्रमणि जी के लेख को 'अलंकार' में खुले तौर से स्थान दिया है। पं० जी निरुक्त के भारी विद्वान् हैं। इनके निरुक्तभाष्य पर हाल ही में आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब ने इन्हें १५०) पुरस्कार रूप से दिये हैं। आप की सम्मति इस विषय पर अच्छी

प्रामाणिक समझी जा सकती है। लेख बहुत बढ़ गया है और इसी लिए इस अंक में हमें पृष्ठों की संख्या भी बढ़ानी पड़ी है परन्तु हमें आशा है कि हमारे पाठक इस लेख को आद्योपान्त पढ़ कर इस से पूरा २ लाभ उठाएंगे क्योंकि इस में योग्य लेखक ने ऋषि दयानन्द तथा पुराणे भाष्यकारों की परस्पर संगति लगाने का बहुत अंश तक सफल-प्रयत्न किया है।

देशबन्धु दास !

(श्रीयुत् माधव शुक्ल)

हाय ! यह कैसा वज्र प्रहार !

क्या सचमुच ही भारत का प्यारा, बंग हृदय का हार,
देशबन्धु चितरँजन त्यागी, छोड़ चला संसार ?
हाय ! हिंद आँखों का तारा, मातृ-भूमि का एक सहारा,
बल, पौरुष, अभिमान हमारा, 'नेशन की' तलवार ।
जिसकी देख शक्ति उत्साही, कांप उठी थी नौकरशाही,
जिसने तोड़ दिया कौंसिल की कुटिल द्वि दल सरकार ।
मँजुल मधुर-मूर्ति हा प्यारे ! बंग भूमि के हृदय दुलारे !
मम हतभाग्य हिंद नैय्या क्यों छोड़ चले मँझधार ॥

गुरुकुलीय समाचार

ऋतु—आज कल गुरुकुल काँगड़ी में ऋतु बहुत मनोहर है। जङ्गल पूर्ववत् हरे भरे होगये है। आकाश में बादल मंडलाते रहते हैं। वर्षा से धुली हुई हिमालय की पर्वतमाला बहुत सुहावनी मालूम पड़ती है। प्राकृतिक सौन्दर्य की छटा निराली है। गङ्गा खूब बढ़ रही है। आमों की बहार होने से प्राकृतिक आनन्द और भी अधिक बढ़ गया है।

स्वास्थ्य—इस मास मायापुर में ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा। छोटे ब्रह्मचारियों में से ७ ब्रह्मचारियों को बहुत बुख़ार आया, अन्य भी अनेक ब्रह्मचारी बीमार रहे। ऋतु परिवर्तन इसका कारण है। परन्तु

परन्तु अब अवस्था अच्छी है। बीमार ब्रह्मचारी अच्छे होगये हैं। उनके स्वास्थ्य के लिए पूरा ख्याल किया जा रहा है।

दो कुलपुत्रों का वियोग—कुल भाइयों तथा अन्य गुरुकुल प्रेमियों को यह जानकर अत्यन्त शोक होगा कि इस मास दो ब्रह्मचारियों का स्वर्गवास होगया। गुजरात में आर्य समाज के प्रसिद्ध कार्यकर्ता महा० चुन्नीलाल जी का सुपुत्र ब्र० जयदेव अभी तृतीय श्रेणी में ही पढ़ता था। ऋतु परिवर्तन से उसको साधारण ज्वर होगया। धीरे धीरे रोग बढ़ता गया, सब तरह से प्रयत्न किया गया, उत्तम से उत्तम चिकित्सा की गई, परन्तु काल की गति को कौन रोक सकता है। अपने सैकड़ों कुल भाइयों को रुलाकर ब्र० जयदेव पिछले सप्ताह इस भौतिक देह को छोड़ गया। इसी तरह कुरुक्षेत्र गुरुकुल का ब्र० कृष्ण, जो अभी चौथी श्रेणी में ही पढता था, इस मास अचानक रोगी हुआ और सब प्रयत्न करने पर भी बच न सका। इन दोनों बन्धुओं की मृत्यु पर कुल में बहुत शोक मनाया गया। जो फूल खिल कर मुरझाता है, उस पर इतना शोक नहीं होता जितना कि अधखिली कली के टूट जाने पर होता है। ईश्वर से सविनय प्रार्थना है कि दोनों बन्धुओं को दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

स्नातक भाई का वियोग—स्नातक देवदत्त जी लुधियाना-निवासी गत डेढ़ वर्ष से रोग ग्रस्त थे। उन के पैर में चोट लगने पर ऐसा विषैला घाव हो गया कि अनेक चिकित्सायें करने पर भी वह घाव अच्छा न हो सका और भाई २२ आषाढ़ आदित्यवार को हम सब से सदा के लिये बिछुड़ गया। इस अशुभ समाचार से सभी कुल बन्धुओं को निस्सीम दुःख है। परमात्मा इस वियोग के होने पर हम सब कुल भाईयों और स्नातक देवदत्त जी के अन्य निकटतम बन्धुओं को धैर्य प्रदान करें।

नेशनल मेडिकल कालिज लाहोर-गुरुकुल के आयुर्वेदिक महाविद्यालय में क्रियात्मक तथा शव-छेदन आदि का समुचित प्रबन्ध है। इस से उपयोग उठाने के लिये नैशनल मैडिकल कालिज लाहौर के विद्यार्थी आजकल गुरुकुल आये हुए हैं। ये ३ मास तक यहां पर रहेंगे और शव छेदन आदि का अभ्यास करेंगे।

अधिकारियों में परिवर्तन—गुरुकुल विश्वविद्यालय के आचार्य श्री स्वामी सत्यनन्द जी महाराज ने त्याग पत्र दे दिया है। आपके स्थान पर वर्तमान उपाचार्य श्री प्रो० रामदेव जी आचार्य नियत हुए हैं और वेद महाविद्यालय के वर्तमान अध्यक्ष श्री पं० देवशर्मा जी विद्यालङ्कार गुरुकुल विश्वविद्यालय के उपाचार्य नियुक्त किए गये हैं।

परीक्षायें—पिछली सत्र परीक्षा में जो विद्यार्थी अनुत्तीर्ण हुए थे, और जिन्हें एक वा दो विषयों में पुनः परीक्षा देने का अवसर दिया गया था, उनकी परीक्षा इस सप्ताह हो गई। अभी परिणाम प्रकाशित नहीं हुए हैं। विद्यार्थी पढ़ाई में दत्तचित्त हो कर लगे हुए हैं। सत्रान्तावकाश समीप हैं और मध्य सत्र परीक्षा भी निकट आ रही है,

अतः विद्यार्थी अच्छी तरह पढ़ाई में लगे हुवे हैं।

सभाएँ—इस मास भी सभाएँ नियम पूर्वक अधिवेशन करती रहीं। कुछ सभाओं के विशेष अधिवेशन भी हुए। महा० वाग्वर्द्धिनी सभा ने 'आर्य-धर्म सम्मेलन' किया। श्री पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार पालिरत्न सभापति थे। आर्यधर्म के साथ सम्बन्ध रखने वाले अनेक विषयों पर विचार हुआ। समाज की भावी कार्यनीति के सम्बन्ध में अनेक उपयोगी प्रस्ताव स्वीकृत हुए। संस्कृतोत्साहिनी सभा का जन्मोत्सव श्री प० सत्यकेतु जी विद्यालंकार के सभापतित्व में धूमधाम से मनाया गया। सब कुलवासी उपस्थित थे। अनेक वक्ताओं ने संस्कृत-साहित्य की उपयोगिता पर व्याख्यान दिये, कुछ साहित्यिक निबन्ध भी पढ़े गये। जन्मोत्सव के उपलक्ष्य में एक सहभोज भी हुआ। इस मास साहित्य-परिषद् का जन्मोत्सव भी समारोह के साथ मनाया गया। श्री प्रो० चन्द्रमणि जी सभापति थे। प्रो० सत्यव्रत जी ने संसार के धर्मों में सृष्ट्युत्पत्ति की समानता पर योग्यतापूर्ण निबन्ध पढ़ा। परिषद् की उन्नति के सम्बन्ध में अनेक विध उपाय निर्दिष्ट किये गये। आज कल विद्यार्थी 'पार्लिमेण्ट' और 'यूनियन कान्फ्रेन्स' की तैय्यारी में संलग्न हैं, अगले सप्ताहों में ये अधिवेशन नवीन उत्साह और जोश के साथ किए जावेंगे।

देशबन्धु की मृत्यु पर शोक सभा— १८जून को देशबन्धु दास के स्वर्गवास का हृदय-विदारक समाचार कुल भूमि में पहुंचा। एकदम पढ़ाई बन्द कर दी गई। सब कुलवासी उद्वेग के साथ एकत्रित हुए। सब के मुखों पर शोक छाया हुआ था आँखों से आंसू झलक रहे थे। वक्ताओं ने रोते रोते देशबन्धु की दिवङ्गत आत्मा के लिये ईश्वर से प्रार्थना की। उसी दिन सायं काल देशबन्धु के जीवन पर विचार करने के लिये एक सार्वजनिक सभा की गई। बहुत से वक्ताओं ने देशबन्धु के जीवन पर गम्भीर भाषण किये। उन के स्वर्गवास से देश को जो नुकसान पहुंचा है, उसका ज़िक्र किया। महात्मा गांधी की उद्घोषणा के अनुसार एक जुलाई को भी ठीक पांच बजे सायङ्काल कुलवासियों ने एकत्रित हो देशबन्धु के लिए प्रार्थना की।

प० सत्यव्रत जी प्रिन्टर और पबलिशर के लिये गुरुकुल कांगड़ी यन्त्रालय में छपा

वर्ष २, अङ्क ४ Registered No A 1340

ओ३म्

आश्विन १९८२] [सितम्बर १९२५

अलङ्कार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

मुख्य संपादक—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय सूची

विदेश से ४)   एक प्रति का ।=)   वार्षिकमूल्य ३)

लेखकों से प्रार्थना

१. लेख सामान्यतः अलंकार के ४ पृष्ठों से अधिक न हों।

२. लेख कागज़ के एक ओर, और सुवाच्य लिपि में लिखना चाहिये।

३. पत्र में प्रकाशन के लिये लेख या कविता प्रत्येक देशी मास की १० तारीख तक, और गुरुकुल-समाचार २५ तक अवश्यमेव संपादक के पास पहुंच जाने चाहियें।

४. किसी भी लेख को घटाने या बढ़ाने का अधिकार संपादक को होगा।

५. अलंकार के परिवर्तन में पत्र तथा समालोचनार्थ पुस्तकें सम्पादक के पते पर भेजनी चाहियें।

ग्राहकों के लिये सूचना

१. अलंकार पत्र प्रत्येक देशी मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों के पास पहुंच जावेगा।

२. यदि कोई संख्या किसी ग्राहक के पास न पहुँचे तो पहिले अपने डाकघर से पूछना चाहिये। यदि पता न चले तो डाक-घर से जो उत्तर आवे उसे प्रबन्धकर्ता के पास भेज देना चाहिए। यह सूचना देशी मास के तृतीय सप्ताह तक अवश्यमेव पहुंच जानी चाहिए। अन्यथा दूसरी प्रति बिना मूल्य न दी जावेगी।

३. पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या अवश्य देनी चाहिए। अन्यथा उत्तर न दिये जाने के हम दोषी न होंगे।

४. पत्रोत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट साथ भेजना चाहिए।

६. भावी ग्राहकों को चाहिए कि वे रुपये मनीआर्डर द्वारा भेजें। वी. पी. भेजने से ग्राहकों को और हमें, दोनों को कष्ट होता है। पैसे लगने पर भी समय बहुत नष्ट होता है।

७. नमूने का अंक बिना मूल्य किसी को न भेजा जावेगा।

८. प्रबन्ध सम्बन्धी सब पत्र व्यवहार प्रबन्ध कर्त्ता "अलङ्कार" गुरुकुल कांगड़ी (जि० बिजनौर) के पते से करना चाहिए।

विज्ञापन का दर

	एक पृ०	आधा पृ०	चौथाई पृ०
१ वर्ष के लिये	६) मास	३॥) मास	२) मास
६ मास के लिये	७) मास	४) मास	२।) मास
३ मास के लिये	८) मास	४॥) मास	२॥) मास
१ मास के लिये	६) मास	५॥) मास	३॥) मास

विज्ञापन का मूल्य पहले लिया जावेगा।

वर्ष २, अङ्क ४] मास, आश्विन [पूर्ण संख्या १६

अलंकार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः ।
हविष्मन्तो अरंकृतः ॥ ऋ० १. १४. ५

अनुसन्धान

(श्री हरीन्द्र चट्टोपाध्याय, मँगलौर)

मेरे हृदय के रंग में, सारे जहाँ के अङ्ग को ।
तूने समाया और मैं, फिर ढूंढता किस रंग को ॥
मेरे हृदय के साज में, है सकल धरणी सज रही ।
मेरे हृदय की बाँसरी सारे गगन में बज रही ॥
तेरे जहाँ का खुशनुमा मेरे हृदय का दास है ।
मेरे हृदय में रात दिन तेरी पुरानी रास है ॥
मेरे हृदय के प्रेम से तूने बनाया हेम को ।
फिर भी भिखारी की तरह मैं ढूँढता किस प्रेम को ॥

निर्मांस यज्ञविषयक गौतम बुद्ध के विचार

(ले० श्री पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार, पालिरत्न, वेदोपाध्याय, गुरुकुल)

सुत्त निपात के ब्राह्मण धम्मिक सुत से समांस यज्ञ कैसे चला और उस का क्या परिणाम हुआ-इत्यादि विषयों पर बड़ा प्रकाश डलता है, अतः वह प्रकरण यहाँ उद्धृत किया जाता है।

जिस समय गौतम-बुद्ध श्रावस्ती नगरी के जेतवन विहार में रहते थे उस समय उनके पास कोसलदेशीय वृद्ध ब्राह्मण आये और वार्तालाप करते हुए उन्होंने पूछा कि क्या वर्तमान समय में प्राचीन ब्राह्मणों के धर्म को पालने वाला कोई ब्राह्मण है? बुद्ध ने उत्तर दिया कि इस समय प्राचीन ब्राह्मण धर्मावलम्बी कोई नहीं दीखता। तब प्राचीन ब्राह्मणों के धर्म पूछने पर गौतम ने कहा—

१. प्राचीन ब्राह्मण ऋषि, संयतात्मा और तपस्वी होते थे। वे पांचो ज्ञानेन्द्रियों के सुखों को छोड़ कर आत्मोन्नति किया करते थे।

२. ब्राह्मणों के पास पशु, सुवर्ण और धान्य नहीं होते थे। स्वाध्याय ही उनका धनधान्य था और वेदरूपी कोष की रक्षा करते थे।

३. वे ब्राह्मण श्रद्धा से बनाया हुआ जो भोजन उन के द्वार पर गृहस्थी दे जाते थे उसी पर गुज़ारा करते थे।

४. नानाप्रकार के रंगो से रञ्जित वस्त्रों बिछौनों और मकानों से समृद्ध मनुष्य प्रान्तों और सारे राष्ट्र से आकर उन ब्राह्मणों को नमस्कार करते थे।

५. ब्राह्मण अवध्य, अजेय और धर्म से रक्षित होते थे। उन को सर्वत्र गृहद्वारों पर खड़े हुओं को कोई नहीं रोकता था।

६. वे ब्राह्मण अड़तालीस वर्ष का ब्रह्मचर्य रखते थे, और विद्या तथा आचार के अन्वेषण में लगे रहते थे।

७. वे ब्राह्मण अन्य स्त्री से सम्बन्ध नहीं करते थे। न भार्या को खरीदते, थे। विवाह करके परस्पर प्रेमी की भाँति मिलकर रहना पसन्द करते थे।

८. उस समय के अतिरिक्त, जो रजोदर्शन-समाप्ति के पश्चात् होता है, ब्राह्मण अन्य समय में मैथुन-धर्म नहीं करते थे।

९. वे ब्रह्मचर्य, शील, सरलता, मृदुता, तप, सहानुभूति, दयाभाव और सहनशीलता की प्रशंसा करते थे।

१०. जो इनका श्रेष्ठ, दृढ़ और पराक्रमी ब्रह्मा था, उसने स्वप्न में भी मैथुन-धर्म नहीं किया।

११. उसके जीवन के अनुकूल चलते हुए इस संसार में बुद्धिमान् मनुष्य ब्रह्मचर्य, शील और क्षमा (सहनशीलता) की प्रशंसा किया करते थे। फिर निर्मांस यज्ञ के बारे में लिखते हैं—

१२. तण्डुलं सयनं वत्थं,
सप्पि तेलञ्च याचिय।
धम्मेन समुदानेत्वा ततो,
यञ्ञमकप्पयुं।
उपट्ठितस्मिं यञ्ञस्मिं
नास्सु गावो हनिंसु ते॥

वे ब्राह्मण चावल, बिछौना, वस्त्र, घृत और तेल मांगकर तथा धर्म पूर्वक संग्रह करके उनसे यज्ञ करते थे। उपस्थित यज्ञ में गौओं को नहीं मारते थे।

१३. यथा माता पिता, भाता
अञ्ञेवपि च ञातका।
गावो नो परमा मित्ता यासु
जायन्ति ओसधा॥

माता, पिता, भाई और अन्य जातियों की तरह गौएं हमारी परम मित्र हैं, जिन में ओषधिएं पैदा होती हैं।

१४. अन्नदा, बलदा चेता
वण्णदा सुखदा तथा।
एतमत्थ वसं ञत्वा
नास्सु गावोहनिंसु ते॥

ये गौएं अन्नदा, बलदा, सौन्दर्यप्रदा और सुखदा हैं-इस सच्ची बात को जानकर वे ब्राह्मण गौओं को नहीं मारते थे।

१५. सुखुमाला महाकाया
वण्णवन्तो यसस्सिनो।
ब्राह्मणा सेहि धम्मे हि
किच्चाकिच्चेसु उस्सुका।
याव लोके अवत्तिंसु
सुख मेधित्थ यम्पजा॥

सुकुमार (युवा) विशालकाय, सुन्दर, यशस्वी और सब प्रकार के छोटे-बड़े कृत्यों में उत्सुक ब्राह्मण जब तक दुनिया में रहे तब तक यह प्रजा सुख की वृद्धि करती रही।

१६. तेसं आसी विपल्लासो
दिस्वान अणुतो अणुं।
राजिनो च वियाकारं
नारियो समलङ्कता॥
१७. रथे चाजञ्ञ संयुत्ते
सुकते चित्तसिब्बने।
निवेसने निवेसे च
विभत्ते भागसोभिते॥
१८. गोमण्डलपरिब्बूल्हं
नारीवरगणायुतं।
उळारं मानुसं भागं,

अभिज्झायिंसु ब्राह्मणा ॥

उन ब्राह्मणों का विपर्यय होगया। क्रमशः धीरे २ राजकीय ठाठ समलंकृत स्त्रियें, उत्कृष्ट जाति के घोड़ों से संयुक्त सुनिर्मित रथों, अनेक रंगों से युक्त चित्रों अनेक छोटे बड़े कमरों में विभक्त महलों और गृहों और अनेक गौओं तथा सुन्दरी नारियों से संयुक्त महान् मानुषीय भोग को देख कर ब्राह्मण लोभी हो गये।

१६. ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा
ओकाकं तदुपागमुं।
पभूतधनधञ्ञोसि यजस्सु बहु ते धनं॥

तब ये उस समय मंत्रों का संग्रह कर के (एक विधि तैय्यार कर के) इक्ष्वाकु के पास गये और कहा तेरे पास बड़ा धन धान्य है, यज्ञ कर तेरा धन बहुत है।

२०. ततो च राजा सञ्ञत्तो
ब्राह्मणेहि रथेसभो।
अस्समेधं पुरिसमेधं सम्मापासं
वाजपेय्यं निरग्गलं।
एते यागे यजित्वान ब्राह्मणानं
अदा धनम् ॥

तब ब्राह्मणों से आज्ञप्त रथपति राजा ने अश्वमेध, पुरुषमेध, शम्या-प्रास (शम्याक्षेप जिसे सत्रयाग भी कहते हैं) वाजपेय और निरर्गल (सर्वमेध)—इन यागों को कर के ब्राह्मणों को धन दिया।

२१ गावो सयनञ्च वत्थञ्च
नारियो समलंकता।
रथे चाजञ्ञ संयुत्ते सुकते
चित्तसिब्बने॥

२२. निवेसनानि रम्मानि
सुविभत्तानि भागसो।
नानाधञ्ञस्स पूरेत्वा ब्राह्मणानं
अदा धनं॥

गौएं, बिछौने, वस्त्र, समलंकृत स्त्रियें, उत्कृष्ट घोड़ों से संयुक्त सुनिर्मित रथ, अनेक रंगों से युक्त चित्र, अनेक भागों में विभक्त सुन्दर भवन और नाना प्रकार के धान्यों से पूरित धन ब्राह्मणों को दिया।

२३. ते च तत्थ धनं लद्धा स-
न्निधिं समरोचयुं।
तेसं इच्छावतिण्णानं भीय्यो
तण्हा पवड्ढथ।
ते तत्थ मन्ते गन्थेत्वा ओक्काकं
पुनुपागयुं॥

उन ब्राह्मणों ने राजा से धन को प्राप्त कर के संचित करना चाहा। पूरित इच्छा वाले उन ब्राह्मणों की तृष्णा और अधिक बढ़ी। तब उस समय वे मंत्रों का संग्रह करके पुनः इक्ष्वाकु राजा के पास गये और कहा।

२४. यथा आपा च पठवी
हिरञ्ञं धन धानियं।

एवं गावो मनुस्सानं परिक्खारो
सोहि पाणिनं ।
यजस्सु बहु ते वित्तं यजस्सु
बहु ते धनं ॥

जैसे जल, पृथिवी, सुवर्ण और धन धान्य है उसी प्रकार मनुष्यों के लिये गौएँ हैं। ये मनुष्यों की आवश्यक सामग्री है। यज्ञ कर, तेरे पास बहुत सम्पत्ति है। यज्ञ कर, तेरे पास बहुत धन हैं।

२५. ततो च राजा सञ्ञत्तो
ब्राह्मणेहि रथेसभो ।
नेकसतसहस्सियो गावो यञ्ञे
अघातयि ॥

तब ब्राह्मणों से प्रेरित रथर्षभ राजा ने अनेक लाख गौओं का यज्ञ में घात किया।

२६. न पादा न विसाणेन
नास्सु हिंसन्ति केनचि ।
गाव एळकसमाना सोरता
कुम्भदूहना ।
ता विसाणे गहेत्वान राजा
सत्थेन घातयि ॥

भेड़ के सामान सीधीसादी गौएँ न पैर से न सींग से न किसी अन्य अङ्ग से किसी को दुःख देती हैं, दूध के घड़े दोहती हैं, उनको सींगों से पकड़ कर राजा ने बध किया।

२७. ततो च देवता पितरो
इन्दो असुर रक्खसा ।
अधम्मो इति पक्कन्दुं यं सत्थं
निपती गवे ॥

तब देव (सन्यासी) पितर (वनस्थ) इन्द्र (स्वयं राजा) असुर (गृहस्थी) और राक्षस (आश्रमधर्म से च्युत मनुष्य) चिल्लाये कि यह अधर्म है जो कि गौ पर शस्त्र चलाया गया है।

२८. तयो रोगा पुरे आसुं
इच्छा अनसनं जरा ।
पसूनञ्च समारम्भा अट्ठानवु-
तिमागमुं ॥

इसके पूर्व तीन रोग होते थे—इच्छा, बुभुक्षा और वृद्धावस्था। परन्तु यज्ञों में पशुवध से ९८ रोग आगये।

२९. एसो अधम्मो ओक्कन्तो
पुराणो अहु ।
अदूसिकायो हञ्ञन्ति धम्मा
धंसेन्ति याजका ॥

यह पशुवध करने का अधर्म इक्ष्वाकु राजा से प्रारम्भ हुआ २ पुराना है। इस पापकर्म में निरपराधिनी गौएँ मारी जाती हैं और याजक धर्म से च्युत हो गये हैं।

३०. एवमेसो अनुधम्मो पोरा-
णो विञ्ञुगरहितो ।

यत्थ एदिसकं पस्सति याजकं
गरहति जनो ॥

इस प्रकार यह पौराणिक तथा तुच्छ धर्म बुद्धिमानों से गर्हित है। जहाँ मनुष्य इस प्रकार के याजक को देखता है उसकी निन्दा करता है।

३१. एवं धम्मे वियापन्ने
विभिन्ना सुद्दवेस्सिका ।
पुथु विभिन्ना खत्तिया पतिं
भरिया अवमञ्ञथ ॥

इस प्रकार धर्म के नाश होने पर शूद्र और वैश्य छिन्न भिन्न हो गये, क्षत्रिय अधिक धर्मच्युत हो गये और भार्या पति का अपमान करने लगी।

३२. खत्तिया ब्रह्मबन्धू च ये
चञ्ञे गोत्तरक्खिता ।
जातिवादं निरंकत्वा कामानं
वसमन्वगू ॥

क्षत्रिय, ब्राह्मण तथा अन्य वर्ण जो अपने गोत्र से रक्षित थे अर्थात् अपनी जाति के अनुसार कर्म करने वाले थे, वे जाति-धर्म को छोड़कर विषय भोगों के वश हो गये।

उपर्युक्त वर्णन से पाठकों को भली भाँति विदित होगया होगा कि किस प्रकार लोभ के वश में होकर ब्राह्मण लोग पतित होगये। कहाँ तो वे एक मात्र वेद-निधि की रक्षा किया करते थे और कहाँ वेदों का अनर्थ करते हुए मनघड़न्त विधियें तैय्यार कर के यज्ञों में पशुवध करने लगे। यह पापकर्म इक्ष्वाकु राजा से प्रारम्भ हुआ है, उस से पूर्व यज्ञों में पशुवध नहीं होता था प्रत्युत अन्न, घी और तैल आदि पदार्थों से ही यज्ञ किया जाता था। इस समांस यज्ञ की निन्दा प्रत्येक मनुष्य ने यहां तक कि राक्षस लोगों तक ने की। ऐसे याजक से मनुष्य घृणा ही करते थे। इस समांस यज्ञ से पूर्व भारत में इच्छा, बुभुक्षा और जरा-ये ही तीन रोग थे। 'काम्यो हि वेदाधिगमः कर्मयोगश्च वैदिकः' इस मनुवचन के अनुसार कामना से कोई मनुष्य नहीं छूटता था। प्रत्येक मनुष्य को भूख अच्छी लगती थी। और कोई मनुष्य विना जरावस्था प्राप्त किये मृत्यु का ग्रास नहीं होता था—ये तीन रोग पहले हुआ करते थे। परन्तु इस समांस यज्ञ के पश्चात् ९८ प्रकार के रोग फैल गये। वाचक वृन्द! देखिए समांस यज्ञ करने से कितनी रोग वृद्धि हो गई।

इस पशुयज्ञ से और भी बड़े भयंकर परिणाम दृष्टिगोचर होने लगे। क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र-तब अपने २ धर्म से च्युत हो कर विषय भोगों में फँस गये और पति पत्नि का संबन्ध प्रेममय न रहा प्रत्युत पति

पत्नी से अपमानित होने लगे।

इस प्रकरण से स्पष्ट होगया कि गौतम बुद्ध भी समांस यज्ञ को बेद-विरुद्ध ही समझते थे।

गौतम बुद्ध की सम्मति में अश्व-मेध, पुरुषमेध, शम्याप्रास (सत्र याग) वाजपेय और निर्गल (सर्वमेध) इन यज्ञों का क्या उच्च अभिप्राय था, वह भी बड़ा रोचक है। लीजिए उसे भी देखिए।

सारसंग्रह और संयुत्तनिकाय की कोसल संयुत्तवण्णा में लिखा है कि ये पाँचो यज्ञ मेध अर्थात् संग्राहक थे। इनके द्वारा राजा प्रजा का संग्रह करता था और इस लोकसंग्रह के द्वारा राष्ट्र परम समृद्धि को पाता था।

१. **अश्वमेध**—अश्व का अर्थ है सस्य। राजा कृषकों को भूमि दे देता था और उत्पन्न सस्य में से केवल १० वाँ भाग राज्य का होता था, शेष ९ भाग कृषक अपने पास रखता था। इस से राष्ट्र में प्रभूत धान्य पैदा होता था और राजा प्रजा को अपनी ओर आकर्षित कर लेता था 'सस्स संपादने मेधाविता'।

२. **पुरुषमेध**—राजकर्मचारिओं को ६, ६ मास के पश्चात् वेतन और भत्ता नियम पूर्वक अवश्य दे दिया जाता था। इस से कर्मचारियों को किसी तरह की चिन्ता या अविश्वास नहीं होता था, वे दिल लगा कर कार्य करते थे। इस यज्ञ के द्वारा राजा राज-कर्मचारियों को अपने प्रिय बना लेता था। 'पुरिससंगहणे मेधाविता'।

३. **शम्याप्रास (सत्रयाग)**—राजा दरिद्र मनुष्यों को तीन वर्ष तक के सत्र के लिये सहस्र दो सहस्र रुपये बिना व्याज के दे देता था। (शम्यायै) शान्ति स्थापन के लिये (प्रासः) रुपये के निक्षेप से इस यज्ञ का नाम 'शम्याप्रास' है। इस विधि से दरिद्र मनुष्यों का बड़ा उद्धार होता था और वे राजा के प्रेमी बने रहते थे। 'तं हि सम्मा मनुस्से पालेति हृदये बन्धित्वा विय ठपेति तस्मा सम्मापासं'।

४. **वाजपेय**—वाज का अर्थ है वाच् अर्थात् वाणी। राजा, राजपुरुष और प्रजा पुरुष-सब परस्पर में तात मातुल! भ्रातः! मित्र इत्यादि प्रियव-चनों और सुमधुर शब्दों का ही प्रयोग करते थे, कभी किसी के लिये कटु या अप्रिय वचन का व्यवहार नहीं किया जाता था। एवं, प्रियवच-नामृत से छोटे बड़े सब पेय होने के कारण इस यज्ञ का नाम 'वाजपेय' था।

५. **निरर्गल (सर्वमेध)**-उपर्युक्त

चार यज्ञों के कारण राष्ट्र में सब प्रकार से शान्ति और सुख रहता था। करोड़पति मनुष्य भी गृहद्वार बंद किये बिना किसी भय के प्रसन्न वदन होकर गोद में नन्हें २ बच्चों को नचाते हुए इतस्ततः स्वेच्छा विहार करते थे। उन्हें घरों में अर्गल या ताला आदि डालने की कोई आवश्यकता न थी। अतः इस यज्ञ का नाम 'निरर्गल' था।

आहा! जब भारत में इस प्रकार के पांचों यज्ञ प्रचलित थे तब राष्ट्र की क्या समृद्धि, शोभा और शांति होगी वह वर्णनातीत है। सचमुच स्वर्गधाम ही होगा।

"बेख़बर"

(श्री पं० धर्मदत्त जी विद्यालंकार)

गैरों के साथ बात में मैं तो लगा रहा
प्रीतम तो मेरा घर के ही बाहर खड़ा रहा।
उसको हटा हटा के सब अन्दर हैं आरहे
औरों में उसका ध्यान ही मुझको नहीं रहा।
कितने ही प्रेम से मुझे वो भेंट दे गया
पर धन्यवाद भी उसे मैंने नहीं कहा।
घर में तो नाचरंग हैं दिनरात हो रहे
उसको मगर मैंने नहीं आने को है कहा
वो बारबार द्वार पर आकर चला गया
मैं बेख़बर सा नींद में सोया पड़ा रहा
आख़िर वो हार करके जब वापिस चलागया
देखा तो हाय! द्वार पर कोई नहीं रहा।

प्राचीन भारतीय भवन निर्माण विद्या

(ले०- प्रो० विधुभूषण दत्त जी एम० ए०)

भारत के प्राचीन काल की निर्माण कृतियों के खण्डरात अब तक नहीं मिले । प्राचीन अवशेष जो अब तक प्राप्त हुये हैं, उनमें सब से प्राचीन ग्रीवज नगर की पत्थर से बनी हुई प्राचीर का अंश है । ग्रीवज शिशुनाग वंश के समय मगध राज्य की राजधानी थी। राजा बिम्बसार के समय वह राजधानी यहाँ से उठाकर राजगृह में परिवर्तित करदी गई। विम्बिसार तथा उनके पुत्र अजातशत्रु और गौतमबुद्ध के समकालीन उत्तर भारत में राजगृह तथा ग्रीवज में बनी हुई कृतियों के खण्डरात अब भी मिलते हैं । उत्तर कालीन बौद्ध साहित्यिक युग में लिखे गये 'विमानवथु' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि नवीन राजधानी राजगृह की रचना विख्यात निर्म्माणकलावेत्ता (Engineer) महागोविन्द ने की थी। और उसने अन्य भी बहुत से नगरों के नक्शे (Design) तथा निर्माण कार्य बनाये थे । विम्बिसार ने शासन काल के समय तथा उस से पहले उत्तर भारत में कोशल, काशी, अवन्ती, वंश प्रभृति अनेक राज्य तथा उनकी राजधानियां विद्यमान थीं। इन में से बहुत से राज्य मिल कर 'षोडश जन पद' नाम से प्रसिद्ध थे। इस में सन्देह नहीं कि इन भिन्न २ राज्यों की राजधानियाँ भी महागोविन्द के समान दक्ष निर्माण कलावेत्ताओं ने बनवाई थीं। 'बौद्ध जातक माला' एक प्रकार की प्राचीन बौद्ध कहानियें हैं, जिन में तत्कालिक समाज का चित्र खींचा गया है। 'मिलिन्द पंहों' नामक एक और प्रामाणिक ग्रन्थ है, इस में प्राचीन बौद्ध काल के भिन्न २ व्यवसायों का उल्लेख किया गया है। नौका निर्माण, शकटनिर्माण तथा भवन निर्माण विद्या का भी उल्लेख उस में मिलता है।

[यथिति 'मिलिन्दपंहो' १.५६३९० और पाषाणकसक] जातक ४'१४७९ यह दोनों शब्द निर्माण विद्या के संकेत हैं:—

बौद्ध काल (ईसा से छठी शताब्दी पूर्व) मे अधिक प्राचीन महाकाव्यों में वर्णित उत्तर भारत की आर्यबस्तियों के चिन्ह नहीं मिलते । यह पहिले ही कहा जा चुका है कि आर्य बस्तियों से पहिले द्रविड़ इत्यादि असभ्य जातियां नदियों के तट पर दुर्ग इत्यादि बना कर रहती थी। रोम के ऐतिहासिक प्लीनी ने अपने प्राकृतिक इतिहास (Natural History) में सम्भवतः मेगस्थनीज़ से लेकर लिखा है कि मौर्य साम्राज्य के अभ्युत्थान काल में (३२० ईसा से पूर्व) आन्ध्र देश के निवासी द्रविड़ अपने राज्य दक्षिणापथ में ३० से अधिक प्राचीर वेष्टित नगर बना कर रहते थे। उनके खण्डरात शेष हैं या नहीं, यदि हैं भी तो अब तक आविष्कृत नहीं हुये । खण्डरातों के न मिलने का यह भी कारण है कि इस देश के जलवायु के प्रभाव से कई चीजें नष्ट हो जाती हैं और अग्नि, भूकम्प, बाढ़ इत्यादि प्राकृ-

तिक उपद्रव प्राचीन काल से मानवीय कृतियों का नाश करते आरहे हैं। मध्ययुग में विजातीय लोगों द्वारा भी बहुत सी प्राचीन कृतियाँ नष्ट की गई थीं।

बौद्ध कालीन भारतीय कृतियों में से राजा अशोक की कृतियाँ प्रधान हैं। स्तूप, स्तम्भ विहार नानाविधमूर्तियाँ, गुहायें, विशेषतः शिलालेख, स्तम्भलेख प्रभृति, जो प्रायः सभी स्थानों पर पाये जाते हैं, भारतीय इतिहास की रचना के आधार माने जाते हैं। अशोक के शिलालेखों की तरह पुरातत्व का प्रत्यक्ष निदर्शन किसी देश में विद्यमान नहीं। इन सब लेखों को ऐतिहासिक बड़े मान की दृष्टि से देखते हैं। इनके द्वारा पुरातत्व के अनुसन्धान में बड़ी सहायता मिल सकती है। इन लेखों को प्राचीन पुस्तकों से मिलाने पर मौर्य साम्राज्य की सीमा, शासन सुधार तथा भारतीय शिल्पकला का सुन्दर परिचय मिलता है।

अशोक द्वारा बनवाई हुई कृतियाँ

इन कृतियों में सब से ज्यादह उल्लेख योग्य स्तम्भ हैं। प्रत्येक एक बड़े पत्थर में बड़ी सुन्दरता से घड़ा गया है और शिखर पर उसी पत्थर से बड़ी निपुणता से सिंह की द्विमुखी या चतुर्मुखी मूर्त्तियां घड़ी गई हैं। इन स्तम्भों पर बड़ी सुन्दर नक्काशी की हुई है। इन पर राजा अशोक की धर्मलिपियाँ खुदी हुई हैं।

१. दिल्ली नगर के समीप फीरोज़ाबाद स्थान में एक स्तम्भ है जो पहले पंजाब प्रान्त के अम्बाला जिले में टुपरा नामक स्थान में प्रतिष्ठित था। तुगलकवंशीय बादशाह फीरोजशाह वहां से अपनी राजधानी में उठा लाया। तुगलक सुलतान की विद्वत्ता इतिहास में प्रसिद्ध ही है यहां पर उसका पुरातत्वानुराग भी स्मरणीय है।

२. दूसरा स्तम्भ दिल्ली के पास ही कोठी-पहाड़ी नामक स्थान में है। यह पहले मेरठ में था। इसे भी सुलतान फीरोजशाह ने वहां से लाकर अपने मृगयागार (Hunting musium) में रक्खा था। उत्तरकाल में वह धराशायी हो गया था परन्तु १८६७ में ब्रिटिश गवर्नमेंट ने फिर वहीं स्थापित किया।

३. तीसरा स्तम्भ प्रयाग में त्रिवेणी संगम के दुर्ग में प्रतिष्ठित है। यह स्तम्भ पहले कौशाम्बी में था। कहते हैं कि इसे भी फीरोज शाह ने ही यहां पर गाड़ा था। प्रसिद्ध सम्राट् समुद्रगुप्त (३४० ई०) के अभिलेख भी इस पर खुदे हुए हैं। यह स्तम्भ अनेक बार भूमिशायी हुआ है। बहुत से लोगों ने इस पर अपने २ नाम तथा चिन्ह अङ्कित किये हैं। सम्राट् अकबर के मन्त्री राजा बीरबल का एक लेख भी खुदा हुआ है।

४. रधिया स्तम्भ—यह विहार के चम्पारन जिलान्तर्गत लोरिया गांव के पास रधिया नामक स्थान में स्थित है।

५. मथिया स्तम्भ—पूर्वोक्त लोरिया ग्राम के पास मथिया नामक स्थान के १ मील उत्तर में स्थित है।

६. सारनाथ स्तम्भ—यह बनारस शहर से ३ मील उत्तर की ओर सारनाथ में स्थित है। सब से पहिले बुद्ध ने यहीं पर अपना धर्म-चक्र प्रवर्तन किया था।

७. कौशाम्बी स्तम्भ—पूर्वोक्त प्रयाग के स्तम्भ के समान एक स्तम्भ इस स्थान पर है।

८. सांचीस्तम्भ—भूपाल राज्यान्तर्गत सांची नामक स्थान में है।

९. रूम्मिणी देई—यह स्तम्भ नैपाल की तराई में भगवानपुर नामक स्थान से २ मील उत्तर की ओर संयुक्त प्रदेश के बस्ती जिले के दुलहा नामक ग्राम से ६ मील उत्तर पूर्व में है। भगवान् बुद्ध का जन्म इसी स्थान पर हुआ था।

११. निगलिया—यह बस्ती भी नैपाल की तराई में बस्ती ज़िले के उत्तर में निगलिया नामक सरोवर के उत्तर में अवस्थित है।

इनके अतिरिक्त राजा अशोक ने और भी बहुत से स्तूप बनवाये थे कहते हैं कि उसने ३ वर्ष में ८४000 स्तूप बनवाये थे। यद्यपि संख्या के विषय में मतभेद है तथापि इसमें सन्देह नहीं कि उन्होंने बहुत बनाये थे। प्रत्येक बौद्ध कालीन किसी महत्वपूर्ण घटना की स्मृति के लिये बनाया गया था। इन सबस्तूपों में से सांची का स्तूप सबसे अच्छी हालत में है। सांची का प्राचीन नाम चौतेयगिरी था और प्राचीन विदिशा तथा उज्जयिनी नगरी के समीप था। सिंहल की प्रसिद्ध महावंश नामक पुस्तक में लिखा है कि बाल्यकाल में जब अशोक वायसराय बन कर उज्जयिनी में रहते थे तो उन्होंने विदिशा के एक धनाढ्य बनिये की कन्या का पाणिग्रहण किया। जिस के कोख से पुत्र महेन्द्र तथा कन्या सुगमित्रा का जन्म हुआ। किन्तु राज्य प्राप्ति के लिये पाटलि पुत्र में जाते समय उसे बनिये की बेटी कहकर छोड़दिया। चाहे इस प्रेम के कारण या किसी अन्यकारण से उन्हें विदिशा से अनुराग था। इसलिये ही उत्तरकाल में उन्होंने विदिशा को स्तूप निर्माण कार्य के लिये चुना था। इस स्थान के पास उच्च उपत्यका पर ११ स्तूप पाये गये हैं। १८२२ ई. से १८५१ई. तक के अन्तर में आविष्कृत हुये थे। अन्त में खनन कार्य द्वारा एक छोटे स्तूप में गौतम बुद्ध के प्रिय शिष्य सारीपुत्र मुद्गलायन के देह की भस्म पा गई।

इन स्तूपों में सब से प्रधान स्तूप सांची का स्तूप है। इस स्तूप के चारों ओर की दीवार में, पत्थरों में, अशोक कालीन अक्षरों में लिखे हुये अभिलेख दृष्टिगोचर होते हैं। प्रवेशद्वार बड़ा तथा तत्कालीन कारीगरी का नमूना। है Cunninghum की सम्मति है कि ये द्वार तथा प्राचीर के कई अंश अशोक के परवर्ती काल में बने थे। निःसन्देह यह सारी निर्माण प्रणाली Architecturalstile अशोक के समय में प्रचलित इस देश की निर्माण प्रणाली का परिचय देती है स्तूपों के अतिरिक्त अशोक ने बहुत से चैत्य, विहार, संघाराम प्रभृति बौद्ध सन्यासियों के निवास के लिये बनाये थे। इसी प्रकार का एक विहार गया के समीप बराबर पहाड़ी पर विद्यमान है। इन स्तूप विहार आदि के साथ २ गृह, मन्दिर, मार्ग और पाठशाला प्रभृति भी बनवाये थे। परन्तु अब इन में से कोई भी अच्छी हालत में नहीं हैं। इनके खण्डहर ही प्राप्त होते हैं। कइयों का कहना है कि वर्तमान बुद्ध गया का मन्दिर पहिले अशोक ने ही बनवाया था, परन्तु वह नष्ट हो चुका है। कइयों की धारणा है कि वर्तमान गया के बौद्ध मन्दिर के पास दीवार के कुछ अंश तथा प्रसिद्ध सिंहासन राजा अशोक की कृतियाँ

के अवशेष हैं। राजा अशोक ने अपनी राजधानी पाटलीपुत्र नगर को अट्टालिकाओं से सुशोभित किया था। उन द्वारा बनाए गये 'अशोकआराम' तथा 'कुक्कुटाराम' नामक राजप्रसादों के ध्वंसावशेष पुरातत्वानुसंधान के दृष्टिगोचर हुवे (Waddt tlle report on the excaratios at Patali Putr 1903 cālcutter) हैं। प्रायः ६०० वर्ष बाद चीनी यात्री फाहियान ने पाटलीपुत्र को देखा था। अशोक के राजप्रासादों के बड़े विस्तार तथा रचना प्रणाली को देख कर उसने सोचा था कि यह राजप्रासाद अलौकिक शक्तिसम्पन्न व्यक्तियों द्वारा बनवाये गये थे। राजा अशोक ने पाटलीपुत्र के अतिरिक्त दो अन्य नये नगर बनवाये थे। राजतरंगिणी में लिखा है कि काश्मीर की राजधानी प्राचीन श्रीनगर को भी अशोक ने ही बनवाया था। राजा अशोक जब अपनी कन्या चारुमति के साथ नैपाल राज्य में गये थे तो उन्होंने नैपाल का देवपाटन या देवपत्तन नामक नगर बताया था।

वास्तव में इतने नगर, प्रासाद, मन्दिर स्तूप और बिहार प्रभृति एक राजा की निर्माण कला का परिचय देने के लिये बहुत अधिक हैं। उसे देख कर अंग्रेज ऐतिहासिक विन्सेन्ट स्मिथ ने कहा था कि अशोक बड़ा भारी निर्माता था (Ashok was a great builder) यह राजा अशोक के बौद्ध धर्म के प्रति असाधारण अनुराग का ही फल था। धार्मिक इतिहास में और कोई ऐसा उदाहरण नहीं मिलता। इसी अनुराग के कारण उसने बौद्ध धर्म सम्बन्धी विहार, स्तूप, मन्दिर आदि के बनवाने में दिल खोल कर सहायता दी, जिससे इस देश की निर्माणविद्या की विशेष उन्नति उत्तर काल में भी होती गई। परन्तु राजा अशोक निर्माण विद्या के जन्मदाता नहीं थे क्यों कि उन्होंने निगलीवाह के कोनागमन स्तूप के विषय में लिखा है कि यह स्तूप पहिले से ही विद्यमान था उन्हों ने नया नहीं बनावाया था परन्तु उसी स्तुप को दुगुना करवा दिया था। बौद्ध महापरिनिब्बाणसूत्र ग्रन्थ में लिखा है कि गौतम बुद्ध के देहान्त के बाद उनकी भस्म राशी भिन्न २ स्थान के लोगों ने सुरक्षित रक्खी हुई है। सम्भवतः लोगों ने उनकी तथा उनके शिष्यों की भस्म की रक्षा के, लिये ही स्तूप इत्यादि बनवाये थे। ऐसा भी उल्लेख मिलता है, कि गया के समीपवर्ती बराबरपहाड़ियों में आजीवक भिक्षुकों के लिये जो गुफ़ा बनवाई गई थी उसका निर्माण भी अशोक के समय में ही हुवा था इस का स्पष्टतः उल्लेख नहीं है। अशोक के पूर्वकालीन एक और रचना का उदाहरण मिलता है, कि जूनागढ़ के समीप सुदर्शन नामक सरोवर है उसका निर्माण-कार्य अशोक के पितामह चन्द्रगुप्त की अधीनता में यवन राजा तुषाषा ने सम्पादित किया था मौर्य राजधानी पाटलीपुत्र नगर का निर्माण भी मौर्यकाल से बहुत पहले—ईसा से ५ शताब्दी पूर्व—शिशुनाग वंशीय राजाओं ने किया था इस के बाद नन्दवंशीय और मौर्यवंशीय राजाओं ने इस की उन्नति की थी। चन्द्रगुप्त के सहायक तथा मन्त्री कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ में नगर रचना तथा निर्माण विद्या के विषय में जो सूक्ष्म तथा विस्तृत विचार प्रकट किये हैं वह

पाटलीपुत्र का ही चित्र है। वस्तुतः अशोक के समय की बौद्ध निर्माण कृतियें तथा अन्यान्य शिल्प कलाएँ इस काल में उद्भावित नहीं हुई थी परन्तु वे पूर्वकाल में शिल्प इत्यादि कलाओं की अविच्छिन्न धारा में परिणति (Development) मात्र है इस देश की निर्माण विद्या में राजा अशोक की विशाल साम्राज्य शक्ति की सहायता और बौद्ध जनता के असाधारण धर्मोत्साह से आशातीत उन्नति हुई

अशोक के परिवर्तित काल की कृतियाँ

अशोक के उत्तरकाल की निर्माण विद्या के भी बहुत उदाहरण विद्यमान हैं। ईसा के ३ शताब्दी पूर्व से दशम शताब्दी पर्य्यन्त का सुदीर्घकाल भारतीय साहित्यिक कला तथा शिल्प आदि कलाओं की उन्नति के लिए स्वर्णयुग था। उस समय मौर्य, आन्ध्र, गुप्त वंशीय पराक्रमशाली राजाओं ने मध्य तथा उत्तर भारत में अपना २ विशाल साम्राज्य स्थापन कर उसे उन्नति की पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया। उत्तर पश्चिम प्रान्तों में ग्रीक, शक, कुशान, प्रभृति विदेशीय वीर जातियों ने आधिपत्य स्थापित किया और भारतीय धर्म तथा सभ्यता से प्रभावित होकर अपना भेदभाव खो दिया। उन्होंने अपने प्राचीन ईरानी, ग्रीक प्रभृति उच्च जातियों की निर्माण प्रणाली को भारत वर्ष की रचना प्रणाली से मिला कर नई प्रणाली का आविष्कार किया। दक्षिण भारत में आन्ध्र, चालुक्य, बल्लभी, राष्ट्रकूट और चौहान वंशीय राजाओं ने अपना २ पृथक २ साम्राज्य स्थापित करके उस स्थान को शिल्प कला तथा निर्माण विद्या को उन्नति के शिखर पर पहुँचाया। इस समय भारत में बौद्ध जैन तथा नये हिन्दु-सम्प्रदायों के बीच में परस्पर प्रतिस्पर्धा जन्य (Rivalary) जागृति हुई। इन सब सम्प्रदायों के नेताओं ने अपने २ राजाओं तथा बनियों की सहायता से इस देश की निर्माण कृतियों को भिन्न २ दिशाओं से उन्नति की। फलतः अनेक स्थानों में भिन्न २ प्रणाली से स्तूप मन्दिर स्तम्भ प्रभृति बनाए गये जिन में से अब भी बहुत से विद्यमान हैं। उल्लेख योग्य स्थानों का नीचे नाम दिया जाता है।

अशोक के परवर्तित काल के स्तम्भों में से वेदसा, किम्हारी और दिल्ली के प्रसिद्ध लोह स्तम्भ हैं। इन के अतिरिक्त बालगांव, धारबाल, अलोरा, जयपुर, पुरी और सम्पाली प्रभृति स्थानों के स्तम्भ भी उल्लेख योग्य हैं। दक्षिण देश के स्तम्भ अधिकांश में जैनियों द्वारा बनाए गए हैं। उस समय के विजय तोरण और कीर्तिस्तम्भों में से गोरखनाथ, जयरामपुर, मुधेरा पथरी, राज समुद्र, रेवा, सिद्धपुर, बादनगर और औरंगल के स्तम्भ प्रसिद्ध हैं। स्तूपों की संख्या बहुत है उन में से अधिकांश उत्तरपश्चिम सीमान्त प्रदेश में स्थित हैं। जलालाबाद के समीप अहिन कोश, बहारबाग, द्वारन्त, हिड्डा और सुलतानपुर के स्तूप स्वाट प्रदेश का चोअडारा, चौकपट और पोपडारा के स्तूप खादवार के अन्तर्गत इसपुला और आलिमर्जिति पञ्जाबके माणिकल और पेशावर के कुशाण राजा कनिष्क द्वारा प्रतिस्थापित स्तूप ये सब उस प्रदेश के ईसा पूर्व तथा पश्चात् शताब्दियों में बौद्ध प्रभाव का परिचय देते हैं।

अन्यान्य स्थानों के स्तूपों में से अमरावती, भारहुत, भट्टीपुल, भीलीधा, बुद्धगया, घावद आक, ग्रीपक जगाए पेता, पिप्रा पोवा, सारानाथ, और यलरूखहन प्रसिद्ध हैं। ये सब भी बौद्ध काल में ही बने थे।

बौद्धों द्वारा पर्वतों में खोद कर की गहरी गुहाओं में बौद्ध, जैन, आजिवक प्रभृति भिन्न २ सम्प्रदायों के साधु निवास करते थे बम्बई प्रदेश के पहाड़ों में ही अधिकतर दृष्टि गोचर होती है। इन पहाड़ों की प्रकृति खोद कर मकान बनाने के लिए उपयोगी है। भाज, कोण्डन, बैदसा, नासिक कादल, अजन, जुनार, केनारी, अलोरा प्रभृति गुफाएं इसी स्थान में हैं। यह निश्चित है कि ये गुफाएं ईसा की द्वितीय शताब्दी पूर्व से ईसा की सातवीं शताब्दि के मध्य भाग तक अन्तर में बनाई गई थी। अन्य स्थानों की गुफाओं में से बाग, कैशनगर, और धामपुर की गुफाएं ईसा की छठी शताब्दि में खोदी गई। राजपूताना के अन्तर्गत खाम्बी और मदघस गुष्ट पक्षी गुहा अपेक्षाकृत प्राचीन हैं। इसके सिवाय अफगानिस्तान के पर्वतों और पञ्जाब में स्थान २ पर कितनी ही गुफाएं हैं। बौद्ध स्तूप तथा गुहाओं के साथ अनेक विहार या मठ बनाए गए थे। इन का बौद्ध नाम संघाराम अर्थात् बौद्ध संघ या दल का निवासस्थान है। साधारणतः विहार में विस्तृत चतुष्कोण पर सन्यासियों के निवास के लिए गृह-पंक्तियां बनवाई हुई थी। पश्चिम भारत में गुहाओं के साथ २ अनेक स्थानों पर पर्वतों में खोद कर इस प्रकार के विहार बनाए गए थे। जैसे अजन्ता, अलोरा, किन्हारी, कर्हली, नासिक प्रभृति औरङ्गाबाद, काड़ाट कूबा और महार नामक स्थानों में इस प्रकार के विहार खुदे हुए हैं, ये सभी प्राचीन हैं। चीनी यात्री ह्यून्सांग ने ईसा की ७वीं शताब्दि में दक्षिण कोशल (वर्तमान मध्यभारत के अन्तर्गत) का वर्णन करते हुए पहाड़ में खोदे हुए एक ऐसे ही बड़े विहार का विवरण दिया है वह विहार राजा साह ने बनवाया था। एक पर्वत के बीच में दो मील लम्बी सुरंग खोद कर एक संघाराम बनवाया था, जिस के चारों ओर ५ मंजिल वाले मकान बनवाए थे। जिनकी दीवारें तथा पुल, पहाड़ में बड़ी सुन्दरता से खोद कर बनवाई गई थीं। उसके बीच में बहुत सी गुहाएं तथा लम्बे २ कमरे, दरवाजे, बरामदा, स्तम्भ, मार्ग प्रभृति विद्यमान हैं।

यह सारी रचना सुप्रसिद्ध बौद्ध पण्डित नागार्जुन century A. D. के वास के लिये बनाई गई थी। इन के द्वारा बहुत कुछ बौद्ध शास्त्रों की उन्नति हुई। सम्भवतः नागार्जुन अपने बहुत से शिष्यों के साथ वहां निवास करते थे। यह कहा जाता है कि उत्तरकाल में बौद्ध भिक्षुओं ने लड़ाई कर के यह स्थान छोड़ दिया और लोभी ब्राह्मण प्रतिद्वन्द्वियों ने इस से फायदा उठा कर 'संघाराम' को बन्द करके भर दिया।

कुछ काल बाद जब बौद्ध-सन्यासी-सम्प्रदाय बढ़ने लगा और एक स्थान पर बहुत २ सन्यासी रहने लगे तो विहार तथा मठ इत्यादिकों के परिमाण में वृद्धि करना आवश्यक जान पड़ा तथा परवर्ती काल के बड़े २ बौद्ध

विहार ईंट तथा लकड़ी से बनाए गये थे। उत्तर-पश्चिम प्रदेश तथा पूर्व प्रदेश के अनेक मठ इस प्रकार के थे। इसका नालिन्दा उज्वल उदाहरण है। इस में एक ही समय 10000 मनुष्य वास कर सकते थे।

जैनों द्वारा निर्मित कृतियों में मन्दिर प्रधान हैं। बौद्ध—काल के साथ २ और उसके बाद जैनियों ने भारत के नाना स्थानों में, विशेषतः महापुरुषों के जीवन से सम्बन्धित तीर्थ स्थानों में बड़े २ मन्दिर बहुत व्यय कर के बनवाए थे। भारत में जैन-सम्प्रदाय अब भी विद्यमान है। कई धनिक वणिक् इस सम्प्रदाय को अब तक मानते हैं तथा धर्म मन्दिर बनवाते हैं। जैनमन्दिरों में से निम्नलिखित मन्दिर उल्लेख योग्य हैं।

उत्तर भारत में- १. आबू पर्वत में आदिनाथ नेमिनाथ के मन्दिर (२) निकटवर्ती चन्द्रावती के मन्दिर, (३) जबलपुर निकटवर्ती भावनगर तथा भेरघाट, गिरनार में नेमिनाथ के मन्दिर—गैरसपुर, खजुरा, कुन्दलपुर, लाखुन्दी, मुकुन्दद्वार, मुक्तगिरी (ग्वालियर के पास) नागोदर पालिताना परेशनाथ (बंगाल छोटा नागपुर) रानीपुर, झड़ियाल (झल्वलपुर के निकट) रामपुर (जोधपुर में) और बुन्देलखण्ड के अन्तर्गत सोनागढ़ के मन्दिर दक्षिण भारत में—सावुनबिलगुंला, ओहिहोलपतदकल के मन्दिर प्रसिद्ध हैं।

हिन्दुओं की भी निर्माण—कृतियों में मन्दिर प्रधान हैं। इनकी संख्या और भी अधिक है। भारत में प्रायः सर्वत्र प्राचीन हिन्दु मन्दिरों के अवशेष दिखाई देते हैं। उन में से बहुत कुछ सुरक्षित हैं। बौद्ध और जैनियों के प्रभाव के समय हिन्दुओं का प्रभाव इस देश में कम न हुआ था। उन्होंने बौद्ध तथा जैनियों के मन्दिर निर्माण की प्रतिस्पर्धा में और भी अधिक मन्दिर बनवाये, इसी काल में हिन्दुओं में विभिन्न सम्प्रदायों के प्रादुर्भाव के कारण अनेक देवी देवताओं के पूजन के लिये मन्दिरनिर्माण का कार्य बढ़ता ही रहा। हिन्दुमन्दिरों में निम्न उल्लेख योग्य हैं।

काश्मीर के अन्तर्गत मार्तण्डवनियात, अवन्तीपुर, बद्रीनाथ, शङ्करपुर और पादर के मन्दिर नैपाल के पशुपति मन्दिर-भवानी मन्दिर और पठन के महादेव तथा कृष्ण के मन्दिर।

उत्तरभारत में आरिहोल-अमरकण्टक (अजमेर के निकट) वरोली, भीतरगांव (कानपुर जिला) के मन्दिर।

मद्रासप्रेसीडेंसी में श्रीरङ्गम, वैलोर, मदुरा, रामेश्वर, तंजोर, काञ्जीवरम, चिद्धम्बरम, कुम्भकोणम, कुलमदो, मामल्लिपुर पिररतदपाली, श्रीठसल, तारामङ्गल, तिनामिलि, तिरुवालूर, विरोञ्जपुर प्रभृति॥

आंध्र और महाराष्ट्र में बादामी, अबुदापर, कावित प्रभृति।

दाक्षिणात्य के—वेलग्राम, आनुमाकुण्ड, दम्बल, गाडक गोलकनाथ, हयशालेश्वर, कुकानद, त्वाबुदी, लक्ष्मीश्वर, नागागेहली प्रभृति।

महिसुर के सोमनाथपुर, वेलोर, इत्यादि मन्दिर प्रसिद्ध हैं।

मेवाड़, के वागदा, ग्वालियर के तिलिका मन्दिर। पुरी और भुवनेश्वर मन्दिर।

बनारस, वृन्दावन तथा अन्यान्य तीर्थस्थानों के असंख्य हिन्दूमन्दिर।

इसके अतिरिक्त अमृतसर का सिक्खमन्दिर

उल्लेख योग्य है। यह मन्दिर ईसा की आठवीं या नवमी (A.D) के बाद निर्मित हुआ था। इसका निर्माण बहुत कुछ मुसल्मानों के राजत्वकाल में हुआ। इससे प्राचीनकाल के मन्दिर ध्वस्त हो चुके हैं

भारतवर्ष में मुसलमानों द्वारा बनाई हुई कृतियाँ अपेक्षया कम प्राचीन हैं तथापि उन में से बहुत कुछ नष्ट हो चुकी है। और अन्य भी प्राचीन भारतीय कृतियों की तुलना में अल्प दिनों में ही नष्ट हो गईं। मुसलमानों ने इस देश की बहुत सी कृतियों का विध्वंस किया परन्तु साथ ही साथ बहुत सी नवीन बनाईं भी। इस का विशेष कारण है- प्रथम इस देश में आकर मुसलमानों ने कन्नौज, अजमेर, मथुरा प्रभृति नगरों की सुवृहत् और सुसज्जित अट्टालिकायें तथा सोमनाथ प्रभृति मन्दिरों को देख कर इस देश की निर्माण विद्या का जो परिचय पाया—इस देश के राजा होकर स्वभावतः उस के पृष्टपोषक और सहायक बने थे; इस के अतिरिक्त किन्हीं विजेताओं ने विजित देश में अपने आधिपत्य को स्थापन करने के लिये जिस प्रकार नीति परवश होकर बड़े २ नगर तथा अट्टालिका निर्माण कर अपनी क्षमता का परिचय दिया है, मुसलमानों ने भी ऐसा ही किया था। इस लिये उन में शिक्षा-आदर्श का अभाव नहीं था क्यों कि जातीय तथा ऐतिहासिक क्रम के अनुसार मुसलमानों ने प्राचीन असीरिया और ईरानी जातियों की घनिष्टता सम्पादन की और यह सब जातियें भी राज नीति में सिद्धहस्त थीं। सुविख्यात कुतुब मीनार और तत्संलग्न तोरण अट्टालिका इत्यादि मुसलमानों के इस देश में आने के कुछ समय बाद बने थे (कहा जाता है कि कुतुब के पीछे होने वाले शासक अल्तमश ने इसे समाप्त किया था।) गौड़ (बंग विहार की सीमा में) और मेवडू (मध्य भारत में) खण्डरात के प्राथमिक मुसल्मानों की कृतियों का अवशेष मात्र हैं। जौनपुर (युक्तप्रदेश) और अजमेर (राजपूताना) की बड़ी मसजिदें तथा सैसरेन (विहार) में शेरशाह का समाधिमन्दिर इस देश के पठान शासन काल की निर्माण कृति का परिचय देते हैं। अहमदाबाद, गुलबर्गा और बीजापुर की असंख्य बृहद् अट्टालिकायें और ठट्टा (सिन्ध) की मनोहर मसजिद और समाधि मन्दिर मुसलमान काल के अन्तर्वर्ती परिवर्तन काल के भारतीय—शिल्प या निर्माणविद्या का नमूना है। इस के बाद ही मुगल शासन प्रारम्भ हुआ, इस काल में इस देश की शिल्पकला और निर्माणादि कार्य में जो उन्नति हुई वह इतिहास में प्रसिद्ध है। तत्कालीन भारतीय-निर्माण कृतियों के बहुत दृष्टान्त विद्यमान हैं। आगरे के ताजमहल, सिकन्दरा में अकबर की समाधि और लाहौर में जहांगीर की समाधि प्रसिद्ध है। इस के अतिरिक्त आगरा, दिल्ली, लाहौर, दौलताबाद, अजमेर और फतहपुरसीकरी में मुगलों की कृतियों के असंख्य दृष्टान्त मौजूद हैं। फैज़ाबाद, लखनऊ, मुर्शिदाबाद, ढाका (जहांगीर नगर) प्रभृति स्थानों के प्राचीनमहल आदि में अन्तिम मुसलमान बादशाह की भारतीय-शिल्प की

दक्षता दर्शनीय है। मुसलमानों के निर्माण कार्य के साथ साथ इस देश में हिन्दू निर्माण कार्य स्थगित नहीं हुआ किन्तु अनेक स्थानों में हिन्दू स्वाधीन थे, बिना किसी रुकावट के अपने २ नगर तथा अट्टालिकायें बनाते थे।

मुसलमानों के मध्य-युग में हिन्दूराज्य विजयनगर का (१३३६-१५६५ ए० डी०) का जो विवरण दिया है, उसका (Sewell A for gotten Empire) से इसका आभास मिलता है कि वर्तमान तंजोर, मदुरा, ग्वालियर, उदयपुर, अलवर, अम्बर, डीग प्रभृति हिन्दूराज्यों में जो प्राचीन राजप्रासाद देखे जाते हैं वे भी तत्कालीन ही हैं।

भारतीय ऐतिहासिक काल के भिन्न २ युगों की निर्माण कृतियों के कुछ उदाहरण दिये जा चुके हैं। इसके अतिरिक्त भारत में अन्य कई स्थानों पर असंख्य भवन मठ, मन्दिर, घाट प्रभृति के खण्डरात विद्यमान हैं। वे जंगल में या उजाड़ जगह में वर्षा पड़ने या घास फूस के उगने से स्वभावतः नष्ट हो चुके हैं या होते जा रहे हैं। अति प्राचीन काल के कितने ही दुर्ग तथा पर्वतीय नगर अब भी इस देश में भिन्न २ स्थानों पर दिखाई देते हैं। दिल्ली का लाल कोट, पुराना किला, किला राय पिथौरा, ममलर (काश्मीर के पास नमक की पहाड़ियाँ), गुरदास पुर, (पञ्जाब) रानीगर (पेशावर) और युक्तप्रान्त के अजयगढ़, चुनार तथा रामगढ़ के किले अति प्राचीन हैं। ये ईसा की ८ वीं शताब्दि या उससे भी पहले के हैं। हैदराबाद दक्षिण के अन्तर्गत नलदुर्ग और मद्रास के निकटवर्ती चन्द्रगिरी अति प्राचीन काल के हैं। मध्य तथा अन्त युग में राजपूत, मराठे, मुसलमान और सिक्खों द्वारा बनाए गए अनेक दुर्ग भिन्न २ स्थानों में विद्यमान है।

ब्रिटिश शासन-काल की शिल्पकला का परिचय देना फिजूल है। भारत के सब प्रदेशों में अंग्रेजों द्वारा बनवाए हुए प्रशस्ति स्तम्भ, स्मृतिस्तम्भ, प्रासाद, दफ्तर प्रभृति सब ने देखे हैं। कलकत्ता, बम्बई, मद्रास और वर्तमान दिल्ली इसी रचना प्रणाली का परिचय देते हैं। विशेष कार्यों में से भारतीय पुराकृतियों के अनुरागी वायसराय कर्जन द्वारा कल्पित विक्टोरिया-मेमोरियल-बिल्डिङ्ग कलकत्ता (Victoria Memorial Building Calcutta) उल्लेखनीय है जो उत्तरकाल में भारत में ब्रिटिश-काल की रचना प्रणाली का स्मारक रहेगा।

शीतल छाया

(ले० श्री पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार)

मन मूरख औरन को दुख दे,
तुम चाहत हो जग में सुख पाया।
चढ़ि पाथर नाव अपार पयो—
निधी पार विचारत हो पुनी जाया।
बलिहारी अहो गहि व्याल कराल,
चहो गल में तिही हार बनाया।
द्रुम आपहि काटि के वे अबलों,
अवलोकत हो कत शीतल छाया।

भारतवर्ष में स्त्री शिक्षा

(ले० पं० भीमसेन जी विद्यालङ्कार, सम्पादक सत्यवादी)

भारतीयसभ्यता के विकास में बालकों की शिक्षाप्रणाली का क्या स्थान था इस विषय पर पिछले लेख में विचार किया जा चुका है। प्राचीन भारत में स्त्रियों की शिक्षा का क्या प्रबन्ध था इस के विषय में अभी तक निश्चित वृत्तान्त हमें प्राचीन साहित्य में उपलब्ध नहीं होता। बालकों की शिक्षा के लिए गुरुकुल बने हुए थे। वैदिक साहित्य में कई जगह वर्णन मिलते हैं जहां कुलपतियों के बड़े बड़े कुलों का वर्णन मिलता है। उपनिषदों में भी स्थान २ पर ऐसे आचार्यों के अर्थवाद मिलते हैं जहां बालक गुरुओं के पास जाते हैं और विरोचन, सत्यकाम, और श्वेतकेतु की तरह गुरुकुलों में अध्ययन करते हैं। मध्यकालीन साहित्य में भी ऐसे वर्णन स्थान २ पर मिलते हैं जहां गुरुकुलों का वर्णन मिलता है। संस्कृतसाहित्य का प्रसिद्ध कवि मुरारि अपनी प्रशंसा में अभिमान के साथ लिखता है (गुरुकुल क्लिष्टो मुरारि कविः) कि मैंने गुरुकुल के तपोमय जीवन में विद्या तथा प्रतिभा शक्ति पायी है। कौरव पांडव तथा चन्द्रापीड़ आदि राजकुमार भी गुरुकुलों में पढ़ते थे। इतना ही नहीं मध्य एशिया में राजा सीरियस * के शासन काल में ईरान की जो शिक्षाप्रणाली प्रचलित थी वह गुरुकुल शिक्षाप्रणाली थी। उस शिक्षाप्रणाली में केवल मात्र क्षत्रिय तय्यार किए जाते थे। रहन सहन का ढंग मनुस्मृति में वर्णित नियमों के अनुसार था। अभिप्राय यह है कि प्राचीनभारत में प्रचलित शिक्षाप्रणाली में विद्यार्थी या बालक किस तरह शिक्षा पाते थे इस का वर्णन हमें अनेक स्थानों पर मिलता है। परन्तु कन्याओं और बालिकाओं की शिक्षा का क्या प्रबन्ध था इस विषय में हम सर्वथा अंधकार में हैं। जहां तक हमने संस्कृतसाहित्य का अनुशीलन किया है हमने कहीं कन्याओं के लिए बनाए गए गुरुकुलों का वर्णन नहीं पाया। परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्राचीन काल में स्त्रियां शिक्षिता नहीं होती थीं। महाभारत तथा रामायण में, सरस्वती आदि विदुषी इस बात की ज्वलन्त उदाहरण हैं, कि प्राचीन काल की

* इसका विस्तृत वर्णन The Age of Sonkar के तीसरे वाल्यूम मे किया गया है।

स्त्रियां शिक्षिता होती थीं । कुन्ती, सुभद्रा, उत्तरा, शिक्षिता थीं । श्रीकृष्ण-की धर्मपत्नी सत्यभामा और द्रौपदी का संवाद बताता है कि वह विदुषी थीं । रामायण में सुमित्रा और सीता के विषय में जो वर्णन है उन से पता लगता है कि वह सब भी पढ़ी लिखी थीं ।

पुरुषों और स्त्रियों की शिक्षा के उद्देश्य के विषय में भी विचार कर लेना चाहिए। पुरुषों की शिक्षा का उद्देश्य जीवन को चौमुखी दृष्टि से उन्नत करना है । शिक्षा ऐसी होनी चाहिए जिस से जीविका निर्वाह भी हो सके । प्राचीन समय में देश की आर्थिक स्थिति ऐसी थी कि आज कल की तरह शिक्षाप्रणाली रोटी के प्रश्न पर उलझी नहीं हुई थी । इस लिए इस सम्बन्ध में स्त्रियों की शिक्षा का उद्देश्य भी वैसा ही था ।

निम्नलिखित उद्धरण हमारे इस पक्ष को समर्थित करते हैं । इन में स्त्रियों को सन्यासाश्रम तक में प्रवेश करने का अधिकार था ।

स्त्रीणां प्रव्रजितानां तु करशुल्कं विवर्जयेत् (आग्नेय पुराण)

ऋषि हारीत लिखते हैं–

द्विविधाः स्त्रियो ब्रह्मवादिन्यः सद्योवध्वश्च तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं वेदाध्ययनं स्वगृहेभिक्षाचर्येति । सद्योवधूनामुपस्थिते विवाहे कथञ्चिदुपनयन मात्रं कृत्वा विवाहकार्यः ।

"जो स्त्रियां सन्यास धारण कर चुकी है उन पर से राजा कर और चुंगी हटादे ।"

"स्त्रियां दो प्रकार की होती हैं, एक ब्रह्मवादिनी दूसरी सद्योवधू । ब्रह्मवादिनी स्त्रियों का उपनयन अग्निहोत्र वेदाध्ययन और भिक्षा आदि कार्य गृह में करने चाहिएँ । दूसरी स्त्रियों के विवाह के अवसर पर किसी प्रकार से भी उपनयन कर के, विवाह कर देना चाहिए । उपनिषदों का यह उद्धरण भी मनन करने योग्य है:—

अथ य इच्छेद् दुहिता मे पंडिता जायेत सर्वमायुरियादितितिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयाताभीश्वरौजनयितवै ।

जो चाहे कि उसकी कन्या पंडिता हो उसे विशेष भोजन तथा संस्कार करने चाहिए । इन से स्पष्ट हो गया है, कि स्त्रियों को आत्मिक तथा मानसिक उन्नति करने का पूरा मौका मिलता था ।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में "शिल्पवत्यः स्त्रियः" शिल्प कला जानने वाली स्त्रियों का भी वर्णन है । अर्थात्

प्राचीन भारत में कन्याओं को ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या और शूद्रा बनने की छुट्टी थी । ऋषि दयानन्द ने अपने ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में स्त्रियों को राज-कार्य्य न्यायाधीशत्वादि तथा शिल्प विद्या सिखाने की आज्ञा दी है । (तृतीय समुल्लास) दशम समुल्लास की यह पंक्तियां उन लोगों की आंखें खोल देगीं जो उदार विचारक होते हुए भी स्त्रियों द्वारा रसोई बनाना आवश्यक समझते हैं:—

"जो आर्यों में शुद्ध रीति से बनावे तो बराबर, सब आर्यों के साथ खाने में कुछ भी हानि नहीं क्योंकि जो ब्राह्मणादि वर्णस्थ स्त्री पुरुष रसोई बनाने, चौका देने, बर्तन भांडे मांजने आदि बखेड़े में रहें तो विद्यादि शुभगुणों की वृद्धि कभी नहीं हो सके ।" इस प्रकार स्पष्ट हो गया कि स्त्री शिक्षा का उद्देश्य चौमुखे जीवन को उन्नत करना है ।

परन्तु प्रश्न यह है कि क्या उस समय आज कल की तरह सार्वजनिक कन्यापाठशालायें व कन्यागुरुकुल होते थे, यदि होते थे तो उन का वर्णन प्राचीन साहित्य में क्यों नहीं मिलता । हमारी तुच्छ सम्मति में प्राचीन समय में कन्यागुरुकुल नहीं होते थे । नहीं सार्वजनिक कन्यापाठशालायें होती थीं । प्रश्न यह होता है कि फिर कन्यायें पंडिता किन संस्थाओं में बनती थीं । प्राचीनसाहित्य से पता लगता है कि कन्यायें घरों में ही शिक्षा पाती थीं । कुलों के, घरों के, पुरोहित या पिता ही उन को शिक्षा देते थे द्रौपदी ने युधिष्ठिर से यही कहा था कि मैंने यह बातें घर में पिता के यहां सीखीं थी । लीलावती के पिता ने अपनी लड़की को पढ़ाने के लिए ही गणित की पुस्तक लीलावती लिखी थी । उत्तरा तथा अन्य कन्याओं ने भी घर में ही शिक्षा पायी थी । ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन काल में शिक्षित पिता माता कन्याओं को घर में ही शिक्षा देते थे । ऊपर ऋषिहारीत का जो उद्धरण लिखा है उस से भी हमारा पक्षपुष्ट होता है । इसी विशेषता के कारण हम देखते हैं कि भारतीय महिलायें शिक्षित होने पर भी यूरोपियन महिलाओं की तरह स्वच्छन्द नहीं बनी थीं ।

परन्तु इस समय भारतवर्ष के घरों की, कुलपुरोहितों की अवस्था बिगड़ी हुई थी और है अतः बालिकाओं की शिक्षा को पिताओं को ही नहीं सौंपा जासकता । इसी परिवर्तित अवस्था के का-

रण ऋषिद्यानन्द ने कन्यागुरुकुलों की नयी स्कीम जनता के सामने पेश की है। हमें इस स्कीम को इस ढंग से चलाना चाहिए कि कन्यागुरुकुल और कन्यापाठशालाओं की पढ़ी हुई बालिकायें सीता, सुमित्रा जैसी बन सकें तभी वे शिक्षणालय भारतीयसभ्यता को अधिक विकसित कर सकेंगे।

'दर्द"

(पं० प्रियव्रत जी विद्यालंकार)

तेरी चालें ऐ ज़माने! दिल जलाती रह गईं।
रातकाली क्यों मेरी क़िस्मत सुलाती रहगई॥

सिर झुकाए चलदिये जब आप इस घर से निकल।
काँपती काया मेरी गर्दन हिलाती रहगई॥

आहें ठण्डी भरते भरते दूर सब गर्मी हुई।
आँख मिच मिच कर मेरे मुंह को धुलाती रहगई॥

श्याम बादल में सुनहरी वो झलक तो छिप चुकी।
तू किसे तक़दीर गोदी में झुलाती रह गई॥

गुल गुलाबी और हरे पत्ते सभी मुरझा गये।
सूखी टहनी अधखिली कलियां खिलाती रह गई॥

देख छिपता चाँद बादलमें कुमुद मुरझा गये।
कौन से तू फूल को शबनम निल्हाती रह गई?

हो चुके मानस के निर्मल हंस भी मुझ से जुदा।
जिन्दगी ग़मगीन क्यों मुझको रुलाती रह गई॥

तू ही था 'प्रेमी' फ़क़त रोने को इस जंगल में क्या।
रोयें क्या आँखें पलक सूखी चलाती रह गई॥

—*—

अ छू त

(ले०—श्री पं० वागीश्वर जी विद्यालंकार)

(१)

जेठ का महीना और दोपहर का समय—करेला और नीम चढ़ा। आसमान से आग बरस रही है। बीच २ में लूह भी सनसनाती हुई सपाटे भर रही है। गर्मी के मारे नाक में दम है। पसीना पोंछते २ तबीयत बेचैन हो उठी है। धरती तवे की तरह तप रही है। छाया सिकुड़ कर पेड़ों की जड़ों में पड़ी २ तड़प रही है। छोटे से छज्जे की छाया में बैठा हुआ दुबला पतला कुत्ता जल्दी २ सांस ले रहा है। बेचारे की ज़बान बाहर निकल पड़ी है। चारों ओर धूल उड़ रही है। ओह! प्रकृति इतनी कुपित क्यों हो रही है।

रेलवे जंकशन के सामने ही मुग़ल सराय की छोटी सी बस्ती बिखरी हुई है। जिस में मन्दिर, धर्मशाला, तथा कुछ दुकानें भी हैं। पास के गावों में प्रायः सारी आबादी डोमों की ही है।

मन्दिर के पुजारी 'गोविन्दा मिस्सर' धर्मशाला के कूवे पर स्नान कर रहे हैं। बीच २ में निष्कामभाव से संस्कृत के किसी श्लोक का कीचकवध भी करते जाते हैं। पुजारी जी जनेऊ मांज, चोटी फटकार, धोती फींच चलना ही चाहते थे कि एकाएक चौंक पड़े। उन्होंने देखा कि एक दीन-बालक दो घूंट पानी के लिये उनसे प्रार्थना कर रहा है। उसके कातरकटाक्ष, कुमलाये मुखड़े, तथा सूखे हुवे होठों को देख कर पुजारी जी का दिल पसीज गया। वे उसे पानी पिलाने को प्रस्तुत हुवे और पूछने लगे कि तू किसका है? बालक बोला—महाराज! मेरा नाम है बुद्धू। मैं एक ग़रीब डोम हूं। अभी इस बीमारी में मेरे मां बाप मुझे अकेला छोड़ कर परलोक सिधार गये। तीन दिन से एक दाना तक मैंने मुंह में नहीं डाला। सिर्फ़ पानी पी पी कर जी रहा हूं। आज सुबह से वह भी नसीब नहीं हुवा। कृपा कीजिये। भगवान आपका भला करेंगे।

पुजारी जी का पारा न मालूम क्यों एकदम चढ़ गया। वे जलते तेल के बैंगन हो गये। जिस मेघ से पपीहे को पीयूष की आशा थी उस से ओले बरसने लगे। दया का द्रवित स्रोत कठोर हिम के रूप में परिणत होगया। वे झुंझलाते हुवे, गरज कर बोलेः—चल बे चाण्डाल, अछूत कहीं के। दूर हट हरामज़ादे! हमारे सारे स्नान, ध्यान पर पानी फेर दिया। न्हाते ही किस मनहूस का मुंह देखना पड़ा। राम! राम! क्या ग़ज़ब है? उलटी गङ्गा बह रही है। इन जानवरों के बोझ से धरती माता की छाती कब तक दबी रहेगी? हाय! हाय। दुनिया में धर्म कर्म का नाम नहीं रहा। सब ही म्लेच्छ हो गये। इस मनुष्य की इतनी

मजाल ? अरे तुझे मरने को कहीं और जगह न थी कि हमारे हाथ रंगवाने यहाँ आगया है।

वे अपने क्रोध को अधिक न रोक सके। उनका ब्राह्मण्यदावानल बुरी तरह भड़क उठा। वे अनेक प्रिय-सम्बन्ध सूचक शब्दों से सम्बोधन करते हुवे अपना तैलतृप्त पादुकास्त्र सम्हाल भूखे बाघ की तरह उस जीवन्मृत बालक पर टूट पड़े। उनकी प्रचण्ड कण्ठध्वनि गगनभेदन करने लगी। धर्मशाला में टिके हुवे कुछेक यात्री तमाशा देखने के लिये बाहर निकल आये। उन्होंने बचावचाव करने का भी भरसक यत्न किया, पर पुजारी जी हिन्दू धर्म की रक्षा के लिये कमर कस चुके थे, उन्हों ने शाप का भय दिखा कर सब को स्तम्भित कर दिया।

पर्याप्त पुण्योपार्जन कर चुकने पर पुजारी जी कुछ ठंढे हुवे तो देखा कि लड़का अधमरा हो गया है। उस की आंखें पथरा गई हैं। तब तो ब्राह्मण-देवता घबराये और लगे लोगों को सहायता के लिये पुकारने। लोगों ने आते ही लड़के को उठा कर पास के पेड़ की छाया में लिटा दिया। पुजारी जी उस के मुंह में पानी टपकाने लगे। उनकी छाती धौंकनी की तरह धुक धुक कर रही थी। हाथ कांप तथा पांव लड़खड़ा रहे थे। थोड़ी देर में लड़के ने आंखें खोलदीं—तब पुजारी जी की जान में जान आई। उनका भय कुछ २ दूर हुवा। लोग तितर बितर होने लगे। पुजारी जी दुबारा सचल-स्नान करके मन्दिर की तरफ़ चल दिये। रास्ते में सोचते जाते थे कि सत्ययुग में नृसिंह भगवान ने हिरण्यकशिपुका नाश कर जिस धर्म की रक्षा की थी, त्रेता में आनन्दकन्द श्री रामचन्द्र जी ने रावण का संहार कर जिस धर्म को नष्ट होने से बचाया था, तथा द्वापर में द्वारकापति श्रीकृष्ण-जी ने कंस आदि का ध्वंस कर जिसका उद्धार किया था—आज इस करालकलिकाल में उस ही पवित्र वैदिक धर्म की सुध लेने वाला कोई नहीं है। आज धर्म का राज्य होता तो इस चण्डाल को खाल जीते जी खिचवा लेता। फिर सोचने लगे कि यह भी अच्छा ही हुवा कि कमबख़्त ने फिर आंखें खोलदीं नहीं तो भई! बड़ी मुश्किल होती। लेने के देने पड़ जाते। वे इस बात से बड़े लज्जित थे कि उन्हें झखमार कर आखिर पानी पिलाना ही पड़ा था।

थोड़ी देर बाद लड़का उठ खड़ा हुवा और लड़खड़ाता हुवा एक ओर को चल दिया।

(२)

चारों ओर प्लेग का प्रकोप है। लोग धड़ाधड़ मर रहे हैं। कोई बात पूछने वाला नहीं है। घरों में दीये नहीं बलते। किसी परिवार में सिर्फ बूढ़े बाबा ही बहार देखने के लिए बच गये हैं तो किसी में सिर्फ़ एक दुधमुंहे बच्चे पर मौत ने अपने दांत नहीं गड़ाये हैं। कहीं बिलकुल ही सफ़ाया है।

इन दिनों इसाई मुसलमानों की खूब बन आई। मुसलमान अनाथ बच्चों और औरतों को अपने यहां ले जाते हैं और

उनका इलाज करते हैं। उधर ईसाई मिशनरी गांव २ में मुफ्त दवाइयां बांटते फिरते हैं। भूखों को अन्न, नंगों को वस्त्र तथा निराश्रयों को आश्रय देते हैं। लोगों का विश्वास राम और कृष्ण पर से उठ कर मसीह पर जम गया है।

* * * * *

आज शनिवार है। दिन ढल चुका है। पेड़ों की छाया पूर्व की ओर को लौट पड़ी है। मुगल सराय के खेतों के बीचों बीच बड़ का एक बहुत बड़ा वृक्ष है। उसके नीचे दूर २ के डोम जमा हो रहे हैं। क्या बच्चे क्या बूढ़े सभी प्रसन्न मुख हैं। सब ही दयावतार भगवान मसीह की चरण शरण में जाने के लिये उत्सुक हो रहे हैं। इतने में एक बूढ़ा डोम कहने लगा—'भाइयो! अब तक हिन्दु रह कर हमने बड़े २ कष्ट भोगे हैं। पर आज हमारे सारे संकट कट जाने को हैं। अब हम पर कोई उंगली न उठा सकेगा। तथा न कोई हमें लाल २ आंखें ही दिखला सकेगा। हम पढ़ेंगे, हमारे बच्चे पढ़ेंगे, सब को मिठाई मिलेगी, कपड़े मिलेंगे। इस से अच्छा धर्म भला और क्या हो सकता है? सब ने उत्तर दिया "ठीक है चौधरी! बिलकुलठीक है"

इतने में ही चार पांच बाइसिकल वहां आ पहुंचे। प्रधान पादरी मिस्टर डेविड, मिसेज़ डेविड तथा अन्य दो तीन हिन्दुस्तानी पादरी डोमों की ओर बढ़े। डोमों ने खड़े हो सिर झुका कर साहब को सलाम किया। मिसेज़ डेविड ने आते ही एक छोटे से मैले कुचैले बच्चे को गोद में उठा लिया। वे उस से प्यार करने लगीं। पादरी साहब ने भगवान मसीह की-सूली पर चढ़ने की एक सुन्दर रंगीन तसवीर तथा एक एक चवन्नी सब को बांट दी और कहने लगे कि—'ऐ मेरे प्यारे भाइयो! आज तुम्हें खुश होना चाहिये कि तुम्हें भगवान मसीह ने अपनी शरण में स्वीकार किया। जिस तरह सब नदियां समुद्र में पड़ कर एक हो जाती हैं उसी तरह भगवान मसीह की छत्रछाया में सब इन्सान बराबर हो जाते हैं। न कोई छोटा है न कोई बड़ा। हिन्दुओं ने तुम पर कैसे २ ज़ुल्म किये हैं यह बताने की जरूरत नहीं। अभी उस दिन मन्दिर के पुजारी ने तुम्हारे एक छोटे से छोकरे को किस बेरहमी से पीटा और पानी नहीं पिलाया यह तुम से छिपा नहीं है। क्या तुम चाहते हो कि अब भी तुम इस तरह ही मार खाते रहो और पैरों तले रौंदे जाते रहो।

'नहीं हुज़ूर कभी नहीं' की ध्वनि से दिशायें गूंज उठीं। पादरी साहब ने पूछा कि इसके लिये तुमने क्या उपाय सोचा है? सबने कहा "हम ईसा पर ईमान लावेंगे"। पादरी साहब बड़ी गम्भीर तथा मधुर वाणी से कहने लगे—

"मुझे बड़ी खुशी है कि मेरे भाई अंधेरे से निकल कर रोशनी में, दलदल से उबर कर सूखे में, और कांटों से बच कर फूलों में आ रहे हैं। सच जानो तुम्हारे लिये स्वर्ग का दरवाज़ा खुल गया है। तुम बड़े भाग्यवान हो।

पापी संसार के पापों की गठरी अपने सिर पर रख कर परमेश्वर का जो इकलौता बेटा तुम्हारे लिये सूली पर चढ़ गया था आज वह अपने दोनों हाथ उठा कर तुम्हें अपनी तरफ़ बुला रहा है। क्या तुम उसके प्रेम भरे निमन्त्रण को स्वीकार करोगे" ?

"ज़रूर, ज़रूर"

"तुम उसकी ओर बढ़ोगे- वह तुम्हारे सामने आ खड़ा होगा, तुम उसके चरणों में झुकोगेर वह तुम्हें गले लगा लेगा,तुम उसका सहारा लोगे— वह तुम्हें गोद में बिठा लेगा, क्या ऐसे उदार प्रभु की सेवा तुम्हें स्वीकार है"।

"स्वीकार है, स्वीकार है."

"अच्छा तो आज से तुम ईसा की शरण में आये, ईसाई हुवे। गुलामी की निशानी यह चुटिया अपने सिर से हटादो। हम तुम्हारे वास्ते मदर्से बनायेंगे, तुम्हें पढ़ायेंगे, तुम्हारे बच्चों को आदमी बनायेंगे। बिना पढ़े आदमी आदमी नहीं कहला सकता। वह तो जानवरों से भी बदतर है। हम तुम को नौकरी देंगे, इनाम देंगे, मिठाई देंगे। तुम्हें बेगार में कोई न पकड़ सकेगा। यदि तुम हिन्दू रहोगे तो यह सब कुछ न हो सकेगा। फिर सोचलो"—

"हमने खूब सोच लिया। हम हिन्दू नहीं रहना चाहते"

देखते २ गांव का गांव राम, कृष्ण से नाता तोड़ कर मसीह का उपासक बन गया।

(२)

दिन ढल रहा है। धूप में वह तेज़ी नहीं रही। बनारस को जाने वाली गाड़ी मुगलसराय जंकशन पर खड़ी है। मुसाफ़िर गाड़ी में जगह पानेके लिये उतावले हो कर भाग रहे हैं।

इसी गाड़ी के दूसरे दर्जे के एक डब्बे में एक हिन्दुस्तानी यात्री जो कि चालढाल से ईसाई मालूम होता है— खिड़की से मुंह निकाल कर भावपूर्ण-दृष्टि से चारों ओर देख रहा है। उस के चेहरे पर प्रसन्नता तथा दुःख की झलक एक साथ ऐसी मालूम होती है जैसी संध्या के आकाश में दिन और रात की शोभा मिल जुल रही हो। यात्री की आंखों में न मालूम क्यों एकाएक आंसू भर आये। वह ज़्यादह देर तक बाहर न देख सका। उसने मुंह फेर लिया। इतने ही में एंजिन ने सीटी दी और गाड़ी खुल गई। यात्री ने दिलबहलाव के लिये अपने बैग में से एक डायरी निकाली और उसके पन्ने उलटने लगा। अचानक उसकी दृष्टि एक जगह पड़ी। वह वहीं से पढ़ने लगा—

"परीक्षा परिणाम प्रकाशित हो गया। मैं युनिवर्सिटी की सर्वोच्च परीक्षा में प्रथम उत्तीर्ण हुवा। पादरी डेविड के सिवाय मेरा अपना कोई नहीं। उन्हीं की सहायता से मैं यहां तक पहुंचा हूं। और आगे भी उन्नति की आशा रखता हूं। यह उन्हीं की कृपा है कि मैं आज विलायत जा रहा हूं। वहां उत्तीर्ण हो कर मैं भारतीय सिविल-सर्विस में प्रविष्ट हो जाऊं यह मेरी चिरकाल की इच्छा है। प्रभु की कृपा

से यह भी अवश्य पूर्ण होगी······"

यात्री ने उंगली पर कुछ गिना और अपनी नई डायरी निकाल कर उस में लिखना शुरु किया—

"आज ठीक चार वर्ष बाद मैं विलायत से लौट कर अपनी मातृभूमि 'मु—य' को देखता हुआ फिर बनारस आ रहा हूँ। यहां यह लिखने की आवश्यकता नहीं कि मैं आवश्यक सभी परीक्षाओं में सन्मान पूर्वक उत्तीर्ण हो चुका हूँ। श्रद्धेय पिता मिस्टर डेविड ने अपने पत्र में लिखा है कि मेरी वर्त्तमान नियुक्ति बनारस में ही सिटीमजिस्ट्रेट के पद पर निश्चत हो चुकी है। मेरा हृदय कृतज्ञता से भर रहा है मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूँ कि उसका दयामय हाथ जिस प्रकार अब तक मेरे सिर पर रहा है भविष्य में भी वैसा ही रहे। मुझे प्रसन्नता होगी यदि मैं अपने देश का कुछ भी हित–साधन कर सकूं। यद्यपि, मैंने हिन्दुधर्म त्याग दिया है तथापि अपने और इसाई भाइयों की तरह, मैं अपने आप को भारतीयता के अधिकार से वंचित नहीं करना चाहता। भारत देश मेरी मातृभूमि है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या इसाई–माता को अपने सब बच्चे बराबर प्यारे हैं। मुझे दुख है कि मेरे देश भाई अज्ञान के कारण मुझे पराया समझेंगे, म्लेच्छ समझेंगे, न मालूम क्या समझेंगे? पर मुझे तो उनके साथ भलाई ही करनी होगी।

ऐच, विलसन

इतना लिखकर मिस्टर विलसन ने अपनी डायरी बन्द की।

(४)

आज पादरी डेविड के बंगले पर बड़ी चहल पहल है। उनका पोष्यपुत्र मि० ऐच. विलसन चार वर्ष बाद विलायत से वापिस आया है। विलसन के कितने ही पुराने क्लास फ़ैलो तथा नगर के बहुत से प्रतिष्ठित व्यक्ति विलसन को बधाई देने तथा उसका स्वागत करने के लिये आरहे हैं। आज उस की प्रसन्नता का क्या ठीकाना है। किन्तु इस प्रसन्नता के साथ ही उसे यह देख कर घृणा होती है कि पवित्रता के ठेकेदार जो हिन्दूदेवता नीची जातियों के अपने भाइयों से छू जाने में महापाप समझते हैं वे ही आंख के अंधे इसाई या मुसलमान बने हुवे उन्हीं चमार भंगियों के साथ हाथ मिलाने के लिये लालायित होते हैं। उनके साथ दो बात कर लेने में अपना अहो भाग्य समझते हैं। कृपा दृष्टि प्राप्त करने के लिये उनकी ड्योढ़ी पर घण्टों एड़ियां रगड़ते हैं। ऐसा करने में हिन्दूपन की लम्बी नाक नहीं कट जाती। विलसनने देखा कि हिन्दूधर्म कोई धर्म नहीं। उस में से आत्मा निकल चुकी है। ढांचा शेष रह गया है मूर्ख लोग लकीर पीटते जा रहे हैं। वास्तयिकता को कोई नहीं देखता। इस ढोंग के सहारे हिन्दूजाति भला कब तक जी सकेगी।

विलसन को अपने पुराने साथियों से मिल कर अत्यन्त आनन्द हुवा। अभिनन्दन पत्रों तथा अन्य आमोद–प्रमोदों के साथ यह उत्सव समाप्त हुवा। उसने नगर के रईसों की भेजी

हुई डालियों को देखा तो उसे अपने भविष्य के कार्यक्रम की गंभीरता का ध्यान आया।

मिस्टर विलसन का पूर्वइतिहास किसी को ज्ञात नहीं। सब इतना ही जानते हैं कि वे पादरी डेविड के धर्मपुत्र हैं। उन्हीं की कृपा से उनका पालन पोषण हुआ तथा वे इतने योग्य होगये हैं। इससे अधिक जानने की आवश्यकता भी नहीं है। क्यों कि उन्होंने किसी हिन्दूकन्या के तो हल्दी लगवानी ही नहीं। न ऐसा करने की उन्हें जरूरत ही है। उनके गुणों पर मुग्ध होकर सिविलसर्जन कर्नेल कुक की कन्या ने अपना हृदय उन्हें समर्पित कर दिया। दोनों ही पक्ष वालों को यह सम्बन्ध बहुत पसन्द आया और अन्त में यह शुभ विवाह बड़े आनन्द और धूम धाम के साथ सम्पन्न हो गया।

(५)

सारे शहर में सनसनी फैली हुई है। रात के भयंकर डाके की चर्चा सब की ज़बान पर है। सुना जाता है कि पास पड़ौसियों की सहायता तथा पुलिस की निपुणता के कारण प्रायः सारे ही आतताई पकड लिये गये हैं। बयान लिये जा रहे हैं। डाकू लोग आधीरात को शहर के एक महाजन के घर में घुस गये। वहां उन्होंने धन के लिये सारे परिवार को एक एक कर के निर्दयता पूर्वक मार डाला। अन्त में लगभग २०, २५ हज़ार का माल लेकर नौ दो ग्यारह हुवा ही चाहते थे कि पुलिस घटनास्थल पर आ पहुंची। ख़ासी मुठ भेड़ हुई। दोनों ओर चोट आई। अन्त को पुलिस का विजय हुवा। छुटकारे का कोई उपाय न देख कर तथा छिपाना व्यर्थ समझ कर कितने ही अपराधियोंने अपना अपराध स्वीकार कर लिया। मामला मिस्टर विलसन के सामने पेश हुआ।

डाकुओं के सरदार को देख कर तथा उसका नाम सुन कर मिस्टर विलसन के दिल में कुछ सन्देह उत्पन्न हुवा। लगभग बीस वर्ष पुरानी एक घटना उनकी आंखों के सामने घूम गई। उन्होंने उससे पूछा–'क्या तुम वही मुगलसराय वाले गोविन्दा मिस्सर हो जो कि कभी मन्दिर के पुजारी थे। सारी जनता तथा स्वयं गोविन्दा को बड़ा आश्चर्य हुवा कि कि यह कैसा रहस्य है। साहब उसे कैसे जानते हैं।

गोविन्दा हाथ जोड़ कर और गिड़गिड़ा कर कहने लगा 'हज़ूर मैंने ख़ता की है। मैं अब भी उसी मन्दिर का पुजारी हूं। किन्तु गुप्तरूप से बदमाशों का गिरोह गांठ कर कभी कभी डाका भी डाला करता हूं। कितने ही सफ़ेदपोश और तिलकधारी भी हमारे साथी हैं। दुनिया उन्हें नहीं पहचानती। हमें हीकोसती हैं पर असल में "राजा भोज भरम के भूले, घर घर हैं मटियाले चूल्हे" वाली कहावत सर्वत्र चरितार्थ हो रही है। ग़रीब परवर! हम सबने बड़े पाप किये हैं। न मालूम कितने निपराध लोगों के ख़ूनों से अपने हाथ रंगे हैं, कितनी बिलबिलाती हुई माताओं के देखते देखते

उन के दिल के टुकड़ों-आंखों के तारों को उनकी गोद से खींच खींच कर बोटी बोटी कर मार डाला है। कितनी सरसब्ज़ फुलवारियों को उजाड़ दिया है। मेरे लिये प्राणदण्ड के सिवाय क्या व्यवस्था हो सकती है? पर सरकार! मैं अभी जीना चहता हूं! मेरी उमर पचास पार कर गई, पर मैंने अभी तक कुछ भी पुण्य नहीं कमाया। पापों में ही सारा जीवन बिगाड़ दिया। मेरे अन्नदाता! मेरे प्राणदाता! मुझे इस वार माफ़ करो। मैं अपका बच्चा हूँ, आप की गाय हूं, आपके पैरों की धूल हूं।

मिस्टर विलसन ने कहा-गोबिन्दा! काल बड़ा बली है। २० वर्ष पहिले का ज़िकर है। मुग़लसराय धर्मशाला के कूवे पर एक ग़रीब डोम-बालक ने तुम से पानी पीने को मांगा था। तुमने उसे किस बुरी तरह से पीटा था। क्यातुम्हें उसकी शकल कुछ याद है? देखो! वह तुम्हारे सामने मौजूद है। उस की कमर तथा बाहों पर उन चोटों के निशान अब भी बने हुवे हैं। तुमने हिन्दूधर्म की रक्षा के लिये वह अत्यचार किया था। तुम्हें धर्म का स्वरूप पता नहीं। न मालूम तुम जैसे और भी कितने धर्म के ठेकेदार इसी तरह धर्म की जड़ पर कुठारा ऽऽघात कर रहे हैं। कितने स्वार्थी टट्टी की ओट शिकार खेल रहे हैं। कितने भेड़िये भेड़ की खाल पहन कर घूम रहे हैं। मुझे तुम्हारे उस व्यवहार के प्रति रोष नहीं किन्तु दया है। तुम अज्ञान में भटक रहे हो यह देख कर मुझे तुम्हारे प्रति सहानुभूति है। परन्तु इस समय मैं न्याय तथा नियमों से बंधा हुवा हूं। हम तुम दोनों ही किसी बड़ी शक्ति के हाथ में कठपुतले के समान हैं। मैं तुम पर अपनी इच्छा के अनुसार कृपा नहीं करसकता। भाई! आज कलियुग नहीं, कर्मयुग है। ब्रह्मा जी के मुख से उत्पन्न ब्राह्मण-देवता डाकू के रूप में खड़ा हुवा एक अछूत डोम के चरण में प्राणों को भिक्षा मांग रहा है। किन्तु वह उसे धर्म के नाम पर क्षमा नहीं कर सकता। मुझे दुख है ———, ।

गोबिन्दा ने बात काट कर कहा-"सरकार! आज डोम नहीं किन्तु ब्राह्मण अछूत है।

सम्पादकीय

स्त्रियों की अधिकता

इस समय फ्रांस में बीस लाख स्त्रियें ऐसी हैं जिन्हें गत विश्व व्यापी महासमर में, पुरुषों के भेड़ बकरियों की तरह कत्ल हो जाने के कारण, बाधित रूप से अविवाहित रहना पड़ रहा है। सारे-युरुप में पुरुषों की अपेक्षा १ करोड़ ५० लाख अविवाहिता स्त्रियां अधिक हैं। इस भयंकर अवस्था को देख कर विद्वानों ने सिर खुजलाना शुरू किया है। कइयों का कथन है कि ऐसी विकट अवस्था में बहु विवाह का

जायज़ ठहरा देना अनुचित न होगा परन्तु जिस समय ग़रीबी के कारण एक स्त्री का पालना दूभर हो रहा हो उस समय अनेक स्त्रियों से विवाह कर उनके पालन का भार उठाना असम्भव है। इस समस्या को हल करने के लिए डा० पाल करनट की सम्मति है कि पति-पत्नि का सम्बन्ध ही कुछ देर के लिए हटा दिया जाय। माता और पुत्र का ही सम्बन्ध रह जाय, पिता और पति के सम्बन्ध को भुला दिया जाय। राज्य की तरफ़ से सब स्त्रियों और उनकी सन्तानों का भरण-पोषण किया जाय। ऐसी अवस्था में एक पुरुष का सम्बन्ध कई स्त्रियों से होते हुए भी उन की रक्षा का भार उस पर न होगा और नांही इसे बहु विवाह कहा जायगा। परन्तु यदि इस प्रकार की आयोजना के चल निकलने की सम्भावना को स्वीकृत कर लिया जाय तो क्यों न इन दोनों से उत्कृष्ट एक तीसरी ही अयोजना निकाली जाय। इस में सन्देह नहीं कि कई देशों में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों की संख्या अधिक होगई है परन्तु साथ ही यह बात भी ठीक है कि कई देशों में अभी स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों की संख्या अधिक है। क्यों न विवाहेच्छु उन स्त्रियों को जिन्हें अपने देश में पुरुष नहीं मिलते, उन देशों में पहुंचा दिया जाय जहां पुरुषों की संख्या वहां की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक हो? ऐसा करने से कई लाभ होंगे। पहला लाभ यह होगा कि सभ्य संसार के माने हुए एक विवाह के सिद्धान्त को तिलाञ्जलि देने की नौबत न आयगी और संख्या-वैषम्य का प्रश्न हल हो जायगा। दूसरा भारी लाभ यह होगा कि परस्पर विवाह के इस उद्योग से अन्तर्जातीयता के भाव प्रबल वेग से उठ खड़े होंगे। इस समय प्रत्येक देश और जाती अपने को दूसरों से सन्निकट-सम्बन्ध से बन्धा हुआ न पाने के कारण, पृथक् २ खड़ी हुई है। अन्तर्राष्ट्रीय सभा के होने पर भी भिन्न २ राष्ट्र के मनकों को एकता के सूत्र में नहीं पिरोया जा सका। प्रत्येक राष्ट्र मौका पाकर दूसरे को निगल जाने पर तुला हुआ है। परस्पर विवाहों की संख्या बढ़ने से भिन्न २ देशों के स्वार्थ एक होते चले जायंगे और अन्तर्राष्ट्रीयनीति स्वयं फूट निकलेगी। एशिया और युरुप के अबतक के पारस्पारिक भाव संसार की स्थायी शान्ति में बांधा पहुँचाते रहे हैं। युरुप एशिया पर सदा दाँत गड़ाए रखने की फ़िक्र में रहता है। परन्तु यदि एशिया की सुसराल योरुप में हो जाय तब तो योरुप का विकराल रूप देर तक नहीं बना रह सकता। पूर्व और पश्चिम को मिलाने का क्या ही उत्तम अवसर है? कइयों का विचार है कि अब तक के ऐसे सम्बन्ध सुखो नहीं देखे गये। हम भी इस कथन की सत्यता को कुछ अंश तक स्वीकार करते हैं परन्तु क्या उन सम्बन्धों के सुखी न होने का कारण यह तो नहीं कि अब तक ऐसे सम्बन्ध ही बहुत थोड़े हुए हैं? हमारा विश्वास है कि कि यदि ऐसे सम्बन्ध बढ़ते जायं तो संसार के दृष्टि-कोण में भारी परि-

वर्तन आजाय और विश्व-व्यापी शान्ति की आधार शिला की स्थापना होजाय।

मुसल्मान और मूर्तिपूजा

वैसे तो मूर्ति-पूजा के विरोधी अनेक सम्प्रदाय इतिहास में उठे और गिरे परन्तु मूर्तिपूजा को संसार से निर्वासित कर देने का खुल्लमखुल्ला दावा मुसल्मानों का ही रहा है। मुसल्मान जहां गये, मूर्तियों के टुकड़े २ करते गये। भारत में उनका वैभव देर तक रहा इस लिये आज दिन भी जहां तहां पुराने मन्दिर उन दिनों के भयंकर इस्लामी आक्रमणों की सूचना दे रहे हैं। मन्दिरों को तोड़ कर मस्जिदें खड़ी कर देना औरङ्गज़ेब का रोज़ का काम रह चुका है। इस समय भी कोई पुराना मन्दिर ऐसा नहीं दीख पड़ता जिस की मूर्ति के अङ्ग-विच्छेद के साथ किसी मुसलमान आक्रान्ता की कथा न जुड़ी हुई हो। मुसल्मान अपने आप को 'बुतपरस्त' नहीं परन्तु 'बुतशिकन' कहते रहे हैं।

समय ने ऐसा पलटा खाया कि वही मुसल्मान जो मूर्तियों को ढूंढ २ कर तोड़ते रहे आज खुद मूर्तिपूजक हो रहे हैं। समाचार आये हैं कि वाहबी सम्प्रदाय के मुखिया इब्न सौद के अनुयायियों ने मदीने पर आक्रमण कर हज़रत मुहम्मद की कब्र के गुम्बजों को बम्ब मार कर उड़ा दिया है। इस समाचार ने सारे मुस्लिम—जगत् में सनसनी फैला दी है। मौलाना मुहम्मद अली ने २१ अगस्त की भरी सभा में लाहौर व्याख्यान देते हुए कहा कि यदि यह समाचार सत्य है तो वे मदीने जाने वाले सब से पहले जहाज पर चढ़ कर इब्न सौद के साथ युद्ध की घोषणा कर देंगे। ख़िलाफ़त कमेटी के लोग इस समाचार को झूठा बतलाते हैं अतः बम्बई में ख़िलाफ़त कमेटी के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास किय गया है। उस दिन जुम्मा मस्जिद की भारी जमायत लग चुकने के बाद मौलाना शौकत अली को सेठ छोटानी ने छड़ी दिखाई और बी अम्मा को गालियां दीं। क़ब्र पर बम्ब फेंके जाने की दुर्घटना सुनते ही पर्शिया की मजलिस बर्खास्त कर दी गई और ५ सितम्बर का दिन मातम के लिये ठहराया गया। ५ सितम्बर को सारे मुसल्मानी संसार में मातम रहा।

इन घटनाओं को सुन कर स्वभावतः प्रश्न उठता है कि 'बुतशिकन' मुसल्मानों को क़ब्र टूटते देख कर इतना रञ्ज क्यों? यदि मुसल्मान उसी धर्म पर दृढ़ है जिसे लेकर वे अब तक दुनियाँ भर की मूर्तियों को ठुकराते रहे, तो आज उन्हें आँसू बहाने का कोई कारण नहीं। दूसरों की मुसीबत देख कर घर में चिराग जलाना भले मानसों का काम नहीं परन्तु हमें तो यह ही समझ नहीं पड़ता कि इस घटना को क्यों कर मुसल्मानों की मुसीबत समझा जाय। इब्न सौद तो ख़ास वही काम कर रहा है जो अब तक सारे इस्लाम के इतिहास में होता रहा है और जिसे लेकर इस्लाम का जन्म हुआ। हिन्दुओं की मूर्तियों और मुसल्मानों की मूर्तियों में कोई भेद नहीं।

यदि मूर्तिपूजा एक ईश्वर की उपासना के विरुद्ध है तो वह चाहे हिन्दुओं की हो, चाहे मुसलमानों की हो, एक ही कोटि की है हमारे कथन का यह अभिप्राय नहीं कि हम इन सोंद की कार्रवाइयों का अनुमोदन करते हैं। अधिक सम्भव यही है कि उस के इन कृत्यों से मुसलमानों में मूर्तिपूजा के भाव अधिकाधिक बढ़ने ही जायँ और एकेश्वरवाद के प्रचार करने वाले धर्म का अन्त मूर्तिपूजा में हो! हमें तो दुःख उन मुसलमानों की शोचनीय दशा देख कर होता है जो संसार भर से मूर्तिपूजा दूर करते २ अपने घर में ही मूर्तियें बना कर उनकी पूजा करने लगे।

बलिवेदि पर स्नेह लता के कपड़ों की आग की प्रभा अभि शान्त न हो पाई थी, कि दहेज की कुप्रथा पर स्वर्णलता ने अपने आप को बलिदान कर पिता माता को चिन्ताओं से मुक्त कर दिया। दहेज की कुप्रथा कितने परिवारों का सत्यानाश कर रही है यह इस घटना ने बता दिया है। यह घटना इस कुप्रथा की भयंकर उग्रता को बतला रही है। यदि ऐसी अवस्था में लोग कन्या का पैदा होना अनिष्ट कर समझें तो आश्चर्य नहीं! निर्धन आदमी को अपनी कन्या के लिये वर ढूंढने में कितनी कठिनाई होती है यह स्वर्णलता ने अपने आप को होम कर जता दिया है। जिस देश में कन्या का विवाह रुपये की थैली को देख कर होता है उस देश की और तद्देशीय महिला समाज की अवस्था कितनी भयंकर है, उस भयं करता को स्वर्णलता सदृश देवियों का बलि हो जाना बताने के लिए पर्याप्त है। क्या युवक समाज इस प्रदीप्त अग्नि शिखा के आलोक में इस कुप्रथा के ध्वंस के लिए आगे बढ़ेगा?

साहस का अभाव 'सहवास सम्मति बिल' पास हो गया। पर यह बिल प्राण शून्य हो कर पास हुआ है। इस के प्राणों की हत्या करने का श्रेय भी भारतीय नेताओं को है। विवाह-वय बढ़ाने के जितने प्रस्ताव और उप प्रस्ताव पेश हुए वे सब फेल हो गए। म० मालवीय जी ने यह घोषणा करते हुए कि हमारे शास्त्र २५ और १६ वर्ष की आयु का विधान करते हैं इन प्रस्तावों का पिछड़े विचार वालों के नाम विरोध किया और शास्त्र वचनों तक की अवहेलना की। बाल विवाह के कारण हमारी जाति में से उत्साह, साहस और उल्लास काफूर हो गए हैं। हमारा जातीय शरीर खोखला हो गया है। पर हमारे नेता पिछड़े लोगों के नाम पर आगे बढ़ने वालों की टांग पकड़ कर पीछे घसीटने में देश का कल्याण समझते हैं। युवक मण्डली को नेताओं के आदेशों की पर्वाह छोड़ कर आगे बढ़ना चाहिए। नेता अपने आप साथ चलेंगे।

गौरवरक्षा शंघाई के अख़बार 'न्यू यूनियन' ने एक विचित्र समाचार दिया है। यदि वह सत्य है तो भारतीयों को

अपना मस्तक गौरव से ऊँचा करने का अवसर है। घटना इस प्रकार है, कि अभी हाल में शंघाई में उपद्रव होने के अवसर पर तीन सौ भारतीय सैनिकों को निःशस्त्र चीनी जनता पर गोली चलाने की आज्ञा दी गई जिसे उन्होंने मानने से इन्कार कर दिया। सब सैनिक कोर्ट मार्शल के सुपुर्द किए गए और सब एक साथ शूट कर दिए गए। भारत वासी दूसरी जातियों को परतन्त्र बनाने, दूसरों की जमीन में वृटिश झंडा गाड़ने के लिए बदनाम हैं। पर यह घटना बता रही है कि हम लोगों में से अभी आत्मसम्मान का भाव सर्वथा नहीं गया। देश की गौरव रक्षा के लिए १०) ११) का नौकर सिपाही भी अपने प्राणों को उत्सर्ग करने के लिए तय्यार रहता है।

एक और ठोकर वृटिश जाति भारत सन्तान का और भारत का अपमान करने का कोई अवसर नहीं चूकती। प्रत्येक क्षेत्र में भारत वासियों को नीचा दिखाना उस का उद्देश्य हो गया है। विद्या के क्षेत्र में रवीन्द्र और वसु को पैदा कर भारत संसार के समक्ष खड़ा होना चाहता है पर वृटिश जाति को यह पसन्द नहीं है। The eventful years नाम से अभी हाल में साइक्लोपीडिया में दो भागों में महत्व पूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसके २८ लेखक हैं। प्रत्येक देश का वृत्त उस देश के ही किसी प्रसिद्ध महानुभाव ने लिखा है। जर्मनी का वृत्त प्रसिद्ध राजतन्त्र वादी कैसर भक्त लूडन डार्फ ने लिखा है जिस में वृटेन द्वारा की गई नाके बन्दी अन्य घृणित और क्रूर कार्यों का वर्णन है। पर भारत का वृत्त एक सिविलियन भूत पूर्व अण्डर सेक्रेटरी ने लिखा है। जिस में संसार प्रसिद्ध जल्यान वाला बाग की हत्या काण्ड का नाम तक नहीं और दिल्ली के उपद्रव का विस्तार से वर्णन है। असहयोग आन्दोलन की भरपेट निन्दा की गई है। जिस घटना की प्रतिवर्ष भारत सन्तान बर्षी मनाती ह, जो स्वतन्त्रता आन्दोलन का आधार बन रही है, उस का नाम तक नहीं इस से बढ़ कर हमारा अपमान और क्या हो सकता है? क्या भारत में भारतीय घटनाओं का ज्ञाता ऐसा कोई न था जो उन २८ महोदयों की पंक्ति में बैठ सकता जिस के लिए एक सिविलयन अंग्रेज से प्रार्थना करनी पड़ी? हम लोग गुलाम हैं हमारा इतिहास जैसा हमारे शासक चाहें वैसा बनाने का उनको पूरा अधिकार है। इसके अलावा भारत के बहिष्कार का कारण और क्या हो सकता है?

गुरुकुल समाचार

ऋतु आजकल दिन में सूर्य की प्रखर किरणें तपाती हैं रात में कुछ ठण्ड हो जाती है। आकाश में बादल दर्शन देते रहते हैं। दो तीन दिन के अन्तर से वर्षा हो जाती है। वर्षा की समाप्ति की सूचना देने वाले

कास के फूल निकल आये हैं। गर्मी प्रति दिन घटती जाती है।

स्वास्थ्य मौसमी बुखार के कारण दो तीन ब्रह्मचारी रोगी हो गये थे, अब सब स्वस्थ हैं। मायापुर में भी अब सब स्वस्थ हैं।

अवकाश १३ अगस्त से सत्रान्तावकाश प्रारम्भ हो गया है। १३ अक्टोवर को महाविद्यालय खुलेगा सब उपाध्याय और ब्रह्मचारी अपने अपने घर चले गये हैं। छः सात ब्रह्मचारी शेष रह गये हैं। प्रो० सत्यव्रत जी मन्सूरी गये हैं और प्रो० सत्यकेतु जी पूना गये हैं। आचार्य रामदेव जी भी मन्सूरी हैं। एक मास तक चिकित्सालय का कार्य डा० अमरनाथ जी, और अध्यक्ष का कार्य श्री पं० बागीश्वर जी करते रहे हैं। द्वितीय मास में चिकित्सालय का कार्य श्री पं० धर्मदत्त जी, और अध्यक्ष का कार्य श्री प्रो० नन्दलाल जी खन्ना करेंगे।

अतिथि गुरुकुल में प्रो० सांभीराम जी आये हुए हैं। आप के विस्तृत अनुभवों से सब कुलवासी लाभ उठा रहे हैं।

प्रस्ताव मन्सूरी आर्यसमाज का नगर कीर्तन डिप्टीकमिश्नरद्वारा बन्द किये जाने के कारण आर्य समाजों में असन्तोष फैल रहा है। स्थानीय समाज ने अपना असन्तोष निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—"मन्सूरी आर्यसमाज के नगर कीर्तन को वहां के सरकारी अधिकारियों ने रोक कर आर्यसमाज के धार्मिक अधिकारों पर अनुचित हस्ताक्षेप किया है, इस का यह समाज घोर विरोध करता है और कमिश्नर तथा गवर्नर संयुक्त प्रान्त का ध्यान इधर खींचता हुआ उन से सविनय प्रार्थना कर आशा करता है कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट की इस कठोर आज्ञा को मनसूख करके अपनी न्याय प्रियता का परिचय देंगे"।

शखाऐं गुरुकुलइन्द्रप्रस्थ में षाण—मासिक परीक्षा होने वाली है, अतः सब ब्रह्मचारी और अध्यापक पढ़ाई में दत्त चित्त हैं। गुरुकुल कुरुक्षेत्र में आज कल अवकाश है। पांचवी श्रेणी तक के ब्रह्मचारी रोपड़ गये हुए हैं। बड़े ब्रह्मचारी नाहन यात्रा गये हैं।

उत्सव कन्या गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ (देहली) का वार्षिकोत्सव १४, १५, १६, नवम्बर १९२५ तदनुसार मास मार्गशीर्ष चतुर्दशी अमावस्या प्रतिपदा को होना निश्चित हुआ है।

जिनको अपनी कन्यायें प्रवेश करानी हैं वे अपने प्रार्थना पत्र १५ अक्टोवर से पूर्व भेज दें।

प्रो० सत्यव्रत जी प्रिन्टर तथा पब्लिशर के लिये गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में छपा

वर्ष २, अङ्क ५ Registered No A 1340

ओ३म्

कार्तिक १९८२] [अक्टूबर १९२५

अलङ्कार

तथा

गुरुकुल—समाचार

स्नातक मण्डल गुरुकुल कांगड़ी का मुख पत्र

मुख्य संपादक—सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय सूची

विदेश मे ४) एक प्रति का ।=) वार्षिकमूल्य ३)

लेखकों से प्रार्थना

१. लेख सामान्यतः अलंकार के ४ पृष्ठों से अधिक न हों।

२. लेख कागज़ के एक ओर, और सुवाच्य लिपि मे लिखना चाहिये।

३. पत्र में प्रकाशन के लिये लेख या कविता प्रत्येक देशी मास की १० तारीख तक, और गुरुकुल-समाचार २५ तक अवश्यमेव संपादक के पास पहुंच जाने चाहिये।

४. किसी भी लेख को घटाने या बढ़ाने का अधिकार संपादक को होगा।

५. अलंकार के परिवर्तन में पत्र तथा समालोचनार्थ पुस्तकें सम्पादक के पते पर भेजनी चाहिये।

ग्राहकों के लिये सूचना

१. अलंकार पत्र प्रत्येक देशी मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों के पास पहुंच जावेगा।

२. यदि कोई संख्या किसी ग्राहक के पास न पहुँचे तो पहिले अपने डाकघर से पूछना चाहिये। यदि पता न चले तो डाक-घर से जो उत्तर आवे उसे प्रबन्धकर्ता के पास भेज देना चाहिए। यह सूचना देशी मास के तृतीय सप्ताह तक अवश्यमेव पहुंच जानी चाहिए। अन्यथा दूसरी प्रति विना मूल्य न दी जावेगी।

३. पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या अवश्य देनी चाहिए। अन्यथा उत्तर न दिये जाने के हम दायी न होंगे।

४. पत्रोत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट साथ भेजना चाहिए।

६. भावी ग्राहकों को चाहिए कि वे रुपये मनीआर्डर द्वारा भेजें। वी. पी. भेजने से ग्राहकों को और हमें, दोनों को कष्ट होता है। पैसे लगने पर भी समय बहुत नष्ट होता है।

७. नमूने का अंक बिना मूल्य किसी को न भेजा जावेगा।

८. प्रबन्ध सम्बन्धी सब पत्र व्यवहार प्रबन्ध कर्ता "अलङ्कार" गुरुकुल कांगड़ी (जि० बिजनौर) के पते से करना चाहिए।

अवश्य पढ़िए

ग्राहकों को सूचना

जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा इस पञ्चम अङ्क के साथ समाप्त हो गया है, उन्हें अलङ्कार, का अगला छठा अङ्क वी० पी० द्वारा भेजा जावेगा। कृपया अवश्य छुड़ा लें अथवा मनीआर्डर द्वारा ३) भेज दें तो और भी उत्तम है।

प्रबन्ध कर्ता (अलङ्कार)

प्रो० सत्यव्रत जी प्रिन्टर तथा पब्लिशर के लिये गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में छपा

वर्ष २, अङ्क ५] मास, कार्तिक [पूर्ण संख्या १७

अलंकार
तथा
गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः।
हविष्मन्तो अलंकृतः॥ ऋ० १. १४. ५

जागरण

(श्री हरीन्द्र चट्टोपाध्याय)

आंख खोल जब मैं ने देखा, तो यह देखा भाई।
दुःख पूर्ण रजनी में नाचे, ईश्वर की अरुणाई॥

दारुण वेदन की धुन से जब, गूंज उठत है छाती।
याद रहे राजा के घर में, जागे नवलख बाती॥

युग युग दुख से पूर्ण हृदय में, प्रभु की मुरली बाजे।
दुःख रुप लेकर जीवन में, राजा सदा विराजे॥

नर के आंसू मानो उसके, राज मुकुट के मोती।
जिस में जगमग कर के जागे, नवीन निर्मल ज्योती॥

आंख खोल जब मैं ने देखा, तो यह देखा भाई।
दुःख पूर्ण रजनी में राजे, ईश्वर की अरुणाई॥

सम्राट् अशोक का इतिहास में स्थान

(ले० प्रो० सत्यकेतु जी विद्यालङ्कार इतिहासोपाध्याय)

एक बार प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्रीयुत एच. जी. वेल्स से पूछा गया कि संसार के इतिहास में सब से बड़े ६ महापुरुष कौन से हुवे हैं, तो उन्होंने उत्तर दिया—ईसा, बुद्ध, अशोक, अरिस्टॉटल, बेकन और लिन्कन। बड़े बड़े विजेताओं और सम्राटों में से सीजर, सिकन्दर, माश्रू, चार्ल्स आदि का नाम न लेकर उन्होंने केवल अशोक का ही नाम लिया। सम्राटों मे केवल अशोक को ही इस योग्य समझा गया कि वह संसार के सब से बड़े ६ महापुरुषों में स्थान प्राप्त कर सके। सम्भवतः इसी बात को सम्मुख रख कर वे अपनी पुस्तक The Outline of History में लिखते हैं—

"For eight and twenty years Asoka worked surely for the real needs of men. Amidst the tens of thousands of names of monarchs that crowd the Columns of history, their majesties and graciousness and serinities and royal highnesses and the like, the name of Asoka shines, and shines almost alone, a star. From the volga to japan his name is still honoured. China, Tibet and even India, though it has left his doctrine, preserve the tradition of his greatness. More livig men cherish his memory to-day than have ever heard the names of Constantine or Charle magne.'

वे कौन से कारण हैं, जिन से सम्राट् अशोक को इतनी महत्ता प्राप्त है। अशोक बहुत बड़ा विजेता नहीं हुआ, साम्राज्य की दृष्टि से बहुत से प्राचीन और अर्वाचीन सम्राट् उससे बड़े प्रदेशों पर शासन कर चुके हैं, फिर कौन सी बात है जिस के कारण अशोक को इतना महत्त्व दिया जाता है। अशोक की महत्ता को ठीक प्रकार से समझने के लिए यह देखना आवश्यक है कि उस के कार्यों का इतिहास पर क्या प्रभाव पड़ा, और उस के शासन के क्या मूल सूत्र थे जिनको सम्मुख रख कर उसने अन्यत्र कार्य किया।

पहले राजनीतिक दृष्टि से विचार कीजिये। अशोक एक बड़े साम्राज्य का स्वामी था। तत्कालीन संसार की सब से प्रबल सैनिक शक्ति उसके आधीन थी। मगध की जिन प्रबल सेनाओं का नाम सुन कर ही सिकन्दर की विश्वविजयिनी सेना घबरा गई थीं, जिन्होंने सैल्यूकस जैसे विजेता को न केवल पराजित ही किया था, अपितु अपने राज्य के एक अत्यन्त म-

हृस्वपूर्ण प्रदेश को देने के लिए बाधित किया था और जिनकी सहायता से सम्पूर्ण भारत में एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना हुई थी, वे अदम्य सेनायें अशोक के हाथ में थीं। उनकी सहायता से वह सम्पूर्ण संसार का विजय कर सकता था। सीरिया, मैसिडोन उत्तर ईजिप्ट के राज्य उनके सम्मुख क्या वस्तु थीं? वह सिकन्दर और सीजर की तरह सम्पूर्ण जगत् पर अपना एकाधिपत्य स्थापित करने का यत्न कर सकता था। पर यह उसने नहीं किया, क्यों कि कलिङ्ग-विजय के बाद ही उसने अनुभव कर लिया कि शस्त्रों के द्वारा जो विजय की जाती है वह असली विजय नहीं है, अपितु धर्म-विजय ही असली और मुख्यतम विजय है। कितना उत्तम और आदर्श अनुभव है! यदि अन्य सम्राटों और विजेताओं ने भी यह अनुभव कर लिया होता, तो आज इतिहास के लाखों और करोड़ों पृष्ठ व्यर्थ और हानिकारक युद्धों से काले हुवे हुवे न दिखाई देते। न केवल प्राचीन और मध्यकालीन राजाओं के लिए पर आज के सभ्य संसार के लिए भी सम्राट् अशोक का यह अनुभव सदा स्मरण रखने योग्य है। अशोक ने शस्त्र विजय का इरादा छोड़ कर धर्म-विजय के लिए प्रयत्न करना प्रारम्भ किया। और इस में उसे पूर्ण सफलता प्राप्त हुई। इसी लिए वह उचित अभिमान के साथ लिखता है- "यह धर्म-विजय देवताओं के प्रिय ने यहां (अपने राज्य में) तथा ६ सौ योजन दूर पड़ौसी राज्यों में प्राप्त की है, जहां अन्तियोक नाम यवन राजा राज्य करता है और उस अन्तियोक के बाद तुरुमय, आन्तकिनि, मक और अलिकसुन्दर नाम के चार राजा राज्य करते हैं और उन्होंने अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोड, पाण्ड्य, तथा ताम्रपर्णी में भी धर्म विजय प्राप्त की है।............सब जगह लोग देवताओं के प्रिय का धर्मानुशासन अनुसरण करते हैं और अनुसरण करेंगे। जहां देवताओं के प्रिय धर्म के दूत नहीं जाते वहां भी लोग देवताओं के प्रिय का धर्माचरण धर्मविधान और धर्मानुशासन सुन कर धर्मानुसार आचरण करते हैं और भविष्य में आचरण करेंगे। इस प्रकार सर्वत्र जो विजय हुई है वह विजय वास्तव में सर्वत्र आनन्द देने वाली है।"

अशोक ने इस धर्म विजय के लिये किन साधनों का प्रयोग किया, इस विषय में हमें बहुत मालूम नहीं है, परन्तु फिर भी अशोक के शिलालेख इस सम्बन्ध में भी हमारी सहायता करते हैं। अशोक ने अपनी धर्म विजय के लिए धर्म महामात्र नाम के विविध राज कर्मचारियों को नियत किया। ये कर्मचारी सर्वत्र देवताओं के प्रिय अशोक के सन्देश को सुनाते थे और लोगों को वास्तविक धर्म का अनुयायी बनाने का यत्न करते थे। इनका कार्य 'हित और सुख करना' बाधा को दूर करना, अनाथों और वृद्धों की रक्षा करना तथा कैद और प्राणदण्ड को

नियन्त्रित करना होता था। ये सर्वत्र अपने 'हित और सुख' के उद्देश्य को लिए हुवे भ्रमण करते थे और लोगों पर विजय प्राप्त करते थे। इतना ही नहीं, अशोक ने न केवल अपने राज्य में अपितु विदेशों में भी मनुष्यों और पशुओं की चिकित्सा के लिए प्रबन्ध किया, जहां औषधियां नहीं थीं वहां वहां औषधियां उगवाईं, मार्गों में पशुओं और मनुष्यों के आराम के लिए वृक्ष लगवाये और कुवें खुदवाये। अशोक के इन प्रयत्नों का क्या परिणाम हुवा होगा, इसका अनुमान सहज में ही किया जासकता है। अशोक के समय में प्रायः सभी अन्य राज्यों में विदेशी विजेता राज्य कर रहे थे, उन्हें अपनी शक्ति के सिवाय किसी अन्य बात का ख्याल नहीं था, जनता की भलाई इन के ध्यान में कभी न आती थी। इस अवस्था में अशोक के प्रयत्नों ने सचमुच ही उस की धर्म विजय स्थापित करदी थी। जनता के लिए वही राजा है, जो उनके हिताहित, सुख दुःख का ख्याल रखे। उनके आराम के लिए कूप खुदवाए, वृक्ष लगवाए धर्मशालाएं बनवाए और हस्पताल खुलवाए। आशोक ने यह कार्य किये उसी को जनता ने अपना राजा समझा। कितनी विचित्र बात है, खून की एक भी बूंद गिराये विना, केवल प्रेम और परोपकार के द्वारा आशोक ने अपनी अपूर्व धर्म-विजय स्थापित की थी। वह न केवल भारतीय जनता को, परन्तु सम्पूर्ण मनुष्य जाति को-नहीं नहीं प्राणिमात्र को अपना पुत्र समझता था और उस की सम्यक् पालना के लिए यत्न करता था। कितनी वार अशोक ने अपने शिलालेखों में इस भाव का प्रदर्शन किया है।

साम्राज्य-लिप्सा और शक्ति-प्रदर्शन के लिए इतिहास में कितने युद्ध किये गये—कितनी खून खराबी हुई पर क्या अशोक के सिवाय संसार के सम्पूर्ण इतिहास में कोई अन्य भी ऐसा सम्राट् है जिसने इस तरह सच्ची विजय को प्राप्त किया हो? सारी दुनिया में अपना धर्म—साम्राज्य स्थापित किया हो। जिन बातों को अक्रियात्मक और आदर्शमात्र समझा जाता है, उनको अशोक ने क्रिया में परिणत कर दिखाया। क्या इस विजय के द्वारा अशोक की राजनीतिक शक्ति किसी तरह से कम हुई? बिल्कुल नहीं अपितु राजनीतिक शक्ति के साथ अन्य बातें जुड़ जाने से उसकी शक्ति बहुत बढ़ गई।

राजनीतिक दृष्टि को छोड़ कर यदि धार्मिक दृष्टि से विचार किया जाय, तो अशोक का महत्त्व और भी अधिक बढ़ जाता है। अशोक ने बौद्ध धर्म को स्वीकार किया था। यदि वह चाहता तो अपनी विशाल राजनीतिक शक्ति का प्रयोग बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए कर सकता था। अन्य धर्मों पर अत्याचार कर के वह बौद्ध धर्म को फैला सकता था। पर उसने यह नहीं किया। अशोक ने सब धर्मों को समान दृष्टि से देखा। सब के साथ एक जैसा वर्ताव किया। सम्राट् की हैसियत से उसने कोई ऐसा

कार्य नहीं किया, जिस से बौद्ध धर्म को अनुचित लाभ पंहुचता हो। वे बार बार अपने शिलालेखों में सूचित करते हैं, कि "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा चाहते हैं कि सब सम्प्रदाय के मनुष्य (एक साथ) निवास करें। क्यों कि हर एक सम्प्रदाय के मनुष्य संयम और चित्तशुद्धि चाहते हैं।" इसी के अनुसार अशोक ने सब सम्प्रदायों की समान रूप से रक्षा की, बौद्ध-श्रमणों और ब्राह्मणों को एक तरह से दान दिया। स्वयं बौद्ध होने के कारण वह अपना कर्तव्य समझता था कि बौद्ध धर्म की सेवा की जाय, परन्तु यह करने के लिये वह अपनी सम्राट् की स्थिति से अनुचित लाभ नहीं उठाना चहता था। अतः बौद्ध धर्म की सेवा के लिये समय समय पर वह भिक्षु बन जाया करता था और राजकीय कर्तव्यों को युवराज और अमात्यों के हाथ में छोड़ कर स्वयं बौद्ध धर्म की सेवा में तत्पर होजाता था। उसने अपनी सन्तान को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया, उनके द्वारा प्रचार का कार्य लिया। बौद्ध संघ का प्रधान नेता और सहायक बन कर उस ने इस धर्म को देश देशान्तर में फैला दिया। परन्तु ध्यान रखना चाहिए कि इसके लिए उसने अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग नहीं किया। इसके लिए तो उसने स्वयं पीले वस्त्र पहन कर, अपनी सन्तान को भिक्षु बना कर उद्योग किया। बौद्ध धर्म का संसार भर में प्रचार 'सम्राट् अशोक' का कार्य नहीं है, अपितु 'भिक्षु अशोक' का कार्य है। एक बार जब उसने राज्य को संघ के सुपुर्द करने का इरादा किया और इस प्रकार संघ को अपनी राजनीतिक शक्ति से सहायता पहुँचानी चाही, तो मन्त्रियों ने उसे सावधान किया, उसकी आज्ञा का उलङ्घन करने के लिये युवराज को प्रेरणा की। दिव्यावदान में इस घटना का बहुत अच्छा वर्णन किया गया है। मन्त्रियों द्वारा टोके जाने पर अशोक को अपनी शक्तिहीनता का अनुभव हुवा। राज्य भर को संघ के लिये दान कर देने के स्थान पर उसने आधा आँवला दान रूप से भेज दिया और कहा- 'यही आधा आंवला है, जिसे मैं अपना कह सकता हूँ।'

त्यागशूरो नरेन्द्रोऽसौ
अशोको मौर्यकुञ्जरः।
जम्बुद्वीपेश्वरो भूत्वा
जातोऽर्धमलकेश्वरः॥

अभिप्राय यह है, कि बौद्धधर्म के प्रचार में अशोक सम्राट् की हैसियत से कोई सहायता आदि न कर सका। यह कार्य उसने समय समय पर भिक्षु बन कर सम्पादित किया। बौद्ध धर्म के प्रचार में सम्राट् अशोक का वही स्थान है, जो क्रिश्चियनटो में 'सेंटपाल' का और इस्लाम में 'खलीफ़ा उमर' का है। बौद्ध धर्म अशोक के नेतृत्व में ही संसार का धर्म बना। यदि भगवान् बुद्ध ने बौद्ध धर्म का प्रारम्भ किया, समानता, भ्रातृभाव, विश्वप्रेम और अहिंसा के सिद्धान्तों को मनुष्य जाति के सन्मुख रखा, तो अशोक ने इन को कार्य रूप में परिणत करके दिखाया और इन संदेशों को सारी दुनिया में गंजा दिया।

परन्तु सम्राट् की हैसियत से उसने जिस धर्म का प्रचार किया, वह बौद्ध धर्म नहीं था। वह तो सब धर्मों का निष्कर्ष—धर्म के सर्वसम्मत सिद्धान्त थे। यह बात और है कि उस समय में बौद्ध धर्म अपने असली स्वरूप में विद्यमान था और इन्ही बातों का मुख्य रूप से प्रचार करता था। अशोक बार बार अपनी प्रजा के सन्मुख यह स्पष्ट कर देना चाहते हैं, कि "धर्म यह है कि दास और सेवकों से उचित व्यवहार किया जाय, माता और पिता की सेवा की जाय, मित्र, परिचित, रिश्तेदार, श्रमण और ब्राह्मणों को दान दिया जाय, और प्राणियों की हिंसा न की जाय।" "धर्म की उन्नति और धर्म का आचरण इस बात में है कि दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता और साधुता लोगों में बढ़े।"

अपनी राजकीय शक्ति का प्रयोग उसने इन्हीं बातों के प्रचार के लिये किया। वह इस बात को अच्छी तरह अनुभव करते थे कि धर्म के ये तत्त्व अन्य सम्प्रदायों में भी विद्यमान हैं। इसी लिए लोगों की वास्तविक भलाई को अपने सम्मुख रख कर यह सब सम्प्रदायों के तत्त्व (सार) पर जोर देता था। वह इस बात को अच्छी तरह समझता था कि सभी सम्प्रदायों में सत्य बातें समान हैं, केवल बाह्य आवरण का भेद है। यदि आन्तरिक तत्त्व पर जोर दिया जाय, तो भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के पारस्परिक भेदों का नाश होकर एकता स्थापित होसकती है।

सम्प्रदायों के पारस्परिक भेद को देख कर और यह ख्याल कर कि सब सम्प्रदायों को अनुयायी अपनी अपनी बात पर अनुचित रूप से जोर देरहे हैं, उसे बड़ा दुःख होता था। इसी लिये वह लिखता है—

"देवताओं के प्रिय दान या पूजा की इतनी परवाह नहीं करते जितनी इस बात की कि सब सम्प्रदायों के सार (तत्त्व) की वृद्धि हो। सम्प्रदायों के सार की वृद्धि कई प्रकार से होती है, पर उस की जड़ वाक्संयम है। अर्थात् लोग केवल अपने ही सम्प्रदाय का आदर और बिना कारण दूसरे सम्प्रदाय की निन्दा न करें। केवल विशेष विशेष कारणों के होने पर निन्दा होनी चाहिए, क्योंकि किसी न किसी कारण से सब सम्प्रदायों का आदर करना लोगों का कर्तव्य है। ऐसा करने से अपने सम्प्रदाय की उन्नति और दूसरे सम्प्रदायों का उपकार होताहै। इसके विपरीत जो करता है वह अपने सम्प्रदाय को भी क्षति पहुंचाता है और दूसरे सम्प्रदायों का भी अपकार करता है। क्योंकि जो कोई अपने सम्प्रदाय की भक्ति में आकर इस विचार से कि मेरे सम्प्रदाय का गौरव बढ़े, अपने सम्प्रदाय की प्रशंसा करता है और दूसरे सम्प्रदायों की निन्दा करता है वह वास्तव में अपने सम्प्रदाय को पूरी हानि पहुंचाता है। समवाय (मेल जोल) अच्छा है, अर्थात् लोग एक दूसरे के धर्म को ध्यान देकर सुनें और उसकी सेवा करें। क्योंकि देवताओं के प्रिय की यह इच्छा है कि सब सम्प्रदाय वाले बहुत विद्वान् और कल्याण कर कार्य

करने वाले हों।"

वस्तुतः ही अशोक स्वयं भी इसी तरह आदर्श धार्मिक सहिष्णुता का पालन करने वाला था और उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति के द्वारा इसी धार्मिक सहिष्णुता को कार्य रूप में परिणत कराया। इसके लिए उसने धर्ममहामात्र स्त्रीमहामात्र, ब्रजभूमिक आदि राजकर्मचारियों को भी नियुक्त किया। इस सहिष्णुता के होते हुए उस समय भारत की अवस्था कितनी उत्तम होगी, इसकी कल्पना सहज में की जासकती है।

अशोक का वैयक्तिक जीवन भी आदर्श था। अन्य शक्तिशाली सम्राटों की तरह उसका जीवन भोग विलास और स्वच्छन्दता में नहीं गुजरता था अपितु वह बहुत ही त्याग के साथ जीवन व्यतीत करता था। अपने शिलालेखों में उसने इस बातका जिक्रकिया है, कि पहले वह भी सुख भोगता था, अपनी रसना की तृप्ति के लिये अनेक प्राणियों का बध कराता था। परन्तु धीरे धीरे उसने यह सब छोड़ दिया और आदर्श रूप से जीवन व्यतीत किया। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार अपने जीवन के प्रारम्भकाल में अशोक बहुत ही क्रूर और अत्याचारी था, परन्तु बौद्ध धर्म की शिक्षाओं से वह अपूर्व धर्मात्मा बन गया। बौद्धों की इन बातों का विश्वास चाहे किया जाय या न किया जाय, परन्तु यह तो सभी स्वीकृत करते हैं कि अशोक एक धर्मात्मा और पवित्र जीवन व्यतीत करने वाला सम्राट् था। प्राणिमात्र उसके सन्मुख एक समान थे। उसकी सहानुभूति व दया का क्षेत्र केवल अपने देश या मनुष्य जाति तक ही नियमित न था, परन्तु, प्राणिमात्र उसके लिये बराबर था। सब की भलाई और कल्याण के लिये वह समान रूप से प्रयत्न करता था। पशुओं की चिकित्सा और आराम के लिये भी उसने अस्पताल आदि खुल वाये। पशुहिंसा को बन्द कराने का निरन्तर उद्योग किया। परन्तु उसके सब उद्योग शान्त और अहिंसात्मक उपायों द्वारा होते थे। प्रेरणा और उपदेश द्वारा मनुष्यों को सीधे रास्ते पर लाना ही उसका उद्देश्य था। विचित्र बात यह है कि यह सब कुछ करते हुवे भी उसमें अभिमान का लेश भी न था। वह बार बार यही प्रगट करता है कि जो कुछ मैं करता हूँ उसका उद्देश्य यही है कि मेरी प्रजा को इहलोक और परलोक—दोनों में सुख प्राप्त हो। मनुष्य यश प्राप्ति के लिये अच्छे से अच्छा कार्य कर सकता है, परन्तु अशोक के सम्मुख यश व कीर्ति कुछ चीज ही नहीं थी, इसी लिये वह लिखता है-"देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा यश व कीर्ति को अत्यन्त (परलोक के लिये) बड़ी भारी चीज नहीं समझते। जो कुछ यश व कीर्ति वे चाहते हैं, सो इस लिये कि वर्तमान और भविष्य काल में मेरी प्रजा धर्म की सेवा करे और धर्म के व्रत का पालन करे। केवल इसी लिये देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा यश कीर्ति की इच्छा करते हैं। देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा जो कुछ भी पराक्रम करते हैं वह सब परलोक के लिए करते हैं,जिस से कि सब लोग विपत्ति से रहित हो जांय।"

इन सब बातों को देख कर यदि हम इतिहास में किसी ऐसे व्यक्ति को ढूंढना चाहें, जिस से अशोक की तुलना की जा सके, तो हमें निराशा ही होगी। कोई भी अन्य सम्राट् अशोक के सामने नहीं ठहर सकता। अनेक विद्वानों ने अशोक की तुलना रोमन सम्राट् कौन्स्टेन्टाइन से की है। जिस प्रकार कौन्स्टेन्टाइन ने क्रिश्चिएनिटी को आश्रय देकर उसे रोमन साम्राज्य का राज धर्म बना लिया और उस के कारण क्रिश्चिएनिटी के विस्तार में बहुत सहायता मिली, इसी प्रकार अशोक ने बौद्ध धर्म को राज धर्म बना कर उस का विस्तार किया। यद्यपि यह बात ठीक है अशोक के कारण बौद्ध धर्म का बहुत अधिक विस्तार हुवा, पर उसने इसके लिये राजकीय शक्ति का प्रयोग नहीं किया, यह बात हम ऊपर प्रदर्शित कर चुके हैं और यह भी अशोक के अद्वितीय व्यक्तित्व की ही विशेषता है।

कौन्स्टेन्टाइन और अशोक में बहुत भेद है। कौन्स्टेन्टाइन ने राजनीतिक प्रयोजनों से बाधित होकर क्रिश्चिएनिटी को स्वीकृत किया था। उसके पूर्ववर्ती सम्राटों ने क्रिश्चियन लोगों पर विविध अत्याचार किये, उनको जीते जी आग में जलाया, अभिप्राय यह है कि जिस तरह भी सम्भव हुवा, क्रिश्चिएनिटी को पददलित करने का प्रयत्न किया। परन्तु ईसाई साधुओं और सन्तों के आश्चर्यजनक त्याग और कष्ट सहन का यह परिणाम हुवा कि उनका धर्म दिन दूना रात चौगुना बढ़ता ही चला गया। कौन्स्टेन्टाइन के समय तक यह एक ऐसी शक्ति बन गई, जिसका प्रतिरोध करना किसी मानवीय शक्ति के लिए असम्भव था। कौन्स्टेन्टाइन ने इस प्रबल धारा के सम्मुख सिर झुका दिया इस में उसका उद्देश्य राजनीतिक था, इसके द्वारा उस ने अपनी शक्ति को बढ़ाना चाहा और निस्सन्देह उसे सफलता हुई। कौन्स्टेन्टाइन एक चालाक धूर्त और क्रूर व्यक्ति था, उस के सन्मुख धर्म का कोई उच्च आदर्श विद्यमान न था। उस को ईश्वर ने एक अलौकिक गुण दिया था—वह थी दूरदर्शिता। इसी के द्वारा उस ने यह अच्छी तरह समझ लिया था कि अपनी राजनीतिक महत्वाकांक्षा के लिये क्रिश्चिएनिटी को स्वीकृत कर लेना ही श्रेयस्कर है। यही उसने किया। क्रिश्चिएनिटी को राजाश्रय मिल जाने से कौन्स्टेन्टाइन को तो बहुत लाभ पहुंचा ही, उसकी राजनीतिक शक्ति तो अच्छी प्रकार बढ़ी ही, साथ ही क्रिश्चिएनिटी का भी अच्छी तरह विस्तार हुवा। परन्तु ख्याल रहे कि राजाश्रय पाकर वस्तुतः क्रिश्चिएनिटी का पतन प्रारम्भ हो गया। उस का शरीर बढ़ता गया, परन्तु आत्मा कमजोर होती गई। चर्च में धन-वृद्धि, भोग विलास आदि के भाव आने लगे। पुरानी क्रियाशीलता, त्याग और आत्मसंयम का नाश होगया और क्रिश्चिएनिटी का धीरे धीरे पतन शुरू हो गया।

इसके विपरीत यदि हम अशोक के इतिहास का अवलोकन करें, तो हमें बिलकुल ही विपरीत अवस्था मालूम होगी। अशोक ने किसी राज-

नीतिक प्रयोजन से बौद्ध धर्म को स्वीकार नहीं किया था। उस से पूर्व भारत में बौद्ध धर्म का विशेष प्रचार न हुआ था। बौद्ध धर्म ऐसी शक्ति नहीं बन गई थी, जिसके सन्मुख सिर झुकाये बिना कोई सम्राट् अपनी सत्ता कायम न रख सके। यह ठीक है कि अशोक ने बौद्ध धर्म को केवल इस लिये स्वीकृत किया, क्यों कि वह उस की शिक्षाओं से प्रभावित हुआ था, क्योंकि उस धर्म के प्रचारकों के त्याग, उच्च जीवन और संयम ने उसे अपनी तरफ खींच लिया था। फिर, अशोक के बौद्धधर्म को आश्रय देने का परिणाम बौद्ध धर्म का पतन नहीं हुआ। यद्यपि अशोक के समय और उसके बाद भी बौद्ध धर्म के प्रचार में निरन्तर वृद्धि हुई, परन्तु उसकी आत्मा का विनाश नहीं हुआ। यद्यपि प्रो० रोज डेविड्स ने कोन्स्टेन्टाइन और अशोक पर विचार करते हुये उनकी इस विषय में तुलना की है, कि दोनों के क्रमशः क्रिश्चियनिटी और बौद्ध धर्म को राजाश्रय देने से इन धर्मों का पतन प्रारम्भ हो गया तथापि अशोक के बाद बौद्ध धर्म की अवनति प्रारम्भ हुई, यह नहीं कहा जा सकता। उसके बाद कई सदियों तक बौद्ध धर्म में गिरावट का कोई निशान नहीं दिखलाई देता। अशोक के कई सदियां बाद तक भी बौद्ध धर्म निरन्तर उन्नति करता गया। अशोक ने राजकीय धन से बौद्ध विहारों का पोषण नहीं किया, यद्यपि उसके अपूर्व और अमित दान से बौद्ध धर्म की बहुत श्री-वृद्धि हुई, पर बौद्ध भिक्षुओं का आन्तरिक पतन बहुत समय तक प्रारम्भ नहीं हुआ। उन में आत्मसंयम और त्याग के भाव चिरकाल तक विद्यमान रहे। इस में बौद्ध धर्म की आन्तरिक खूबियां भी कारण हैं। जिस धर्म का उद्देश्य ही जीवन की पवित्रता हो, वह बहुत समय तक अपनी उच्चता को कायम रख सकता है। कुछ भी हो, इतना निश्चित है कि कौन्स्टेन्टाइन के क्रिश्चियनिटी को राजाश्रय देने के कारण जो हानि हुई है, वह अशोक के बौद्ध धर्म स्वीकृत करने पर बिलकुल नहीं हुई। उसका प्रभाव उत्तम ही हुआ।

इसके सिवाय अशोक का वैयक्तिक जीवन बहुत पवित्र था। उसके सम्मुख उद्देश्य बहुत उच्च था, वह बहुत ही ऊंची दृष्टि से अपने कार्यों को करता था। कोन्स्टेन्टाइन इस से सर्वथा विपरीत था। इन दोनों सम्राटों में किसी भी प्रकार से तुलना नहीं की जा सकती। इतिहास में जिस गौरव से अशोक का नाम अब तक लिया जाता रहा है और भविष्य में जब दुनिया उसके महत्व को अधिक अच्छी तरह समझेगी, तब जिस गौरव के साथ उसका स्मरण करेगी, निश्चय ही कोन्स्टेन्टाइन उसके शत भाग तक भी नहीं पहुंच सकता।

कई ऐतिहासिक अशोक की तुलना प्रसिद्ध रोमन सम्राट् 'मार्कस ओरिलियस' से करते हैं। निस्सन्देह 'मार्कस ओरिलियस' का जीवन बहुत ही पवित्र और उच्च था, उसके उद्देश्य ऊंचे थे, वह बहुत बड़ा विद्वान था। मानसिक और आत्मिक दृष्टि से वह

बहुत बड़ा व्यक्ति था। परन्तु यह होते हुवे भी उस में इतनी उच्चता नहीं थी कि वह सब धर्मों को समान दृष्टि से देख सके। क्रिश्चियनिटी पर उसने घृणित अत्याचार किये। वह ऐसा करना बिलकुल न्याय समझता था। वह अपनी रोमन देश भक्ति से ऊंचा नहीं उठ सकता था। प्राणिमात्र को क्या, मनुष्य मात्र तक को समान दृष्टि से देखना उसके लिये अकल्पनीय था। क्रिश्चियन और रोमन साम्राज्य की सीमावर्ती जातियां उसके लिये घृणित जन्तु थे, क्यों कि वे रोमन आदर्शों और भावों के विरोधी थे। 'मार्कस ओरेलियस' की दृष्टि बहुत संकुचित थी, वह रोम की तंग दीवारों से बाहर नहीं जा सकती थी। परन्तु अशोक! उसके सम्मुख संकीर्णता का नाम भी न था। उस का आदर्श उच्च था। मनुष्यमात्र उसके लिये एक समान थे। सब धर्मों में उसके लिये सत्य विद्यमान था। राष्ट्र और जाति की सीमायें उसके विश्वप्रेम को सिमित नहीं कर सकती थीं। मनुष्य जाति की स्वाभाविक कमजोरियां उसके आदर्श प्रेम को कम न कर सकती थीं। 'मार्कस ओरेलियस' के साथ उसकी तुलना करना दीपक के साथ सूर्य की तुलना करना है।

प्रायः अशोक की तुलना अकबर के साथ भी की जाती है। जिस प्रकार धार्मिक सहिष्णुता अशोक की विशेषता है, उसी तरह अकबर की भी। अकबर भारतीय नहीं था, उसने एक विजेता के रूप में भारत में प्रवेश किया था। उसके पिता और पितामह अभी भारत में अपना राज्य स्थापित नहीं कर सके थे। मुगल साम्राज्य की नींवडालने वाला यदि बाबर था, तो उस पर भित्ति खड़ा करने वाला अकबर ही था। यह होते हुवे भी उसने जो धार्मिक सहिष्णुता प्रगट की वह सचमुच आश्चर्यजनक है और विशेषतः उस अवस्था में जब कि हम उसके पूर्ववर्ती पठान सम्राटों के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं। अकबर ने स्वयं मुसलमान होते हुवे भी हिन्दुओं के साथ समानता का बर्ताव किया। उनकी धार्मिक विशेषताओं का आदर किया। वह वस्तुतः सब धर्मों में सत्यता का अनुभव करता था और प्रायः ऐसी सभायें किया करता था, जिन में कि मुसलमान, हिन्दू, ईसाई, यहूदी आदि धर्मों के प्रतिनिधि सम्मिलित होकर अपने अपने धर्मों पर विचार किया करते थे। अकबर इन विवाद को बहुत ध्यान से सुनता था। सब धर्मों के तथ्यों को लेकर उसने 'दीन इलाही' नाम से एक नया पन्थ भी चलाया, जिस में कि सब धर्मों के सत्यतत्वों को स्थान दिया गया था। अभिप्राय यह है कि अकबर ने 'धार्मिक सहिष्णुता' का जो आदर्श स्थापित किया था वह वस्तुतः इतिहास में आदर्श है।

परन्तु अकबर की अशोक के साथ तुलना करते हुवे यह हर समय ध्यान में रखना चाहिये कि अकबर एक चाणाक्ष राजनीतिज्ञ था, और अन्य सब चीजों को राजनीति से पीछे स्थान देता था। इस में सन्देह है कि उस ने धार्मिक सहिष्णुता किसी अत्यन्त उच्च भावना से प्रेरित होकर प्रदर्शित की। वह

जानता था कि हिन्दू जनता की सहानुभूति और सहायता के बिना भारत में मुगल राज्य स्थापित कर सकना केवल स्वप्न मात्र है, अतः उसे हिन्दू सहानुभूति की आवश्यकता थी। साथ में हिन्दू धर्म, हिन्दू सभ्यता और हिन्दू संस्कृति की उच्चता को वह भुला नहीं सकता था। राजनीतिक दृष्टि से विजेता होते हुवे भी मुसलमान आक्रान्ता हिन्दुओं से सभ्यता की दृष्टि से पराजित हो रहे थे और चाणाक्ष अकबर इस बात को खूब अच्छी तरह समझता था। इस लिये धार्मिक सहिष्णुता प्रदर्शित करना उसके लिये अनिवार्य था। परन्तु यह होते हुवे जहां उसने अनुभव किया कि धार्मिक सहिष्णुता उसके राजनीतिक प्रभुत्व में बाधा डाल रही है, वहां उसने उसको जरा भी पर्वाह नहीं की। जब देखा कि धर्मों के खुले विवाद से उसको मुसलमान प्रजा और मुसलमान सेना में असन्तोष फैल रहा है, तो उसने इन विवादों को बन्द कर दिया। जब कभी वह देखता कि किसी धर्म के प्रचार द्वारा जनता में विद्रोह फैलने की आशंका है, तो वह उसका दमन करने में जरा भी संकोच न करता। फिर, 'दीन इलाही' धर्म को प्रारम्भ करने में उसके धार्मिक भावों की उच्चता इतना काम नहीं कर रही थी जितना कि अपनी वैयक्तिक महत्वाकांक्षा। अकबर एक महत्वाकांक्षी व्यक्ति था, उसको बहुत से उद्योग उसकी महाकांक्षाओं को पूरा करने के लिये थे। उसके सम्मुख आदर्श की वह उच्चता और पवित्रता न थी, जो अशोक के सम्मुख थी। फिर, अकबर का वैयक्तिक जीवन बहुत उन्नत न था वह काम क्रोध आदि के बुरी तरह से वशीभृत था। अनेक राजपूत कन्याओं को उसने अपनी काम वासना में भस्मसात् करना चाहा। उसके वैयक्तिक आचार को देखते हुवे उस की अशोक के साथ तुलना करना भी असम्भव प्रतीत होता है।

अकबर को जो गौरव है उसे हम अच्छी तरह अनुभव करते हैं। निस्सन्देह, उसकी नीति के कारण भारत को बहुत लाभ हुवा। यदि उसके सब उत्तराधिकारी भी उसकी नीति का अनुकरण करते रहते, तो सम्भवतः भारत में हिन्दू मुस्लिम प्रश्न शेष ही न रहता। यह सब कुछ होते हुवे भी अकबर को किसी भी तरह से अशोक के मुकाबले में नहीं रखा जा सकता। अनेक यूरोपियन ऐतिहासिकों ने सिकंदर और सीजर जैसे विजेताओं को बहुत महत्व दिया है। ये इन्हें संसार के सब से महान् व्यक्ति मानते हैं। परन्तु क्या उनके विजय ही उनको संसार का महान पुरुष बना देने के लिये पर्याप्त हैं? कभी नहीं, निस्सन्देह उन्होंने शक्ति का संचय किया परन्तु शक्ति प्राप्त करते ही उन्होंने उसका दुरुपयोग किया। यदि वे अपनी शक्ति का सदुपयोग करते, उसका व्यय संसार के हित के लिये करते तो निस्सन्देह उनका नाम इतिहास में अमर हो जाता परन्तु उन को शक्ति से संसार का हानि ही हुई, लाभ नहीं। यदि सम्पूर्ण इतिहास में कोई ऐसा व्यक्ति है जिसने कि अपनी अनन्त राजनीतिक और धार्मिक

शक्ति का प्रयोग दुनिया की भलाई के लिये किया, तो वह अशोक ही है। उसका उद्देश्य उच्च था और उसका उद्योग अपने महान् उद्देश्य को क्रिया में परिणत करने के लिये ही लगा था। वस्तुतः इतिहास में अशोक का नाम आकाश में सूर्य की तरह चमक रहा है। अशोक मनुष्य जाति को जिस अवस्था तक पहुंचाना चाहता था, वहां तक उसके पहुंचने में अभी न जाने कितना समय लगे। परन्तु जब वह उस तरफ गति कर रही होगी, तो निस्सन्देह अशोक का नाम उसके लिये पथ—प्रदर्शक का कार्य करेगा।

"आसान नहीं,,

(पं० धर्मदत्त जी विद्यालंकार)

आवे यहां पै वो ही जो सर्वस्व लासके।
मांगें तो अपना सीस तक इनपर चढ़ा सके॥
मैदान ए जंग है यहां वीरों का काम है।
खाला का घर नहीं है जो हरएक आसके॥
मञ्जिल पै पहुंचना यहां आसान है नहीं।
जिसने पिया है प्रेम का प्याला वो जासके॥
गीतों के गाने का यहां कुछ काम है नहीं।
आवे जो आंसुओं से ही इनको निल्हा सके॥
गेरू लगा २ के क्या इनको रिझा रहे।
आवे जो अपने ही जिगर का खूं लगा सके॥
पलभरभी अपने जिस्म की जिसको फिकर नहीं।
आवे जो इनकी ही फिकर में दिन बिता सके॥
लाखों के लाल वाले भी कंगाल हैं यहां।
चावल सुदामा के मगर लावे तो आसके॥
पाया नहीं है प्रेमको इनके किसी ने भी।
पावे तो अपने दिल के ही बदले में पासके॥

करा रहा है। इस में कहीं भी तीन काल संध्या का वर्णन नहीं। लीजिये मंत्र तथा उस का अर्थ नीचे देते हैं—

मम त्वा सूर उदिते मम मध्यन्दिनो दिवः।

मम प्रपित्वे अपिशर्वरे वसवा स्तोमासो अवृत्सत॥

(ऋ६ मं० ८ सू० १ मं० २६)

अर्थः—(वसो) हे शुभगुणधारक (उदिते सूरे) प्रातः काल (मम् स्तो मासः) मेरी ऋग्वेद की ऋचाएं। (दिवः) दिन के (मध्यन्दिने) मध्य में (मम) मेरी ऋचाएं (शर्वरेप्रपित्वे अपि) रात्रि प्राप्त होने पर भी (मम) मेरा स्तोम अर्थात् ऋचाएं आप (अवृत्सत) आवर्तित अर्थात् पुनः पुनः कंठ करें।

गुरुकुलसुपा जिला सुरत के आचार्य पं० ईश्वरदत्त जी भी हमारे इस अर्थ से सहमत हैं।

यमयमी सूक्त का अर्थ करते समय मनु आदि धर्मशास्त्र के अगोत्र विवाह को मार्ग दर्शक समझ कर अनेक पंडित उन के वैसे ही अर्थ करने पर दृढ़ता दिखाते हैं तो उन ही महानुभाव पंडितों को चाहिये कि जब उक्त मंत्रों के अर्थ ३ काल संध्या के पक्ष में करने लगें तो प्रथम विचार लें कि मनु आदि धर्म शास्त्र तो दो काल सन्ध्या के दर्शक हैं- फिर दो काल बाधक अर्थ को वह क्यों छोड़ते हैं ?

महर्षि दयानन्द और महर्षि मनु जब दो काल संध्या की मर्य्यादा के विधायक हैं तो हमें ३ काल के पक्ष के लिये क्यों विचित्र यत्न करना चाहिये ?

ममता

(लेखक श्रीयुत् गुप्त)

पास ही से एक हलकी सी आवाज़ सुन कर जीवन जाग उठा। बैशाख का महीना था; चांदनी रात थी। जीवन अपने खरबूजों के खेत में एक चारपाई पर पड़ा सो रहा था। करीब आधी रात बीत चुकी थी। जीवन को भय हुआ कि कहीं बाढ़ फांद कर गीदड़ तो खेत में नहीं घुस आये, परन्तु एक बार चांदनी में भली प्रकार अपने छोटे से खेत को देख लेने पर उस का यह सन्देह दूर होगया। इसी समय उसे फिर से वही अवाज़ सुनाई दी। जीवन आवाज़ सुन कर पहचान गया कि खेत के पास वाले जंगल में कोई जंगली जीव एक बछड़े पर आक्रमण कर रहा है। अपने खेत में किसी प्रकार का उपद्रव न देख कर पहले तो जीवन की इच्छा हुई कि सो जाऊं—क्यों मुफ्त में एक बछड़े के लिए अपनी जान खतरे में डालूं, परन्तु बार बार "बां" "बां" का करुणामय शब्द

सुन कर वह रह न सका। जीवन खाट से उतर कर खड़ा हो गया; एक हाथ में डण्डा लेकर और दूसरे हाथ में अपना हरिकेन लैम्प लेकर वह उसी ओर चल दिया जिधर से कि आवाज आ रही थी।

जीवन के खेत की पूर्वीय हद्द एक जंगल से मिलती थी। यह जंगल बहुत घना नहीं था, साधारण झाड़ियों और ढाक के वृक्षों को छोड़ कर और कोई बड़ा वृक्ष इस जंगल में नहीं था। जंगल में प्रविष्ट होते ही झाड़ियों के एक बड़े झुण्ड की ओट में उसने देखा कि एक छोटे से बछड़े पर ४, ५ गीदड़ आक्रमण कर रहे हैं; वह बेचारा ज़मीन पर लेटा हुआ बड़े करुणापूर्ण स्वर में 'बां' 'बां' कर रहा है। एक लैम्प हस्त आदमी को अपनी ओर आता हुआ देखकर सब गीदड़ भाग खड़े हुवे। जीवन ने पास जाकर देखा कि बछड़े को बहुत अधिक चोट नहीं आई है, उस की अगली दायीं टांग और पीठ के ऊपर का कुछ भाग ज़ख्मी होगया है। बछड़े का रंग बिल्कुल श्वेत है, उसके माथे पर पर लाल शंख का निशान बना है। जीवन ने अनुमान से पहिचाना कि उस की आयु २ मास से अधिक नहीं है।

जीवन धीरे से बछड़े को गोद में उठा कर अपनी झोपड़ी में चला आया।

(२)

प्रातः काल उठ कर जीवन ने पहचान करके देखा कि बछड़े की जात बहुत अच्छी है, अगर यत्न किया जाय तो वह एक बहुत बढ़िया बैल बन सकता है।

जीवन बड़े यत्न से बछडे का इलाज करने लगा। थोड़े दिनों में ही उसके दोनों घाव भर आये। अच्छा होकर वह खूब कूदने फांदने लगा। जीवन की घर वाली भी इस बछड़े से खूब प्यार करती थी। इस का नाम 'गोरा' रक्खा गया। जीवन इसे खूब हरी हरी घास खिलाया करता था।

कुछ ही महीनों में 'गोरे' का सीना खूब भर आया, पट्ठे मज़बूत होगये। उसे देख कर लोग जीवन के भाग्यों की सराहना करने लगे।

(३)

दो बरस बीत गये। 'गोरा' इस समय तक एक बड़े डील डौल वाला बैल बन चुका था। उस की टक्कर का बैल आस पास के कई गांवों तक नहीं मिलता था। उसकी चाल हाथी की चाल के समान मस्ताना थी; उस की गरज बादल की गरज के समान गम्भीर थी।

जीवन के गांव के नज़दीक ही एक बहुत बड़ा मैदान था। इस में प्रतिवर्ष बसन्त ऋतु में सरकार की ओर से पशुओं की एक नुमाइश की जाया करती थी। दूर दूर से लोग अपने जानवरों को इस नुमाइश में लाया करते थे। जिन के जानवर अच्छे सिद्ध होते थे उन्हें सरकारी तौर पर इनाम दिया जाता था।

कई वर्षों से सब से प्रथम इनाम गांव के जमीदार लखपतराय को उसके एक बैल के लिए मिल रहा था। ज़मीदार ने यह बैल खास इसी कार्य के

किये रक्खा हुवा था, इस से वर्ष भर कोई काम नहीं लिया जाता था। जमीन्दार का बैल था—खाने की क्या कमी। खास कर नुमाइश के दिनों में तो पुछना ही क्या। चार चार आदमी इस की सेवा टहल के लिये दौड़ते फिरते थे। उसके रहने का स्थान खूब साफ़ रक्खा जाता था। उसे किसानों के खेतों में चरने के लिए खुला छोड़ दिया जाता था किसी की क्या मजाल, कि इस बैल को अपने खेत मे आने से रोक सके। इसे रोकना मानों ज़मीन्दार को रोकना था।

इस वर्ष लोगों को विश्वास था कि कि नुमाइश में 'गोरा' सब से प्रथम सिद्ध होगा, परन्तु जीवन अपने बैल को प्रदर्शनी में ले- जाकर ज़मीन्दार के क्रोध का पात्र नही बनना चाहता था।

नुमाइश मे एक दिन पूर्व ही उन लोगों के बहुत कहने से-जो प्रतिवर्ष लखपत से नीचा देखते थे—जीवन गोरे को नुमाइश में लेजाने को तैतार हो गया। यह खबर आस पास के गांवों में वायु के समान फैल गई, ज़मीन्दार के बैल और 'गोरे' का मुकाबला देखने के लिये इस वर्ष बहुत अधिक संख्या में दर्शक आये थे। नुमाइश भर में इसी मुकाबले की चर्चा थी।

दिन के १० बजे दोनों बैलों में मुकाबला शुरु हुआ। सब से पहले डाक्टरी परीक्षा हुई। यद्यपि ग्रामीण पशु-विद्याविशारदों का निश्चय था कि 'गोरा' ज़मीन्दार के बैल की अपेक्षा अधिक मज़बूत और तन्दुरस्त है तथापि डाक्टरों ने इन दोनों को एक समान ही दर्ज किया। अब ताकत की परीक्षा हुई। 'गोरा' वह भार उठा कर भागा जिसके आधे से ही ज़मीन्दार के बैल के लिए चलना भी कठिन होगया था। यही हाल दूसरे मुकाबलों में भी रहा। लखपतराय एक ओर खड़ा होकर बड़ी तीक्ष्ण दृष्टि से 'गोरे' का ओर देख रहा था। सब दर्शक एक मत होकर गोरे को ही शाबास दे रहे थे।

नुमाइश का प्रथम पुरस्कार इस बार 'गोरे' को ही दिया गया।

(४)

जीवन धड़कते हुए दिल से ज़मीन्दार लखपतराय की ओर देख रहा था। इतने में ज़मीन्दार धीरे से बोल उठा-'जीवन' अपना वह बैल मुझे देदो।" जीवन कांप उठा। जिस बात का उसे भय था वही हुई। परन्तु शीघ्र ही अपने को संभाल कर वह बोला "हजूर! आप के पास बैलों की क्या कमी है, ? मुझ गरीब पर रहम कीजिये।"

लखपतराय ने कहा—उसके बदले में तुम्हें मुंह मांगा इनाम दूंगा। जीवन ने उसी तरह स्थिर भाव से कहा—"मैं अपना बैल किसी भी दाम पर देना नहीं चाहता।

ज़मीन्दार ने फिर कहा—"तुम्हारा लगान माफ कर कर दूंगा।"
जीवन ने नकारात्मक उत्तर दिया।

कुछ देर तक चुप रह कर लखपतराय ने तीखी आवाज़ में कहा "तो फिर

किसी दूसरे उपाय से दोगे ?"

जीवन को भी कुछ क्रोध आगया। उसने तन कर कहा —"हरगिज़ नहीं।"

ज़मीन्दार ने कहा— "अच्छा, जाओ !"

इस दिन के बाद से जीवन पर सख्ती आरम्भ हुई। उस से कठिन बेगार ली जाने लगी। सब प्रकार से उसे तंग करने यत्न किया जाने लगा।

(५)

बड़े जोर से वर्षा हो रही थी; सामने पश्चिम की ओर—बरसाती नाला बड़े वेग से बह रहा था। उसे तैर कर पार करना भी जान को जोखिम में डालना था। एक गड्डे के साथ उसे पार करना तो सर्वथा असम्भव था। सायंकाल होने वाला था। करीब चार बजे थे। जीवन अपना गड्डा लिये हुए बड़ी चिन्ता के साथ नाले की ओर देख रहा था। गड्डे पर लकड़ियां भरी हुई थीं। सब ओर हरियावल ही हरियावल थी। पास ही 'गोरा'—निश्चिन्तता से हरी हरी घास चर रहा था। जीवन ने गड्डे पर लकड़ियां कुछ ऐसे ढंग से रक्खी थीं कि उन के द्वारा एक गुफा सी बन गई थी। जीवन इसी गुफा में चादर ओढ़ कर वर्षा से सुरक्षित होकर बैठा हुवा था।

जीवन को आज ज़मीन्दार ने जङ्गल में से लकड़ियां काट लाने के लिये बेगार पर भेजा था। प्रातः काल जब वह नाला पार करके जंगल में प्रविष्ट हुवा था, उस समय नाला करीब सूखा हुवा था। परन्तु सायंकाल होते होते बड़े ज़ोर से वर्षा प्रारम्भ हो गई। नाला पूरे वेग से चलने लगा। बरसात की मौसम थी। इन दिनों गड्डा लेकर जंगल में लकड़ियां लेने के लिये आना बड़े जोखिम का काम समझा जाता था।

सहसा 'गोरा' गरदन उठा कर एक बार बड़े ज़ोर से गरज उठा। न मालूम क्यों जीवन भी एक बार कांप उठा। उसने धड़कते हुए दिल से अपनी खोह से सिर बाहर निकाल कर देखा, परन्तु चारों ओर पहले की तरह सन्नाटा ही छाया हुवा था, केवल वर्षा पड़ने की निस्तब्ध आवाज़ आ रही थी 'गोरा' भी पहले की तरह ही घास चर रहा था, । नीरव सन्नाटे में जीवन को कुछ भय मालूम होने लगा।

कुछ देर के बाद बादल फट गये। वर्षा बन्द हो गई। पूर्व दिशा में इन्द्र धनुष निकल आया। सूर्य डूबने में अब बहुत अधिक देर नहीं रही थी। सूर्य की अन्तिम किरणों के कारण बादलों में अनेकों रंग बन रहे थे। उन के प्रतिबिम्ब से नाले का बरसाती जल भी पिघले हुए सोने की धार के समान मालूम होने लगा। जंगल में मोर बोलने लगे। चारों ओर का दृश्य स्वर्गीय हो उठा। परन्तु जीवन का ध्यान इन दृश्यों की ओर नहीं था। वह नाले का पानी कम होने की बड़ी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा कर रहा था।

धीरे धीरे नाले में पानी बहुत कम रह गया। जीवन के जी में कुछ जान आई। 'गोरे' को गड्डे में जोत कर वह फिर उसी खोह में जा बैठा और रस्सा हिला कर 'गोरे' को चलने की आज्ञा दी। सूर्य डूबने ही वाला था, गांव अभी नाले के दूसरे पार से करीब २ मील दूर था।

धीरे धीरे उस हरे मैदान से उतर कर 'गोरा' नाले के रेतीले किनारे पर पहुंचा। पानी के पास पहुँचते ही सहसा 'गोरा' चौंक कर खड़ा हो गया। जीवन फिर कांप उठा; उसने डरते डरते खोह से मुंह बाहर निकाल कर नाले की ओर देखा। देखते ही उस के होश गुम हो गए। उसने देखा—उत्तर की ओर गड्डे से करीब २० गज़ दूर एक बड़ा सा शेर खड़ा हुवा गड्डे की ओर देख कर गुर्रा रहा है!

इस के थोड़ी देर बाद ही शेर बड़ी ज़ोर से गरज उठा! उस की गरज समीप स्थित पहाड़ी के साथ टकरा कर गूंज उठी। जीवन उसी प्रकार अनिमेष नयनों से शेर की ओर देखता रहा। परन्तु शेर ने अभी तक उस की ओर नहीं देखा था; वह गोरे के श्वेत श्वेत पीन कलेवर की ओर देख कर ही गुर्रा रहा था।

शेर की भयंकर गरज सुन कर गोरा कांप उठा। वह 'बां' 'बां' कर के चिल्लाने लगा। इतने में शेर धीरे धीरे बडी शान से कदम बढ़ाता हुवा 'गोरे' की ओर बढ़ा। 'गोरा' बड़ी करुणापूर्ण स्वर में 'बां' 'बां' करने लगा। जीवन इस समय भी उसी प्रकार खोह से गर्दन बाहर निकाल कर बैठा हुवा था। वह अगर चाहता, तो अब भी खोह में छिप कर अपनी जान बचा सकता था।

सहसा 'गोरे' का करुण स्वर सुन कर जीवन विचलित हो उठा। उसने सोचा—आज से ढाई वर्ष पूर्व गोरे की यही करुण "बां' 'बां" सुन कर मैंने उस की गीदड़ों से रक्षा की थी। क्या आज मैं उसे शेर के मुंह से नहीं बचा सकता— जीवन एक दम कूद कर 'गोरे' की पीठ पर लिपट गया! इस के दूसरे ही क्षण शेर बड़े ही जोर से गरज कर 'गोरे' पर झपटा। परन्तु उस के तेज़ नाखून 'गोरे' के भरे हुए शरीर में न घुस कर जीवन की सूखी हुई पीठ में जा धंसे! शेर ने इसी शिकार को पर्याप्त समझा; और वह आश्रित-वत्सल दरिद्र जीवन की पवित्र देह को लेकर जंगल में प्रविष्ट हो गया।

* * * * *

अगले दिन प्रातः काल जीवन के सम्बन्धी इसे ढूंढते हुए वहां पहुँचे। 'गोरा' अब तक इसी तरह खड़ा था। गड्डे की खोह के अन्दर जीवन की मैली चादर पड़ी थी। जीवन की पीठ पर खून के बड़े बड़े दाग़ और रेत पर शेर के पञ्जों के निशान देख कर उन्हें सारी घटना समझने में देर न लगी। जीवन की स्त्री रोते रोते 'गोरे' को अपने घर ले आई।

जीवन का यह बलिदान आस पास के सब गांवों में प्रसिद्ध है। लोग इस का नाम बड़ी श्रद्धा से लेते है। 'गोरा' आज भी जीवित है; परन्तु अब वह उतना मज़बूत नहीं रहा। लोग कहते हैं, कि स्वामी के शोक में वह घुलता जा रहा है; लखपतराय भी अपने व्यवहार पर शर्मिन्दा है। उस दिन के बाद से उस ने 'गोरे' के लिये कभी आग्रह नहीं किया।
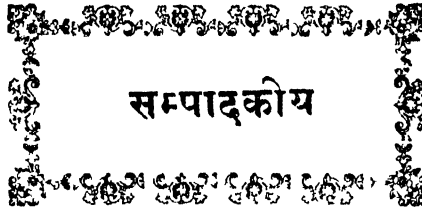
सम्पादकीय

अपनी सुध लीजिये

जिस समय यह अंक पाठकों के हाथ में पहुँचेगा पाठक दीपमाला के पवित्र और प्राचीन पर्व को मानने में संलग्न होंगे। आज का दिन प्रत्येक भारतीय के लिये प्रसन्नता का दिन है। राम, दयानन्द, महावीर, रामतीर्थ और नानक किसी विशेष जाति या सम्प्रदाय की सम्पत्ति नहीं है, पर प्रत्येक भारतीय के लिये अराध्य देव है। इस दीन हीन और नग्नावस्था में भी हम प्राचीन गौरव के आवरण से अपनी लाज बचा सकते हैं। यह सत्य है, कि आज राम-रूपी भारतीय अन्तरात्मा को भारत के राष्ट्रीय मन्दिर में प्रतिष्ठित करने का हमारी कलाई में बल नहीं है, खोई सीता-स्वतन्त्रता की अराधना करने के लिये हमारे शीश झुकने में हिचकिचाते हैं, दयानन्द की नाँई इस परतन्त्रता-पाप कालिमा को धोने के लिये अपने प्राणों को उत्सर्ग करने को हम उद्यत नहीं हैं, राष्ट्रीयता की प्रबल भावनायें आज देश मे लहरें नहीं मार रही हैं, कि अछूत, भंगी, चमार और मुसलमान को अपना भाई समझें और उस से गले मिलाएं और इस प्रेममिलन जन्य अश्रु—प्रवाह में सब मनोमालिन्य को बहादें, फिर भी आगे का मार्ग देखने के लिये, भविष्य की गतिविधि जानने के लिये, भूत को टटोलना, उसका अवलोकन करना हमरा धर्म है। अमावस के घने अंधियारे में इन टिमटिमाते दीपों के उजाले के सहारे हमको अपना मार्ग देखना है। राष्ट्र नेता आदर्श राजा राम चन्द्र के दर्शन करने की कोशिश कीजिए। मत मतान्तरों की बाधा से परे स्थित ऋषि दयानन्द की मूर्ति को हृदय में अङ्कित करिए। मानव समाज के कल्याण के विचार में ध्यानावस्थित राम, दयानन्द, महावीर और नानक की मूर्तिओं को अपने हृदय पटल पर चित्रित कीजिए। अपने मानसोद्भव तुच्छ संकीर्ण परधियों और सीमाओं से अपने आप को दूर कर एक भारतीय अनुभव करते हुए अपने अराध्य देवों के दर्शन करने का

यत्न कीजिए। राजा राम आज बाह्य रक्षा से निवृत्त होकर प्रजा की अन्तरीय उन्नति में दत्तचित्त हुए, ऋषि दयानन्द ने आज बाह्य दृष्टि सदा के लिये मूंद कर अन्तर्दृष्टि खोल ली, अन्य महात्मा संसार-चिन्ता त्याग कर अन्तरात्मा के कल्याण में तत्पर हुए, उसी प्रकार आप भी आत्म सुधार, आत्मचिन्तन में तत्पर होइए। काफी खोपड़ियां फूट चुकीं, दूसरों के दोषों से पर्याप्त परिमाण में अखबार के कालम रंगे जा चुके अब अपनी सुध लीजिए, यह ही हिलती दीप शिखायें कह रही हैं। दीप-शिखाओं से बने भारत के मान चित्र को अपने हृदय में सदा अंकित किए रहिए। अपनी प्रत्येक क्रिया और विचार इस की शोभा बढ़ाने में लगाइए। राम के द्वारा दिखाये राष्ट्रधर्म, राजनीति को हृदयाङ्कित कीजिए। शत्रु-दर्प दलन में क्षम, बल को अपने बाहुओं में धारिए। आज के नायक सन्तों के हृदय की पवित्रता, दिव्य तेज, और अद्भुत साहस को अपने हृदय में धारण कीजिए यही बात कम्पित दीप-शिखायें कह रही हैं। अपना घर संभालिए, आपके झोपड़े में कोई आग न लगा दे इस का ध्यान रखिए, कहीं ऐसा न हो, कि आप के हाथ में स्थित दिए से ही झोपड़ी में आग लग जाय और आप के समेत झोपड़ी राख में बदल जाय। अतः इस से सावधान रहिए। उठिए, प्रसन्नता के साथ और उल्लास भरे हृदयों से राष्ट्रीय पर्व को मनाइए, राम और भरत के समान परस्पर मिल के रहिए और अपने हृदय-दीपों के प्रकाश में प्राचीन गौरव-शिखर पर फहराती विजय-पताका को देख कर अग्रेसर होइए।

समय आगया

किसी समय जो जाति अजेय थी, जिस के सम्राटों के चरणों की रज लेने के लिए विदेशी सम्राट् 'अहं पूर्वं' 'अहं पूर्वं' का द्वार पर शोर किया करते थे, जिस के शौर्य, पराक्रम और वीर-गाथाओं को सुन कर ही आक्रान्ता गण पीछे लौट जाते थे, आक्रमण के इरादे के लिए उपहार भेज कर विनीत भाव से क्षमा चाहते थे, और जो समाज आग की जलती प्रचण्ड भट्टी थी, जिस का तेज अमेरिका तक पहुंच रहा था, जिसकी गर्मी से पार्लियामेन्ट की दीवारें तपती रहती थीं, जिसकी ओर देखने तक का साहस कोई न करता था, आज उन को शासकों के भ्रूभंग विलास के इशारे पर अपने जातीय पर्व और नगर कीर्तन बन्द कर देने पड़ते हैं। यह विधि विडम्बना नहीं तो क्या है? जो जाति मरते समय भी

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि
नैनं दहति पावकः"

से अङ्कित ताबीज गले में बांध कर संसार को अमरता का उपदेश करती है, जो जति प्रतिदिन—

"एहि के कण्ठ न कुठार दीन्हा,
तो मैं कह कोप करि कीन्हा।"
"जो रन हमहिं प्रचारइ कोऊ,
लरहिं सुखेन काल किन होऊ।
क्षत्रिय तनु धरि समर सकाना,
कुल कलङ्क तेहिं पांवर जाना।
कहउं सुभाव न कुल हि प्रसंसी,
कालहु डरहि न रन रघुवंसी।"

यह गा कर दिशायें गुंजाती है,

आकाश कँपाती है, वह अपने अराध्य-देव की लीला "रामलीला" मनाने के लिए दूसरों की ललाट-रेखा और ओठों की हंसी की प्रतीक्षा करती है, जो समाज अपने आप को मृत्युञ्जय दयानन्द का अनुयायी बताता है, जो प्रत्येक बात में उस ऋषि का, जिसने तलवार की धार, विष के प्यालों और सरकारी शासकों के कोप की दृष्टि की चिन्ता नहीं की और कर्तव्य पथ में सदा आगे ही आगे बढ़ता गया, वह समाज अपने जन्म सिद्ध अधिकारों के प्रयोग के लिए शासकों की इच्छा और प्रसन्नता का भिखारी हो यह क्या समय का फेर नहीं तो क्या है ? जिस पर चलने का साहस कोई न करता था आज वो बुझी राख और सूखा नाला समझा जाकर पादाक्रान्त हो रहा है। यह सब क्यों होरहा है, क्यों कि हम ने इसको

"अवन्ध्य कोपस्य विहन्तुरापदां
भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।
अमर्ष शून्येन जनस्य जन्तुना न
जातहार्देन न विद्विषादरः ।"

भुलादिया है। अपने हृदय की दुर्बलता को, अपने अन्दर छिपी आत्म—भीरुता को, हृदय में छिपी जीवन की ममताजन्य कायरता को छिपाने के लिए कब तक कानूनों के सामने मौन व्रत धारण कर शीश-झुकाए, अपने अधिकारों को कुचलते हुए देखेगें ? हमारी गम्भीर गर्जना पर्याप्त विश्राम पाचुकी, विजय वाहिनी थकावट मिटा चुकी, अब समय आगया है कि हम मेघ निर्मुक्त सूर्य की भांति चमक उठें, आक्रमणोद्यतवीर केसरी के समान हुंकार उठें। नवयुवको ! उधर देखो, केश बिखराए माता खड़ी हुई अङ्गुली के संकेत से कह रही है—"यदर्थं क्षत्रिया सूते तस्य कालोऽयमागतः ।" वीर जननी ने जिस के लिए कोख में धारण किया था, ६ मास तक असह्य प्रसव वेदना सही थी, वह समय आगया है। अपने धर्म और अधिकारों की रक्षा के लिए उद्यत होओ। नागपुर में झण्डे के सत्याग्रही भाइयों ने मार्ग दिखा दिया है। जन नायक तुम्हारे बल वीर्य को देख कर तुम्हें अपनायंगे और तुम्हरा नेतृत्व ग्रहण करेंगे। अब चुप बैठने का समय नहीं है, न सभा करके विरोध करने का है, न डेपुटेशन लेजाकर सलाह मशाविरा करने का है, न समय टालने का है, पर अधिकारों की रक्षा के लिए प्राणों के उत्सर्ग करने का समय है। उठो और आगे आओ, ऋष्युत्सव की स्मृति में दयानन्द की अमर कीर्ति-पताका को लिए हुए विजय यात्रा के लिए प्रस्थान करो। मङ्गल मयी जननी अपने वरद हस्त के संकेत से यही कह रही है। टिमटिमाते दियों के आलोक में देखो उस मङ्गल मयी मातृ—मूर्ति को और बलिवेदी की ओर प्रस्थान करो।

बम्बई में हड़ताल

भारतीय व्यापार सम्बन्धी प्रश्नों से परिचय रखने वाले पाठकों को ज्ञात होगा, कि सरकार ने कपड़े पर ३॥ रु० सैकड़ा कर लगा कर ६० लाख रुपया वार्षिक आमदनी का उपाय किया था।

एसेम्बली में कई बार अर्थ सचिव सर बासिल को इस कर से होने वाली हानि दिखला कर सावधान किया गया किन्तु उसका कुछ परिणाम न निकला। साढ़े तीन सैंकड़ा कर बढ़ जाने के कारण बम्बई के कपड़े के कारखानों के मालिकों ने घाटे को पूरा करने के लिए व्यवसायों के मेहनताने में ११॥ सैंकड़ा कमती कर दिया जिस से बम्बई के सब कपड़े के कारखानों में भारी असन्तोष की लहर उत्पन्न होगई। यह असन्तोष बढ़ते २ यहां तक पहुंच चुका है कि अब बम्बई की ८२ मिलों में से एक भी काम नहीं कर रही और डेढ़ लाख मज़दूर बिल्कुल बेकार होगये हैं। जिन दिनों सब मिलें बन्द नहीं हुई थीं और धीरे २ एक मिल पर ताला लगता चला जा रहा था उन दिनों से ही मज़दूर लोग अपने २ घरों को चलने लगए थे। ६०,००० के लगभग मज़दूर अभी बम्बई मे हैं और बाकी सब बाहर जा चुके हैं। इस सारी हड़ताल मे आश्चर्य तथा प्रसन्नता की बात यह है कि मज़दूरों ने सारा कार्य अत्यन्त शान्ति पूर्वक किया तथा किसी प्रकार की शिकायत नहीं होने दी।

इस प्रकार भारत के बड़े भारी व्यवसाय का कम से कम दो, तीन महीने के लिए नाश होगया समझना चाहिये। मिलों के स्वामियों का कथन है कि यदि सरकार साढे तीन सैकड़े का नया कर हटा दे तो वे व्यवसायियों के मेहनताने में कुछ कमी न करेंगे। परन्तु भारतीय सरकार का कथन है कि वह ६० लाख रुपया हाथ से जाने देने के लिये तय्यार नहीं। इस का यह कारण नहीं कि सरकार को आमदनी का बहुत फ़िक्र है, क्योंकि मिलों के बन्द हो जाने से सरकार की आमदनी भी तो बन्द हो जाती है। असली कारण यह मालूम पड़ता है, कि हमारी सरकार भारत के व्यवसाय तथा व्यापार के बढ़ाने में उदासीन ही। इतना ही नहीं, बम्बई की हड़ताल के समय बार २ अपील करने पर भी सरकार के चुप्पी साधे रखने से तो यही अनुमान होता है, कि भारतीय-व्यापार को नष्ट करने मे हमारी सरकार का भी हाथ है। अभी हाल में विलायत में कोले के सम्बन्ध में जो समस्या उपस्थित हुई थी उसे वहां की अनुदार सरकार ने जिस प्रकार निभालिया क्या उसी प्रकार बम्बई की मिलों की समस्या को भारत-सरकार हल नहीं कर सकती थी? सरकार का इस समय एक विशाल व्यवसाय को शान्त-चित्त से सर्वथा नष्ट होते देखना स्थिति को समझने वालों के हृदय में अनेक सन्देह उत्पन्न करता है।

इस समय बम्बई की मिलों में ११ करोड़ रुपये माल पड़ा हुआ है और जब तक वह निकल नहीं जाता तब तक मिलों के बन्द रहने से पूंजीपतियों का तो लाभ ही लाभ है परन्तु इस बीच में व्यवसायियों को जो दुर्गति होगी वह अकथनीय है। डेढ लाख आदमियों का एकदम बेकार हो जाना साधारण बात नहीं है। इस समय सरकार से अधिक आशा रखना भी निरर्थक है क्योंकि भारतीय इतिहास में कोई ऐसा समय नहीं दिखाई देता जब

कि हमारे व्यवसाय के नष्ट होने से उन के नैतिक सिद्धान्तों पर आघात पहुँचा हो। इस समय भी जापान का कपड़ा लगातार भारत वर्ष में आ रहा है और विदेश से आकर हमारे घर में बने हुए माल से सस्ता बिक रहा है परन्तु हमारी सरकार मुक्त द्वार वाणिज्य के सिद्धान्तों का ही राग आलाप रही है। इस अवस्था में भारत के बड़े भारी व्यापार को बचाने का यही उपाय सूझ पड़ता है कि विदेशी माल के बहिष्कार का प्राणपन से प्रयत्न किया जाय और स्वदेशी के व्रत का प्रचार किया जाय। क्या ही अच्छा हो यदि खादी घर २ में पहरी जाने लगे परन्तु यदि लोग उस के लिये तैयार न हों तो कम से कम स्वदेशी के इस्तेमाल में तो किसी की विमति नहीं हो सकती। बम्बई की हड़ताल से हमें समझ लेना चाहिये, कि स्वदेशी का प्रश्न हमारे लाखों भाइयों की रोटी का प्रश्न है और इस का हल करना सामाजिक तथा धार्मिक प्रश्नों से भी अधिक आवश्यक है।

पट परिवर्तन

राष्ट्रीयमहासभा की पटने में २२ सि० को जो बैठक हुई है उस से भारत के इतिहास में नए परिच्छेद का आरम्भ होता है, स्वातन्त्र्य संग्राम में नए युग का आविर्भाव होता है। म० गान्धी के स्थान पर भारत के नेतृत्व की बागडोर वयोवृद्ध पं० मोतीलाल नेहरू ने थामी है। कांग्रेस चर्खा चलाने वालों का संघ न रह कर राजनैतिक संस्था हो गई है, जिसने स्वराज्य दल के कार्य क्रम को अपना लिया है। म० गान्धी को सन्तुष्ट करने के लिए उनके 'तन्तूवाय संघ' को कांग्रेस का अंग मान लिया गया है, पर वह रहेगा स्वतन्त्र। खादी बोर्ड का समस्त रुपया भी उसको सौंप दिया गया है। चार आना वार्षिक चन्दा दे कर कोई भी कांग्रेस का सदस्य बन सकता है। सब के लिए द्वार खोल दिया गया है। खद्दर भी सब समय पहिनना आवश्यक नहीं है, केवल कांग्रेस का कार्य करते हुए ही पहिनना आवश्यक है। कोई अखद्दर धारी सदस्य मत न दे सकेगा यह अड़चन भी पर्याप्त है। दो हजार गज सूत देने वाले भी सदस्य हो सकते हैं। उपर्युक्त बातों ने कांग्रेस का ढांचा बदल दिया है। स्वराज्य दल अब प्रमुख हो गया है। पं० मोतीलाल जी नेहरु ने इस विजय के लिए स्वराज्य दल को बधाई भी दी है। हम भी इस विजय पर स्वराज्य दल को बधाई देते हैं। उपर्युक्त परिवर्तन इस उद्देश्य से किए गए हैं, कि भारत के विभिन्न दलों में एकता हो। इसी कारण म० गान्धी ने आत्मसमर्पण किया है। पर हमें महात्मा जी का यह अपूर्व और दिव्य आत्मबलिदान फल लाता प्रतीत नहीं होता।

स्वराज्य दल को सम्पूर्ण राजनैतिक कार्य करने का अधिकार दिया गया है— यद्यपि नीति में परिवर्तन का अधिकार महासभा ने अपने हाथ में रक्खा है— यह बात नरम और स्वतन्त्र दल वालों के लिए कांग्रेस प्र-

वेश में अब भी अवरोधक है। जो दल प्रमुख हो उसके हाथ में कांग्रेस की सत्ता होनी चाहिए पर किसी दल विशेष का नाम लेकर उसको सम्पूर्ण अधिकार देना उचित प्रतीत नहीं होता। उन सदस्यों के लिए जो न कौंसिल कार्य क्रम में विश्वास रखते हैं न चर्खे में विश्वास रखते है कोई कार्य क्रम कांग्रेस ने उपस्थित नहीं किया है। किसानों और मजदूरों का संगठन तथा प्रवासियों की सहायता यह कार्य क्रम अभी शेष हैं। जो इधर के हैं न उधर के हैं वो क्या एक नया दल स्थापन करेंगे या किसी दल में मिल जायगें यह भविष्य बतायगा। पर स्वराज्य दल को सम्पूर्ण शक्ति देना कांग्रेस के लिए भविष्य में बंधन और विपद् जनक ही सिद्ध होगा।

हम लोग सिद्धान्तों से ऊपर व्यक्ति को रखते हैं। एक व्यक्ति को सन्तुष्ट करने के लिये तथा उसकी साधुता से लाभ उठाने के लिए सिद्धान्तों को ताक पर रख देना हमारे लिए कोई अनहोनी घटना नहीं है। 'तन्तूवाय-संघ' कांग्रेस का अंग भी है और स्वतन्त्र भी है। इसके सदस्य कांग्रेस के क्रीड को न मानने वाले भी बन सकते हैं। इस उपाय से कांग्रेस का लक्ष्य न मानने वाले भी कांग्रेस के सदस्य बन सकते हैं और अपना बहुमत करके क्रीड को बदल सकते हैं। जमींदारों के लिए यह कोई कठिन बात नहीं है। दूसरी ओर स्वराज्य दल का सदस्य वही बन सकता है जो महासभा का सदस्य हो। स्वराज्य दल भी कांग्रेस का एक बाजू है। इन दोनों बाजुओं की रचना में महान अन्तर है। एक राजनैतिक संस्था है तो दूसरी व्यापारिक संस्था। स्वराज्य दल के सदस्य कांग्रेस का अलग चन्दा देते हैं पर 'तन्तूवायसंघ' के सदस्य मुक्त हैं। क्यों न इसी प्रकार किसान संघों के सदस्य भी कांग्रेस के सदस्य बना लिए जांय? व्यापारिक संस्था को राजनैतिक संस्था के साथ जोडना जिस पर उसका नियन्त्रण भी न हो, कांग्रेस के गले में पत्थर बांधना है।

स्वराज्य दल का उद्देश्य वृटिश साम्राज्यान्तर्गत स्वराज्य प्राप्त करना है, पर कांग्रेस ने अभी तक इस को निर्णय नहीं किया। क्या यह अब समझ लिया जाय कि उन्मुक्त स्वाधीनतावादियों के लिए कांग्रेस में जगह नहीं हैं? स्वराज्य दल के हाथ शक्ति सौंप कर कांग्रेस अपने लक्ष्य से भी गिर गई है।

इन परिवर्तनों के फलस्वरूप आज म० गान्धी राजनैतिक क्षेत्र से विदा हो रहे हैं। उनकी वह गम्भीर और वज्र निर्घोष वाणी जिससे ह्वाइटहाल की दीवारें कांपती थीं, चरखे के साथ तान मिलाकर व्यापारिक जगत में मधुर संगीत की तान छेड़ेंगीं। राजनैतिक जगत में अब श्री नेहरू का प्राधान्य होगा। आज से पांच साल पूर्व जहां देश था वहीं लौट आया है। इस पर यदि नरम दल अपनी बुद्धि मत्ता और दूरदर्शिता की डींग मारे तो आश्चर्य क्या? यह परिवर्तन देश को स्वराज्य के निकट ले जायगा,

या दूर यह भविष्य बतायेगा । यदि कांग्रेस ने ग्रामसंगठन किसानों और मजदूरों की समस्याओं को हल करने का बीड़ा उठाया तो समझना चाहिए, कि हम स्वराज्य के निकट जा रहे हैं, वरना कौंसिलो की दलदल में फंसकर परतन्त्रता व्याघ्र को ही निमन्त्रण देना है ।

नवीन राष्ट्र पति

कानपुर में होने वाली अगामी राष्ट्रीय महासभा के राष्ट्रपति पद पर श्रीमति सरोजनी नाइडू को वरण किया गया है । भारत की बुलबुल को यह सम्मान देकर राष्ट्र महासभा ने कार्य से जता दिया है, कि स्त्री और पुरुष का भारत के भावी विधान में समान स्थान होगा । अगामी वर्ष के लिए आप के हाथ में नेतृत्व की बागडोर दी गई है । आप म० गान्धी की भक्त हैं, पर उस दल की कट्टर सदस्या नहीं हैं । स्वराज्य दल के कार्यक्रम के साथ आपकी सहानुभूति है इसको आपने कभी प्रगट नहीं किया है । पटने के निश्चयों के विरुद्ध यह चुनाव सचमुच आश्चर्य जनक है । सम्भव हो यह विरोधाभास ही हो । आपकी वाग्मधुरता प्रसिद्ध है। विभिन्न दलों को एक्य सूत्र में आवद्ध करने में भी आप प्रवीणा है । प्रवासियों की सेवा आपने विगत साल की थी उसी के प्रतिफल में राष्ट्र ने यह सन्मान आप को दिया है । इससे प्रवासी भाइयों का बल बढ़ेगा जिस की इस समय नितान्त आवयकता है। आप के राष्ट्र नायिका होने से प्रवासी भाइयों की विपद् दूर होगी यदि यह आशा की जाय तो कोई अनुचित न होगी। हमें आशा है कि प्रवासी भाइयों की समस्या को भारत व्यापी समस्या बनाने के यत्न में आप कसर न रक्खेगीं । अन्त में श्रीमती जी का हम इस अवसर पर सादर अभिनन्दन करते हैं ।

जगत् जननी उनको सफल करे यह हमारी हार्दिक कामना है ।

साहित्य-वाटिका

दाम्पत्य विज्ञान लेखक श्रीयुत् शिवशंकर मिश्र । मिलने का पता, पाठक एण्ड कम्पनी । मूल्य २ रु० ।

गृहस्थ में पड़ कर भी उस आश्रम के नियमों और उस की बोझल जिम्मेवारियों से हमारे युवक अनाभिज्ञ रहते हैं । प्रत्येक गृहस्थी को अपने नवीन २ परीक्षणों से ही इस विषय का कुछ ज्ञान प्राप्त होता है जो उसे बहुत महंगा पड़ता है । ऐसी अवस्था में 'दाम्पत्य विज्ञान' जैसी पुस्तक के पढ़ लेने से गृहस्थ की तैयारी करने वाले दम्पति अनेक कठिनाइयों से बच सकते हैं । इस पुस्तक में गृहस्थाश्रम सम्बन्धी प्रायः सभी आवश्यक विषयों पर प्रकाश डाला गया है। ऐसे नाजुक विषय को ग्रन्थकर्ता ने बहुत उत्तमता से निभाया है ।

जनन-विज्ञान—लेखक तथा

[illegible] Registered No A 1340

पौष १९८२] [दिसम्बर १९२५

ओ३म्

सन्तति-शास्त्राङ्क

[स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र]

मुख्य संपादक
प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय सूची

विदेश से ४) एक प्रति का ।=) वार्षिक मूल्य ३)

वर्ष २, अङ्क ७]   मास, पौष   [पूर्ण संख्या १६

अलंकार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

'सन्तति-शास्त्र'—विशेषाङ्क

* सङ्कल्प *

हे प्रेममय प्रभो ! तुम्हीं सब के आधार हो ।
तुम को परम पिता प्रणाम बार बार हो ॥ १ ॥
ऐसी कृपा करो कि हम सब धर्मवीर हों ।
वैदिक पवित्र धर्म का जग में प्रचार हो ॥ २ ॥
सन्देश देश देश में वेदों का दें सुना ।
समभाव और प्रेम का सब में प्रसार हो ॥ ३ ॥
असहाय के सहाय हों उपकार हम करें ।
अभिमान से बचें, हृदय निर्भय उदार हो ॥ ४ ॥
फूले फले संसार में यह रम्य वाटिका ।
कर्त्तव्य का अपने सदा हम को विचार हो ॥ ५ ॥
स्वाधीनता के मन्त्र का जप हम सदा करें ।
सेवा में मातृभूमि की तन मन निसार हो ॥ ६ ॥

नोटः—गुरुकुल में अध्ययन के पूर्व यह गीत गाया जाता है

'युजैनिक्स' द्वारा देश का सुधार

(ले०—प्रोफ़ेसर सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार, गुरुकुल कांगड़ी)

'स्थूल-संसार' (Matter) की उत्पत्ति 'सूक्ष्म-विचार' (Mind) से हुई है—'प्रकृति' को वर्तमान रूप देने वाला 'परमात्मा' है। लेख लिखने से पहले, वही लेख, विचार रूप से, मन में उपस्थित हो जाता है। भौतिक जगत्, एक 'इच्छा' का, 'मानसिक-शक्ति' का उत्पन्न किया हुआ है। यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है। जिस की 'इच्छा-शक्ति' जितनी प्रबल होती है, उस का उत्पन्न किया कार्य भी उतना ही ठोस तथा दृढ़ होता है। हल्की 'इच्छा-शक्ति' द्वारा हल्के काम उत्पन्न होते हैं। प्रकृति तो आत्मा की दासी है परन्तु मुग्ध-आत्मा दासी ही के मोह-जाल में अपने स्वरूप को भुला देता है। परिणाम यह निकलता है कि जैसा आत्मा चाहता है वैसा नहीं होता, प्रकृति के इशारे पर आत्मा नाचने लगता है, प्रकृति के बन्धन को अपने बन्धन समझने लगता है, अपनी शक्ति को सर्वथा भुला देता है।

हमें दुःख इसीलिये होता है क्योंकि हम आत्मा के 'आत्म-तत्व' को भुला देते हैं। हम जानते हैं कि हम विपरीत परिस्थितियों को छोड़ नहीं सकते, उन में पड़े २ अपने भाग्यों को कोसने लगते हैं; उस समय हम यह सर्वथा भूल जाते हैं कि हमारे भीतर यदि 'वास्तविक-इच्छा' हो तो हम 'इच्छा-शक्ति' से परिस्थितियों को बदल सकते हैं, उन्हें अपने अनुकूल बना सकते हैं। इस समय जो कुछ हमारे सन्मुख है वह भी अपने राम का ही बनाया हुआ है, और आगे जो कुछ बनेगा वह भी किसी दूसरे का किया हुआ न होगा। आत्मा शक्ति का भण्डार है, वह जैसा चाहे प्रकृति को नचा सकता है; वह तो खिलाड़ी है, मृत-प्रकृति का जो खिलौना चाहे बना कर खेलता है। "आज जो कुछ है, वह मेरा बनाया हुआ है, कल जो कुछ होगा वह भी मेरा ही बनाया होगा"—जो इस सचाई को जानते हैं वे 'आत्मतत्व' के यथार्थ स्वरूप को समझ सकते हैं और प्रकृति-गैय्या के थनों से जो कुछ चाहें दुह सकते हैं। आत्मा की इच्छा चाहिये, प्रबल इच्छा चाहिये, आत्मा स्वयं इच्छा-स्वरूप बन जाना चाहिये, फिर प्रकृति का कोई बन्धन उस की शक्ति के सन्मुख टिक नहीं सकता।

यदि यह सब कुछ ठीक है तो संसार की विषम समस्याओं का भारी प्रश्न हल हो जाता है। दुनियाँ में हम जैसा चाहते हैं वैसा नहीं है। क्यों? क्योंकि शायद हम वैसा चाहते ही नहीं हैं और यदि चाहते हैं तो शायद जैसी अवस्थाएँ इस समय मौजूद हैं उन के लिये हम इतनी चाहना कर चुके हैं कि, उस अपने बनाये को बदलने के लिये, उतनी ही प्रतिकूल-चाहना की ज़रूरत है। 'आत्म-शक्ति' ने वर्तमान को बनाया है, वही इसे बदल भी सकती है।

हमारा देश परतन्त्र है, हमें अभी

जगह दुत्कारा जाता है ! इस में कारण हमारा ही 'आत्म-तत्व' है । इस समय देश में स्वतन्त्र होने की इच्छा है, सारी जाति का 'आत्म-तत्व' इस उत्कट इच्छा के आवेग में मानो ज्वर से पीड़ित सा हो रहा है, परन्तु फिर भी आशा की रेखा दृष्टि-गोचर नहीं होती । इस का कारण भी हमारी इच्छाका बल-हीन, तत्व-हीन और सत्व-हीन होना है। हमारा 'आत्म-तत्व' उतना बली नहीं जो प्रतिकूल परिस्थितियों के टुकड़े २ कर उन्हें चकनाचूर कर सके। परन्तु 'आत्म-तत्व' की इस हीनावस्था के हमीं कारण हैं, हम ने उसे ठोस बनाने का कभी हार्दिक उद्योग नहीं किया।

'आत्म-तत्व' ठोस बन सकता है, परन्तु यह काम लैक्चरों से नहीं होता, पुस्तकों से नहीं होता सेवा-समितियों और औषधालयों से नहीं होता, स्कूलों और कालेजों से नहीं होता। इन सब का अपना २ महत्व ज़रूर है, 'आत्म-तत्व' के ठोस होने में ये सहायक हैं, परन्तु 'आत्म-तत्व' अथवा 'आत्म-शक्ति' को बल-युक्त, सत्व-युक्त बनाने का उपयुक्त समय वह है जब कि उस का इस प्राकृतिक संसार में आह्वान किया जाता है। माता-पिता ने जिन आत्माओं को किन्हीं ख़ास उद्देश्यों से अपने घर में निमन्त्रित किया है वे आत्माएँ पूरी तैय्यारी से आती हैं, जिस काम के लिये उन की आराधना की गई है उसे पूरा करने के लिये अपने सारे हथियार साथ लाती हैं। वे काम को हाथ लगाते ही उसे सुधार देती हैं। बिगड़े काम को सुधारने के लिये चलते-फिरते किसी आदमी को बुला लेने से काम के अधिक बिगड़ने की सम्भावना रहती है। इस सचाई को हम अभी नहीं समझे। यदि हमें यह समझ आ जाय तो हमें मालूम पड़ जाय कि क्यों आज हम स्वतन्त्रता का शोर करते २ परतन्त्रता की बेड़ियों में अधिकाधिक जकड़े चले जा रहे हैं, क्यों एकता का मन्त्र जपते २ भी आपस में एक दूसरे का सिर फोड़ रहे हैं। लोग कहते हैं कि इतिहास अपने को दोहराया करता है। बिलकुल ठीक है। हमारा तो यह विचार है कि २०-२० या २५-२५ वर्ष के बाद प्रत्येक देश या जाति में वही पुरानी लहरें फिर से फूटती दिखायी देती हैं। आज भारत वर्ष की अवस्था देख लीजिये। पचीस साल पहले जो वातावरण था, अब फिर वही आ गया दीख पड़ता है। हिन्दु-मुसलमानों की लड़ाई, आर्य-समाजी सनातनियों के झगड़े, मुसलमानों और आर्य-समाजियों की बहसें, मौड-रेट तथा लिबरल लोगों का राजनीति के क्षेत्र में फिर से चमक उठना—ये सब बातें आज से ठीक २०-२५ वर्ष पहले के भारत के नक्शे को ज्यों का त्यों हमारे सन्मुख ला उपस्थित करती हैं। इस का यही कारण है आज के नौ-जवान जिस समय तैयार हो रहे थे, जब वे अभी माता-पिता के विचार में, उन की इच्छा में, उनकी 'मानसिक-शक्ति' अथवा उन के 'आत्म-तत्व' में थे उस समय उन पर यही लहरें काम कर रही थीं; आज जब वे २०-२५ वर्ष के हुए, सार्व-जनिक जीवन में हिस्सा लेने लगे तो वही

पुराने बीज फूट २ कर निकलने लगे। इसी प्रकार तीन साल पीछे महात्मा गान्धी ने जो लहर चलायी थी, जिस से देश का एक २ पत्ता भी 'स्वराज्य'-'स्वराज्य' चिल्लाने लगा था, वह अभी तो कामयाब नहीं हुई क्योंकि अभी तक जो 'आत्म-तत्व' देश में मौजूद था वह महात्मा गान्धी के कार्य को पूरा करने के लिये तैयार ही नहीं किया गया था। हां, इस समय जो लहर चली उस का यह फल अवश्य निकलेगा कि आज जो सन्तानें उत्पन्न हुई हैं वे २०-२५ वर्ष उपरान्त जब कार्य-क्षेत्र में अवतरण करेंगी तब देश के लिये हम लोगों से अधिक स्वार्थ-त्याग करने के लिये तैयार होंगी। महात्मा गान्धी का उद्योग निष्फल नहीं हुआ, वह फल लायगा और अवश्य लायगा; परन्तु कब? जब कि जिन माता-पिताओं की रग २ में देश-भक्ति का रस भर गया था उन की सन्तानें आज से २०-२५ साल पीछे कार्य-क्षेत्र में उतरेंगी। इस दृष्टि से यह समझना भूल है कि गुलाम देश के लोगों को सन्तानोत्पत्ति का कार्य बन्द कर देना चाहिये। गुलाम देशों में तो जब आज़ादी हासिल करने की उत्कट इच्छा हो, और आज़ादी हाथ में आ आ कर निकल जाती हो, उस समय, आज़ादी के लिये मर मिटने की इच्छा रखने वालों को ही सन्तानोत्पन्न करनी चाहिये। वे सन्तानें देश के बन्धनों को अँगूठे से मसल कर मिटा देंगी। इतिहास अपने को २०-२५ साल के बाद दोहराता रहता है, इस का यह अभिप्राय नहीं कि दुनियाँ का इतिहास इस से आगे बढ़ ही नहीं सकता। जैसा ऊपर कहा जा चुका है, 'आत्म-तत्व' में असीम शक्ति है। वह सदियों के इतिहास की पक्की रेखाओं को भी हाथ फेर कर मिटा सकता है। क्योंकि 'आत्म-तत्व' की शक्ति का हम उपयोग नहीं लेते इस लिये, परिस्थितियें जिधर चाहती हैं, हमें धकेले लिये जाती हैं। परिस्थितियों से ऊपर उठ जाना ही आत्मा के वास्तविक स्वरूप को समझना है। आत्मा जैसा चाहे दुनियां को बना सकता है। हम चाहते नहीं, इसी लिये हमारे इतिहास का चक्र २०-२५ साल की परिधि पर घूमता रहता है। जब हम यथार्थ में चाहते हैं, तब संसार का इतिहास भी बदल जाता है, वह पीछे जाने की बजाय आगे बढ़ता है; गिरने की बजाय उठता है। इस समय हमारे इतिहास में पिछले २०-२५ वर्ष के समय की लहरें उमड़ पड़ी हैं परन्तु यदि इस समय 'आत्मशक्ति' से काम लिया जाय, यदि इस समय जिन आत्माओं को निमन्त्रण दिया जा रहा है उन से ईर्षा-द्वेष से मुक्त हो कर आने की आराधना की जाय तो आज से बीस-पच्चीस वर्ष के बाद का भारत इस गन्दे, बदबूदार इतिहास के दोहराये जाने से बच सकता है और उन्नति के मार्ग में आगे पग रख सकता है।

देश गिर गया है और दिनोंदिन गिरता चला आ रहा है। सम्भालने की इच्छा है परन्तु सम्भलता नहीं। इस का कारण 'आत्म-तत्व' का निस्सत्व, निस्तेज और मूर्छित हो जाना है। हमारे देश का 'आत्म-तत्व', 'प्रकृति-तत्व' से दब रहा है। 'आत्म-तत्व'

का सञ्चय होना चाहिये, तभी इस हत-भाग्य देश का कुछ बन सकता है। इस सञ्चय के लिये जङ्गलों में भाग कर सँसार छोड़ने की ज़रूरत नहीं, दूसरे प्रकार के ढोल पीटने की आवश्यकता नहीं; केवल माता-पिता के सन्तानोत्पत्ति के भारी कार्य की ज़िम्मेवारी समझने की ही आवश्यकता है। अफ़सोस! हमारे नव-युवक इस उत्तरदायित्व के साथ मखौल करते हैं और इस के बदले में परमात्मा हमारे देश के साथ मखौल करता है! आज युवक-समाज सन्तानोत्पन्न करने को ज़िम्मेवारी को समझने लगे तो देश का खण्डित होता हुआ 'आत्म-तत्व' संचित हो सकता है और गिरता हुआ देश सम्भल सकता है। हम जैसी आत्माएँ चाहते हैं, देश में आती हैं, और जैसी आत्माओं से चाहें देश को भर सकते हैं। इस सचाई का प्रचार करने के लिये प्राचीन ऋषियों ने संस्कारों की प्रथा को प्रचलित किया था और इसी का वर्तमान-युग में युरूप में प्रचार करने के लिये 'सन्तति-शास्त्र' (Eugenics) का उदय हुआ है। युजैनिक्स का कथन है कि जिस प्रकार प्राचोन जातियों और सभ्यताओं का, उन में जीवित रहने का सामर्थ्य न होने के कारण, नाश हो गया उसी प्रकार हमारा भी नाश हो जायगा, यदि हम अपनी परिस्थिति तथा पैतृक संस्कारों को न सुधारेंगे। संस्कारों की प्रणाली भी इसी उद्देश्य से जारी की गई थी। संस्कार-प्रणाली प्रचलित करने वालों का, 'आत्म-तत्व' के प्रकृति-तत्व से अधिक बलशाली तथा सामर्थ्यवान होने पर पूर्ण विश्वास था। आत्मा का प्रकृति पर, मन का शरीर पर सीधा असर होता है। इसी विश्वास के आधार पर वे 'आत्म-तत्व' को उन्नत कर पैतृक-संस्कारों तथा परिस्थितियों को सुधारने का प्रयत्न करते थे। युजैनिक्स का प्रचार करने वाले पाश्चात्य-विद्वान् परिस्थितियों (Environments) तथा पैतृक संस्कारों (Heredities) से बना हुआ मनुष्य को समझते हैं और इन्हीं के सुधार का प्रयत्न करते हैं, संस्कारों का प्रचार करने वाले ऋषि परिस्थितियों तथा पैतृक-संस्कारों को समझते हुए उन दोनों के भी कारण 'आत्म-तत्व' को शक्ति से सञ्चित करने का प्रयत्न करते थे। उन का 'सन्तति-शास्त्र' उत्कृष्टतर सन्तति-शास्त्र (Higher Eugenics) था जिस में परिस्थिति, पैतृक-संस्कार तथा आत्मा—तीनों को एक दूसरे से ऊँचा २ कारण समझा जाता था।

'आत्म-तत्व' के 'प्रकृति-तत्व' पर सीधे प्रभाव को (Direct action) आधुनिक विज्ञान के परीक्षणों में भी स्वीकार किया जा रहा है। मैकफ़ैडन महोदय अपने 'एनसाइक्लो पीडिया ऑफ़ फ़िज़िकल कल्चर' के २६६४ पृ० पर कुछ ऐसे ही परीक्षणों का वर्णन करते हैं। प्रो० एलमर गेट्स ने एक परीक्षण-नलिका में रासायनिक द्रव डाल कर कई व्यक्तियों से उस में फूंक मरवाई। वह द्रव जैसे का तैसा बना रहा, उस में कुछ परिवर्तन न आया। फिर उन के मनोभावों को उत्तेजित किया गया और फिर उसी

द्रव में फूंक मरवाई गई। भिन्न २ आवेशों की फूंक से द्रव का रंग—नीला, बैंजनी, लाल, हरा, आदि रूपों में बदलता चला गया। इस से ज्ञात होता है कि मानसिक उद्वेगों से शरीर में भी भिन्न २ रासायनिक परिवर्तन अवश्य होते होंगे। डा० हैक ट्यूक महोदय एक माता का ज़िक्र करते हैं जिस का दूध क्रोध के कारण विष हो गया। पागल कुत्ते का थूक इसी कारण ज़हर हो जाता है। एक मृगी होती है जिस का नाम मानसिक-मृगी (Psychic epilepsy) है। यह केवल मनुष्य के मन की ख़ास अवस्था से उत्पन्न हो जाती है। कुछ वर्ष हुए प्रो० पैवलो ने कुत्तों पर बड़े रोचक परीक्षण किये। उस ने सिद्ध किया कि जब भूखे कुत्ते को भोजन की गन्ध आने लगती है तभी पेट की ग्रन्थियें रस छोड़ना शुरु कर देती हैं और जब कुत्ते को भूख न हो तब भोजन के अन्दर पहुंच जाने पर भी उन में से रस नहीं निकलता। प्रो० जीन फ़िनोट अपनी पुस्तक 'दी प्रोलौङ्गेशन आफ़ लाइफ़' में लिखते हैं कि यदि हम ने मृत्यु का नाम न सुना होता तो हमारी मृत्यु भी शायद ही होती। लोग हमें बीमार कह कह कर बीमार और बुढ़ापे का नाम ले ले कर बूढ़ा कर देते हैं। जब आदमी पचास वर्ष का हो जाता है तब वह लोक-प्रथा के अनुसार अपने को बूढ़ा समझने लगता है। समझते २ बूढ़ों की सी आदतें ग्रहण करने लगता है। काम-धन्धा छोड़ देता है, एक ही जगह बैठा रहता है। जीवन का परिणाम मृत्यु है ही परन्तु यदि हम बुढ़ापे और मृत्यु का नाम सुन कर काम-धन्धा छोड़ कर कबर में पाँव लटका कर ख़ुद न बैठ जाँय तो कम-से-कम मौत हम पर इतनी जल्दी न झपटे। उपवास-चिकित्सा के प्रारम्भ-कर्त्ता डा० ड्यूई का कथन है कि हमें आत्मा का शरीर पर असर समझने के लिये यह कल्पना करनी चाहिये कि आत्मा का शरीर के साथ किन्हीं विद्युत् की तारों से सीधा सम्बन्ध है। आत्मा की जैसी अवस्था होती है वैसा ही शरीर पर प्रभाव पड़ता रहता है। स्फूर्तिमान्, सबल आत्मा उन तारों द्वारा स्फूर्ति की विद्युत् का सञ्चार करती रहती है और अर्धाङ्ग रोग से पीड़ित आत्मा शरीर को भी शक्तिहीन बना देती है।

जब 'मानस-तत्व' का शरीर पर इतना असर होता है तब उत्तम संस्कारों द्वारा 'आत्म-तत्व' को उन्नत करना क्या कोई कठिन कार्य है? वास्तव में देश को उन्नत करने का कार्य इसी मार्ग पर चल कर किया जा सकता है। ऋषि दयानन्द ने इसी दृष्टि से अपने महान् ग्रन्थ 'संस्कार-विधि' की रचना की थी। दुःख इसी बात का है कि हमारे भाई संस्कारों को, मिठाई बाँटने मात्र का एक उत्सव समझते हैं। संस्कारों की आवश्यकता 'आत्म-तत्व' को उन्नत करने के लिये है। इस समय देश में जितने कार्य हो रहे हैं उन में 'सन्तान-शास्त्र' की कोई स्थान नहीं है। ऋषि दयानन्द ने इस सम्बन्ध में देश के सन्मुख एक क्रियात्मक-प्रोग्राम रखा था

जो ख़ास कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले नव-युवक तथा नव-युवतियों के लिये था। इस प्रोग्राम की तरफ़ ध्यान न देकर 'सत्यार्थ-प्रकाश' रट लेने मात्र से ऋषि-दयानन्द का मिशन पूरा नहीं हो सकता। पुराणों के गन्दे स्थलों को याद करते २ हिन्दू-लोग तो डूबे ही थे, कुछेक आर्य-समाजियों ने भी उन्हें रट २ कर अपना दिमाग़ गन्दा करना शुरु किया हुआ है। दूसरे की गन्दगी को दिखाने के लिये जो दुनियाँ-भर का गन्द अपने घर में इकट्ठा करता रहता है वह साफ़ नहीं कहला सकता। ऋषि दयानन्द का संस्कार-विधि लिखने का उद्देश्य, पुराणों के खण्डन कराने की अपेक्षा कहीं अधिक महत्व का था। अब समय आ गया है कि हम वाह्यात् बातों में समय न गँवा कर अपनी जाति के वास्तविक अभ्युदय तथा श्रेय के लिये नवयुवकों को तय्यार करें। जाति की नस्ल के सुधार के प्रश्न को एक जीवित-जागृत प्रश्न बना लें और होनहार पुरुषों तथा स्त्रियों का ध्यान इसी एक केन्द्र पर आकर्षित कर लें।

"इस समय 'युजैनिक्स' के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिये भारत की संम्पूर्ण युवक-शक्ति के खप जाने की ज़रूरत है। जगह २ इन सिद्धान्तों को फैलाने के लिये नई नई सभा-सोसाइटियों के बनने की आवश्यकता है। इसी विषय पर पुस्तकों, पत्रों को प्रकाशित कर युवक-समाज का ध्यान इस तरफ़ आकर्षित किया जा सकता है। जितने पुरुष तथा स्त्रियें जाति के इस 'मूल-सुधार' के कार्य में अपने जीवन को अर्पण कर देंगे उन सब का नाम भविष्य-भारत के उज्वल इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जायगा"। इस कार्य को क्रियात्मक जामा पहनाने के लिये अनेक विघ्न-बाधाओं का मुकाबिला करना पड़ेगा परन्तु जो आपत्तियों का छाती खोल कर सामना करेंगे वे कलेवर छोड़ कर देश के भाग्याकाश में आशा, प्रतीक्षा तथा उत्सुकता भरे नेत्रों से टिमटिमाते, चमकते तारे की तरह सदा देखे जायँगे। हमारा यह पूर्ण-विश्वास है कि इसी में अपनी जाति का भला है। इसी उद्देश्य से 'अलंकार' के इस अङ्क में 'सन्तति—शास्त्र' सम्बन्धी (Eugenics) लेखों का संग्रह किया गया है। हमें पूर्ण आशा है कि इस अङ्क के लेखों से नव-युवक-समाज पूरा लाभ उठायेगा। साथ ही हम यह भी निवेदन करना चाहते हैं कि जो भाई इस उद्योग में हाथ बँटाना चाहते हों वे हम से पत्र-व्यवहार करें और इस विषय को क्रियात्मक बनाने में कुछ निर्देश देना चाहें तो दें। हम भी इस विषय को क्रियात्मक बनाने की स्कीम तैयार कर रहे हैं जो पूरी हो जाने पर पाठकों के सन्मुख उपस्थित करेंगे। परन्तु सब प्रकार की स्कीमों के चलने से पहले यह आवश्यक प्रतीत होता है कि इस प्रश्न को जो व्यक्ति आवश्यक समझते हों उन सब का एक संघ तैयार हो जाय!

भारत में 'सन्तति-शास्त्र' की आवश्यकता

(लेखक— प्रोफ़ेसर एन. एस-फड़के एम. ए.)

सांझ का समय था, बम्बई का शहर था। ठाकुरद्वार रोड की हालत ऐसी थी, मानो किसी बीमार आदमी की तेज़ नाड़ी 'धक-धक' चल रही हो। खटाखट गाड़ियों के भागने से सारी सड़क काँपती सी मालूम पड़ती थी। ट्राम, टमटम, मोटर की भाग—दौड़ में से साफ़ २ बच निकलने के लिये राही को सारी अक्ल खर्च करनी पड़ती थी। उस भीड़ में चार पाँच आदमी नङ्गे सिर आते दिखाई दिये। वे धीरे २ चल रहे थे, उन का आधा शरीर नङ्गा था, आँखें ज़मीन में गड़ी हुई थीं— इसे देख कर यह अनुमान करना कठिन न था कि वे सब किसी भारी विपत्ति के बोझ से दब गये हैं। यदि अब भी किसी को इन के भारी सङ्कट का ज्ञान न हुआ हो तो, देखो, उस की आँखें खोलने के लिये इन सब के आगे २ एक व्यक्ति चला जा रहा है। उस के नङ्गे हाथों पर एक मृत बालक का शरीर है। उस पर सफ़ेद कपड़ा पड़ा हुआ है। इस व्यक्ति के हाथों का बोझ उस के हृदय के असीम बोझ का सूचक है। वह गुम-सा हुआ, दायें-बाँयें रास्ता बनाता हुआ आगे बढ़ता, चला जा रहा है परन्तु उस का मन जीवन के दुःख-सागर की लहरों में गोते खा रहा है। ओह ! किन २ वर्णनातीत दुःख के विचारों की भीड़ उस के मन में लगी होगी ? उस के ही क्या, कौन आँखें और दिल रखने वाला व्यक्ति बिना सन्ताप की आह भरे इस के पास से निकल सकता है ? इस में सन्देह नहीं कि बम्बई जैसे शहर में एक बच्चे को श्मशान में जाते हुए देखना अत्यन्त साधारण घटना है, कइयों के हृदयों में तो इस का क्षणभर भी असर नहीं होता, परन्तु जब कभी यह घटना मनुष्य का ध्यान आकर्षित कर लेती है, तभी आत्मा के अन्तस्तल से असह्य वेदना की आह निकल पड़ती है। हृदय के टुकड़े २ हो जाते हैं और सैंकड़ों विचार मनुष्य के मन को सताने लगते हैं।

क्या भारत के अतिरिक्त, परमात्मा के राज्य में, दूसरा भी कोई देश है, जहां बालकों की मृत्यु संख्या इतनी अधिक हो ? भारतीय मनुष्य-गणना की रिपोर्ट के पन्नों को पलटते हुए बच्चों की मृत्यु-संख्या को देख कर हृदय काँप उठता है। बम्बई में प्रति हज़ार ५५६, कलकत्ता में ३८६, रंगून में ३३०, मद्रास में २८२, कराची में २४१ और दिल्ली में २३३ बच्चों को काल का ग्रास बनना पड़ता है। १९२१ की रिपोर्ट में लिखा हुआ है कि भारत की सम्पूर्ण मृत्यु-संख्या में से पाँचवाँ हिस्सा बच्चों का होता है और इन बच्चों में से भी पांचवाँ हिस्सा एक वर्ष की आयु से पहले पहल ही यम-दंष्ट्रा में पिस जाता है।

बच्चों की मृत्यु का ही रोना क्यों रोयें, हम भारतीयों की जीवन यात्रा की कहानी क्या कम दुःख-पूर्ण है ?

१८६१ की अपेक्षा हमारी जन-संख्या में वृद्धि हुई है। उस समय हमारी संख्या २८,७३,१४,६२६ थी, १६२१ में बढ़ कर ३१,८६,४२,४८० हो गई। इन तीन वर्षों में ३ करोड़ से अधिक की वृद्धि हुई। इस अवस्था को देख कर शायद यह विचार उत्पन्न हो कि भारतीयों की जाति पहले से ज्यादह तन्दुरुस्त, ज्यादह उम्र की ओर अधिक समृद्ध हो गई होगी परन्तु घटना-चक्र इस से ठीक उलटा उत्तर देता है। हम में से कितने दीर्घ- जीवी हैं? साठ वर्ष की आयु वाले को हम आश्चर्य की दृष्टि से देखने लगते हैं। तीस-चालीस वर्ष पार करते ही हम अपने को बूढ़ों में गिनने लगते हैं। इंग्लैण्ड में साधारण आयु ४८३ वर्ष की है, आस्ट्रेलिया में ५५, जापान में ४३.६७ और भारत वर्ष में २३ वर्ष से भी कम! नीचे दिये नक्शे से यह ज्ञात होगा कि भिन्न २ देशों में दस हज़ार में से कितने पुरुष तथा स्त्री बीस वर्ष से ऊपर तक जीवित रहते हैं:—

१०,००० में से २० वर्ष के ऊपर जीने वाले

देश	पुरुष	स्त्री
भारतवर्ष	४५१६	४५१९
आयर्लैण्ड	७७६७	......
नारवे	७७७०	७९९७
पश्चिमी आस्ट्रेलिया	७७२७	८००५

निम्न चित्र-पट से यह ज्ञात होगा कि भारतवर्ष की प्रति सहस्र मृत्यु-संख्या की अन्य देशों की इस प्रकार की संख्या के साथ क्या तुलना है:—

प्रति सहस्र मृत्यु-संख्या की तुलना

आस्ट्रेलिया	इंग्लैण्ड	जापान	भारत
१७.५	२०	२२.५	४३.५

इस तुलना को देख कर किस का दिल नहीं पसीजता? 'मृत्यु' का नाम सुनते ही जो हृदय-वेधी-वेदना उत्पन्न होती है उसका यहाँ ज़िक्र नहीं। आख़िर मरना सभी को है। कौन ज़िन्दगी का ठेका लेकर आया है? परन्तु जब हम नन्हें २ बच्चों को चमेली की अध खिली कलियों की तरह, पँखड़ियें खोलने से पहले ही मृत्यु के पाले से मुरझाया हुआ देखते हैं, जब देश की उभरती हुई आशाओं के एकमात्र आधार होनहार नवयुवकों तथा युवतियों को प्रातः काल के सितारे की तरह डूबता हुआ देखते हैं तब कौन पत्थर दिल उबलते हुए आँसुओं की धारा को रोक सकता है?

परन्तु बच्चों, नौ-जवानों तथा नवयुवतियों के शवों की अगणित संख्या को श्मशान में जलता हुआ देखने मात्र से देश की पूरी दुर्दशा का चित्र आँखों के सामने नहीं आता। मरने वालों को छोड़ कर यदि जीने वालों का किस्सा सुना जाय तो वह भी ढारस बँधाने वाला नहीं है। महाभारत के समय के हमारे पूर्वजों की जिस शारीरिक अवस्था का वर्णन पाया जाता है, शायद उसे कथानक मात्र समझा जाय इस लिये हम उस समय की शारीरिक अ-

वस्था का चित्र पाठकों के सामने नहीं खींचते । परन्तु आज से ३०० वर्ष पूर्व भी हमारे ही पूर्वजों ने जो कार्य किये वे ही हमें असम्भव से जान पड़ते हैं। इस समय के बढ़िया से बढ़िया लोग, अब से एक नस्ल के पहले के पूर्वजों के सामने वामनावतार दिखाई देते हैं और आगे जो १५—२० साल के बाद नस्ल आने वाली है उस के आप स्कूलों और कालेजों में जाकर स्वयं दर्शन कर सकते हैं, उनके लिये कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। प्रत्येक आने वाली सन्तति अपने पूर्वजों से कमज़ोर होती चली जा रही है और यदि यही सिलसिला जारी रहा तो यह ऋषियों, महर्षियों की पुण्य-भूमि एक शताब्दी बाद लिलिपुटियन्स से भर जायगी। जिन दिनों हमारे कवि, उभरी हुई छाती, भरी हुई गर्दन, विशाल भाल और तेजस्वी वदन के गीत गाया करते थे वे दिन गये, अब तो कवियों के गीत पिचकी हुई गालों, धँसी हुई आँखों और तृण-समान भुजाओं का ही वर्णन कर सकते हैं। इस अवस्था में, अपने देश के भविष्य को सोचते हुए निराशा के बादलों का उमड़ पड़ना स्वाभाविक है। हम कहाँ जा रहे हैं? किस सर्व-नाश की तरफ़ हमारे कदम बढ़ रहे हैं? हम 'होम-रूल' का शोर मचाते हैं, स्वराज्य की नई २ स्कीमें घड़ते हैं, उन स्कीमों को पूर्ण करने के लिये राजनीति के युद्ध-क्षेत्र में कड़ी से कड़ी लड़ाई लड़ने के लिये भी तैय्यार हो जाते हैं परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि जब तक कोई जाति शारीरिक सम्पत्ति में धनी नहीं होती तब तक स्वतन्त्रता के युद्ध में विजय प्राप्त करने का नाम लेना अपना उपहास करवाना है। हो सकता है कि वर्तमान अवस्थाओं में हमारी जाति शस्त्रों द्वारा क्रान्ति कर स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं कर सकती, अब शान्तिमय-क्रान्ति की ही आवश्यकता है, परन्तु यह निश्चित समझना चाहिये कि जब तक हमारी शारीरिक अवस्था इस प्रकार हीन रहेगी तब तक शान्तिमय उपायों से भी हमें स्वराज्य-प्राप्ति न होगी और यदि हो भी जायगी तो उस स्वराज्य की हम लोग रक्षा नहीं कर सकेंगे। किसी जाति का अमूल्य धन उस की शारीरिक सम्पत्ति होती है, इस दृष्टि से यदि हम अपने हतभाग्य देश के भविष्य पर विचार करें तो कभी २ अपशगुन प्रकट करने वाले प्रश्न हृदय में उठने लगते हैं और विचारशाली व्यक्ति सोचने लगता है कि कहीं हमारा प्यारा भारत दुनियाँ के तख़्ते से सर्वथा ही तो न मिट जायगा?

शायद कइयों को ये विचार न सताते हों। वे समझते हों कि हम लोग कमज़ोर हैं और दिनोंदिन कमज़ोर हो रहे हैं तो क्या, हमारे बच्चों की संसार भर से मृत्यु—संख्या अधिक है तो क्या, हमारा भारत कभी नष्ट नहीं होगा क्योंकि मौत के साथ यहां पैदायिश भी उसी अनुपात में बढ़ रही है। हमारे यहां दुनियाँभर से ज़्यादह मौतें होती हैं, परन्तु बच्चों के पैदा होने की संख्या भी हमारे यहाँ ही सब से ज़्यादह है। मनुष्य-गणना की रिपोर्ट से पता चलता है कि १९१५ से १९२० में भारत

भर में प्रति सहस्र ३५.६७ उत्पत्ति संख्या थी और बम्बई प्रान्त में ३३.६६ थी। रूस को छोड़ कर इतनी उत्पत्ति-संख्या किसी दूसरे देश की नहीं है। हमारी जाति के नष्ट हो जाने का भय क्यों किया जाय ? हम तो यह देखते हैं कि १८६१ से १६२१ तक तीस वर्ष में हमारी जन-संख्या घटने की जगह तीन करोड़ सोलह लाख बढ़ गई है !

कौन नहीं चाहता कि हमारी जाति सचमुच वृद्धि करे। उत्पत्ति-संख्या में से मृत्यु-संख्या को घटा कर भारत की बढ़ती जन-संख्या का दिखला देना साधारण गणित का काम है, परन्तु यह प्रश्न ऐसा है जहां गणित-शास्त्र के योग-ऋण द्वारा जाति के भाग्य का निश्चय नहीं किया जा सकता। कल्पना कीजिये कि एक देश में उत्पत्ति संख्या और मृत्यु-संख्या दोनों बहुत हैं, दूसरा एक ऐसा देश है जहां उत्पत्ति तथा मृत्यु-संख्या दोनों थोड़ी हैं, परन्तु बची हुई जन-संख्या दोनों की बराबर है, तो इन दोनों में से कौन सा देश श्रेष्ठतर समझा जायगा ? निस्सन्देह, थोड़ी उत्पत्ति तथा थोड़ी मृत्यु वाला ! इस दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट हो जायगा कि जब हमारी उत्पत्ति तथा मृत्यु संख्या दोनों ही सीमातीत हैं, तो बचे-खुचे लोग दुर्बल, अयोग्य तथा निस्तेज ही होंगे। ऐसे देश में जो थोड़ी बहुत जन-संख्या की वृद्धि देख पड़ती है उस से देश की आर्थिक तथा भौतिक स्थिति पर अनुचित बोझ पड़ेगा और देश जन-संख्या को बढ़ाता हुआ भी अपने को मनुष्य बल की दृष्टि से कमज़ोर बना लेगा। थोड़े शब्दों में कहना चाहें तो कह सकते हैं कि हम अपनी नस्ल का सुधार नहीं कर रहे। हमारे सामने सब से बड़ा प्रश्न यह है कि किस प्रकार अपने देश में वे दिन लाये जाँय जब भारत में केवल स्वस्थ-शरीर के स्त्री पुरुष देखने में आवें। इस प्रश्न का एक ही उत्तर है। वह यह कि किसी प्रकार 'नस्ल-सुधार' अथवा 'सन्तति-शास्त्र' (Eugenics) को क्रियात्मक रूप दिया जा सके तभी इस अभागे देश का कुछ बन सकता है, अन्यथा जिस वेग से हमारा देश नाश की तरफ़ जा रहा है, उसे देख कर इस का कुछ बनता नहीं दीखता।

हमें यह समझ लेना चाहिये कि जनसंख्या पर किसी देश के बल को निर्धारण नहीं किया जा सकता। ३१ करोड़ संख्या बहुत होती है, परन्तु इस संख्या को देख कर देश की उन्नति की आशा नहीं बंध सकती। संख्या (quantity) पर सामर्थ्य अवलम्बित नहीं होता, वास्तविक-पदार्थ गुण (quality) है। रोम और ग्रीस संसार के नक्शे पर मुट्ठी भर भी न थे, परन्तु उन्हीं ने साम्राज्य स्थापित कर दिये। हमारे देखते २ जापान ने रूस का कान पकड़ कर उस से नाक से सात लकीरें निकलवा लीं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जो जातियें संख्या में कम परन्तु गुण में बढ़ी हुई हैं वे उन जातियों को खा जाती हैं जो केवल संख्या में बढ़ी हुई और गुण में शून्य होती हैं। हमें 'सन्तति-शास्त्र' का अध्ययन करते हुए

सब से पहली बात यह सीखनी है कि संसार के युद्ध—क्षेत्र में 'संख्या' की अपेक्षा 'मात्रा' का अधिक आदर होता है। हमारा उद्देश्य "अयोग्य-और-अधिक" की अपेक्षा "योग्य-और-थोड़े" —यह होना चाहिये।

'सन्तति-शास्त्र' (Eugenics) शब्द का प्रचार थोड़े ही दिनों से हुआ है। पश्चिम में पहले—पहल १८८४ में सर फ्रान्सिस गैल्टन ने इस शब्द का प्रयोग किया। उस समय लोगों का इस की तरफ़ ध्यान आकर्षित नहीं हुआ। १९०४ में जब सर फ्रान्सिस ने सोशियोलोजिकल सोसाइटी आफ़ लण्डन के सन्मुख इस विषय के महत्व पर व्याख्यान दिया तब इस की चर्चा भी छिड़ गई और लोगों की इस विषय में इतनी दिलचस्पी बढ़ी कि १९१२ में, लण्डन में इस पर विचार करने के लिये 'अन्तर्जातीय परिषद्' भी की गई। सर फ्रान्सिस के अनुसार 'सन्तति-शास्त्र' का लक्षण निम्न है:—

"Eugenics is the study of agencies under social control that improve or impair the racial qualities of future generations either physically or mentally." अर्थात्—सन्ततिशास्त्र उन कारणों का अध्ययन करता है जो समाज के नियन्त्रण द्वारा आगामी आने वाली सन्तति के नस्ल-सम्बन्धी शारीरिक तथा मानसिक गुणों को घटा या बढ़ा सकते हैं।

विवाह की आयु का निश्चय, परिस्थिति का सुधार, बालकों की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शिक्षा का प्रबन्ध आदि ऐसी बातें है जिन्हें समाज के नियन्त्रण द्वारा किया जा सकता है। परन्तु इस व्याख्या में कई ऐसी बातें छूट जाती हैं जो नस्ल के बनाने तथा बिगाड़ने में तो कारण हैं परन्तु जिन का नियन्त्रण राज्य अथवा समाज की तरफ़ से नहीं हो सकता, जो केवल व्यक्तियों के अपने जीवन पर ही आश्रित हैं। पति-पत्नी को गृहस्थ में किस प्रकार का जीवन व्यतीत करना चाहिये, सन्तानोत्पत्ति की क्या ज़िम्मेवारियें हैं इत्यादि ऐसे विषय हैं जिन्हें दृष्टि में रखते हुए गैल्टन महोदय की व्याख्या अत्यन्त संकुचित समझी गई है। इस लिये वर्तमान 'सन्तति-शास्त्रज्ञ' इस विषय को दो भागों में बाँटते हैं—सामाजिक सन्तति-शास्त्र विज्ञान और वैयक्तिक सन्तति शास्त्र-विज्ञान। पहले का नियन्त्रण राज्य अथवा समाज द्वारा हो सकता है, दूसरे का नियन्त्रण प्रत्येक व्यक्ति के अपने ऊपर निर्भर है।

'सन्तति-शास्त्र' के अनुसार किसी मनुष्य-समाज की जीवन-योग्यता का निर्णय दो बातों पर ही अवलम्बित है—वंशानुक्रमिता (Heredity) तथा परिस्थिति (Environment)। इस लिये नस्ल के सुधारने के सारे उपाय इन दो प्रकारों के होने चाहियें—ऐसे, जिन से पैतृक-संस्कार सुधरें और ऐसे जिन से परिस्थिति का सुधार हो। प्रत्येक बालक माता—पिता से बीज-रूप में संस्कारों को लेकर

जन्म लेता है और वे ही बढ़ कर उस के भविष्य–जीवन को बनाते या बिगाड़ते हैं। भारतवर्ष में 'सन्तति-शास्त्र' को आधार में रख कर जो भी कार्यक्रम जारी किया जाय उस में पैतृक-संस्कारों के सुधार पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होगा। प्रचलित विवाह-प्रथा को आमूलचूल निर्भीकता से बदलना होगा और स्त्री-पुरुष के पारस्परिक सम्बन्ध के प्रश्न को वर्तमान वैज्ञानिक अनुभवों के आधार पर जितना ज़रूरी दीख पड़े उतना परिवर्तित करना होगा। रोगी माता-पिता की सन्तान रोगी ही होगी, परन्तु इस के साथ हमें यह नहीं भुलाना होगा कि परिस्थिति भी पैतृक-संस्कारों के समान ही सन्तति को बनाने में आवश्यक कारण है। अपवाद सभी जगह होते हैं। बड़े २ सुशिक्षित व्यक्तियों की सन्तान निरी—उल्लू भी पैदा हो जाती है, परन्तु हमें स्मरण रखना चाहिये कि इस प्रकार के अपवाद बहुत थोड़े होते हैं और इसी लिये उपर्युक्त नियम की पुष्टि ही करते हैं। इस प्रकरण में यह लिख देना आवश्यक प्रतीत होता है कि कई लोग परिस्थिति पर आवश्यकता से अधिक बल देते हैं। उनका कथन है कि समाज के व्यक्तियों को सफाई से रहना सिखाना चाहिये, दिनोंदिन बढ़ती बीमारियों को दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये, साधारण से साधारण व्यक्ति के लिये भी स्वास्थ्य-प्रद उपायों को प्राप्त करना सुगम बना देना चाहिये-बस, इतने से नस्ल का सुधार स्वयं हो जायगा। उन के कथनानुसार मृत्यु को लाने वाली शक्तियों से लड़ाई करनी चाहिये, न कि उत्पत्ति को लाने वाली शक्तियों से। परन्तु यह भ्रम है। हमें समझ लेना चाहिये कि उत्पादन करने वाली शक्तियों में कारणता की शक्ति है। कम से कम इतना तो स्वीकार करना ही चाहिये कि पैतृक संस्कारों पर ध्यान देना, परिस्थिति पर ध्यान देने की अपेक्षा किसी प्रकार कम महत्व का नहीं है। दोनों ही मनुष्य के जीवन को बनाने में एक दूसरे से बढ़ कर भाग लेते हैं।

इस समय पश्चिम में 'सन्तति—शास्त्र' के महत्व को समझ कर उस का बड़ी बारीकी से अध्ययन किया जा रहा है। इस शास्त्र सम्बन्धी नियमों का परीक्षणों से आविष्कार किया जा रहा है परन्तु भारत वर्ष के लिये यह शास्त्र नवीन नहीं है। वेद तथा पुराण इस से भरे पड़े हैं। प्राचीन ऋषियों ने 'सन्तति-शास्त्र' के नियमों को अपूर्व बुद्धिमत्ता से समाज में घटाया था। मनु, याज्ञवल्क्य तथा अन्य स्मृति, ब्राह्मणग्रन्थ, आश्वलायन गृह्य सूत्र, सुश्रुत, वाग्भट, महाभारत आदि के अध्ययन से इस शास्त्र का अपरिमित भण्डार इकट्ठा किया जा-सकता है। अनेक स्थलों पर वर्णन आता है कि किस प्रकार उत्तम सन्तान पैदा की जा सकती है और किस प्रकार नागरिकों को सामाजिक-धर्मों की शिक्षा दी जा सकती है। नस्ल सुधार के लिये सब से महत्व का कार्य विवाह है। यदि हम जाति को समुन्नत करना चाहते हैं तो केवल स्वस्थ,

सबल, निर्दोष, लक्षयुक्त व्यक्तियों को ही विवाह जैसे पवित्र कार्य का अधिकार देना चाहिये, दूसरों को राज्य की तरफ़ से मनाही हो जानी चाहिये। प्राचीन ऋषियों ने इस बात को खूब समझा था। उन्हों ने विवाह के लिये जिन गुणों का आवश्यक होना लिखा है वे ऐसे ज़बर्दस्त असूल हैं जिन से अपाहिज लोग विवाह कर ही नहीं सकते। विवाह-संस्कार के समय जिन मन्त्रों को पाठ के लिये चुना गया है वे सन्तति शास्त्र की गहरी सचाइयों से भरे पड़े हैं। महाभारत को पढ़ने से प्रतीत होता है कि उस समय माताओं के हृदय में 'वीर प्रसविनी' होने की निरन्तर इच्छा बनी रहती थी और अपने इच्छित–उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर वे इच्छित–सन्तान को उत्पन्न करती थीं। जो प्राचीन पुस्तकें मिलती हैं उनसे यही पता चलता है कि वर्तमान सन्तति—शास्त्रज्ञ भारतीय ऋषियों के इस विषय के अपरिमेय ज्ञान—समुद्र के किनारे अभी ठीकरियें ही चुग रहे हैं। हां, समय तथा अवस्थाओं के भेद से सम्भवतः हमें अब उन सिद्धान्तों को जीवन में घटाने के लिये कुछ परिवर्तन करने पडेंगे परन्तु यह परिवर्तन करते हुए हमें कभी नहीं सोचना चाहिये कि हम किसी पाश्चात्य पौदे को भारतीय भूमि में लगाने का प्रयत्न कर रहे हैं। यह वही पुराना पौदा है जिस की छाया के नीचे ऋषि विश्वामित्र तथा मुनि वेदव्यास बैठे थे, उसी की शाखा को फिर से हरा करने के लिये हम इसे अपने भारत के उपवन में लगाना चाहते हैं।

यदि सन्तति-सुधार का विस्तृत कार्य–क्रम देश में चलाया जाय तभी वास्तविक सुधार का कार्य हो सकता है। हैविलौक इलिस ने अपनी पुस्तक 'दी टास्क ऑफ़ सोशयल हाईजीन' में लिखा है कि युरुप में समाज–सुधार के कार्य को प्रगतिशील चार भागों में विभक्त किया जा सकता है। सब से पूर्व सुधारकों ने समाज के स्वास्थ्य पर ध्यान दिया परन्तु ज्यों ज्यों कला कौशल बढ़ता गया त्यों त्यों कारखानों में कार्य करने वालों की अवस्था शोचनीय होती गई और राज–नियमों में परिवर्तन करवाने की आवश्यकता जान पड़ने लगी। कारखानों में काम करने वाले लोगों का स्वास्थ्य ठीक रह ही नहीं सकता था, उन के काम के ढंग ही ऐसे थे। परन्तु नियमों का आश्रय मिलने पर भी सुधारक लोग जो चाहते थे वह न हुआ। ऐसी अवस्था देख कर उन्हों ने शिक्षा का सर्वत्र प्रचार करना प्रारम्भ किया और समझा कि इस से समाज में स्वयं सुधार होने लगेगा। इस में भी अकृतकार्य हो कर अब "सन्तति-शास्त्र" का आश्रय लेकर बीज से सुधार करने का उद्योग हो रहा है। अब समझा जाने लगा है कि बीज अच्छा होगा तो वृक्ष का अच्छा होना ज़रूरी हो जायगा।

हैविलाक महोदय का यह विचार सर्वथा सत्य है और हमारे देश के वर्तमान-इतिहास के साथ भी यह पूर्ण

चरितार्थ होता है। हमारे देश भाइयों ने अब तक जो सुधार के उपाय बर्ते हैं उनके विरुद्ध हम एक शब्द भी नहीं लिख रहे—वे अपने २ ढंग के थे और सभी उत्तम थे। वे उपाय किसी बीमार के बीमारी को दूर करने के लिये हाथ-पाँव पटकने के समान थे—सन्तति-शास्त्र के व्यापी नियमों को आधार में रख कर उनका जन्म नहीं हुआ था। समाज-सुधार की पुरानी दृष्टि को अब त्याग कर नवीन सन्तति-सुधार की दृष्टि से ही कार्य करने में में देश का भला है। अब तक हम सामाजिक विषमता को दूर करने की दृष्टि से सुधार का कार्य करते रहे। अछूतों का उद्धार इसी लिये कर रहे हैं ताकि सामाजिक विषमता दूर हो, अन्याय तथा अत्याचार हट जाय। स्त्रियों को शिक्षा देने की मुख्य युक्ति यही बनी रही कि समानता के इस युग में स्त्रियों के साथ असमानता का व्यवहार नहीं करना चाहिये। विधवा-विवाह पर भी अत्याचार दूर करने की अपीलें होती रहीं। परन्तु अब हमें इस संकुचित-दृष्टि को छोड़ कर विशाल-दृष्टि को स्वीकार करना चाहिये। जो सुधारक अब समाज में कार्य कर रहे हैं उन की आवश्यकता तो है ही, परन्तु सुधारकों के कार्य करने का उद्देश्य बदल जाना चाहिये। समान अधिकार प्राप्त करने की तथा परस्पर वैमनस्य फैलाने की फ़िज़ूल अपीलें न कर जाति का मूल से सुधार करने को ही चरम-लक्ष्य समझना चाहिये। "सन्तति-सुधार" के प्रोग्राम में स्त्री-शिक्षा, विधवा-विवाह आदि सभी वर्तमान सुधारों को स्थान मिलेगा परन्तु उस समय असमान-व्यवहार का रोना न रोकर अपनी जाति की नस्ल को सुधारने तथा बढ़ाने की दृष्टि से अपील की जायगी।

संक्षेप में, इस समय जाति की क्षीणता को हमें समझते हुए अनुभव करना चाहिये कि जाति की रक्षा के लिये 'सन्तति-शास्त्र' के विस्तृत कार्य-क्रम को देश में फैलाने की सख्त ज़रूरत है। राजनैतिक कार्य का निस्सन्देह अपना महत्व है। परन्तु जब राजनैतिक कार्य करते हुए उन बातों को भुला दिया जाय जिनके आधार पर ही जाति को उठाया जा सकता है तब यह प्रोग्राम एक तरफ़ा और अधूरा रह जाता है। आवश्यकता है कि देश की राजनीति 'सन्तति-शास्त्र' के आदर्शों में रच जाय। हमारे धर्म, हमारी नीति में भी इन आदर्शों का मिल जाना ज़रूरी है। हिन्दुओं के देवी देवता भी सन्तति-शास्त्र की छैनी से घड़े जाने चाहियें। स्त्री-पुरुष सम्बन्धी विचारों में भी इसी दृष्टि से परिवर्तन आना चाहिये तब जा कर हम देश की वास्तविक उन्नति की आशा कर सकेंगे।

संस्कार प्रणाली की उपयोगिता

[ले० पं० गुरुदत्त जी सिद्धान्तालङ्कार]

संस्कार शब्द अपने आप ही अपने अर्थ का स्पष्ट कर रहा है। सम् पूर्वक डुकृञ् करणे धातु से घञ् प्रत्यय होने पर संस्कार शब्द बनता है। संस्कारप्रणाली शिक्षा का एक मुख्य अङ्ग है। इस का मुख्य उद्देश्य 'बीज-सुधार' तथा भावी-सन्तति के आनुवंशिक प्रभावों को उत्तम और दोष-रहित बनाना है। इस के अतिरिक्त संस्कारप्रणाली मनुष्य को अपने जीवन के भिन्न २ आश्रमों (Stages) के कर्तव्यों का उपदेश देकर उसे पूर्ण बनाने का यत्न करती है। यह शिक्षा गर्भाधान से शुरु होकर मनुष्य जीवन के अन्तिम काल पर समाप्त होती है। इस तरह संस्कार प्रणाली मनुष्य जीवन को पूर्णता के उच्च शिखर पर ले जाने में सहायक होने के कारण शिक्षा का एक प्रधान अङ्ग है।

सोलह वैदिक संस्कार, वंशानुक्रमिता, सन्तति-शास्त्र (यूजैनिक्स), तथा शिक्षा के गंभीर और व्यापक नियमों के आधार पर बनाये गये हैं। इन सब का संस्कारों से क्या सम्बन्ध है तथा किस प्रकार से इन के व्यापक नियमों का संस्कारों में समावेश होता है, यह सब बातें आगे चल कर पाठकों के सामने स्पष्ट हो जावेंगी। इतनी भूमिका बांधने के अनन्तर अब हम अपने प्रकृत विषय की गम्भीर विवेचना में प्रवृत्त होते हैं।

जैसे पहिले ही बतलाया जा चुका है, संस्कारप्रणाली मानवीय शिक्षा का प्रधान अङ्ग है। अब विचारणीय प्रश्न यह है, कि शिक्षा का अन्तिम उद्देश्य क्या है, और किस प्रकार से संस्कार प्रणाली उस उद्देश्य की पूर्ति में साधक है। शिक्षा के अन्तिम उद्देश्य के सम्बन्ध में बड़े २ शिक्षाविज्ञों में अभी तक कुछ-एक शाब्दिक मतभेद हैं। हमें इस लेख में शिक्षाविज्ञों के शाब्दिक मतभेद से कुछ भी मतलब नहीं है, क्योंकि संस्कार प्रणाली को शिक्षा का उपयोगी अङ्ग सिद्ध करते हुए इसकी महत्ता पर प्रकाश डालना मात्र ही हमारे इस लेख का मुख्य उद्देश्य है। शाब्दिक मतभेद रखते हुए भी प्रायः सभी बड़े २ शिक्षा शास्त्री एकमत होकर निम्न परिणाम पर पहुंचे हैं, कि :—

"शारीरिक, मानसिक, सदाचार और बुद्धि संबन्धी भिन्न २ मानवीय शक्तियों का सम-विकास करते हुए मनुष्य जीवन को पूर्ण बनाना शिक्षा का परम उद्देश्य है।"

संस्कारप्रणाली के बिना मानवीय शिक्षा अधूरी है। संस्कार प्रणाली की सहायता के बिना शिक्षा के शेष साधन मनुष्य जीवन को पूर्ण नहीं बना सकते।

मनुष्य पर दो प्रकार के संस्कारों का प्रभाव पड़ता है, एक तो बाह्य परिस्थिति-जन्य और दूसरे आनुवंशिक संस्कार जो कि मनुष्य में उसके माता

पिता तथा पूर्ववंशजों द्वारा वंशानुक्रमिता (Heredity) के अटल नियमों के प्रभाव से संक्रान्त होते हैं। बालक के उत्पन्न होने के पश्चात् उसे माता पिता तथा गुरु जो भी शिक्षा देते हैं, वह शिक्षा बालक के परिस्थिति-जन्य बाह्य संस्कारों पर तो प्रभाव डाल सकती है, परन्तु आनुवंशिक संस्कारों (Hereditory) को वह नहीं सुधार सकती। प्रायः सभी बड़े २ शिक्षाविज्ञों की यह सम्मति है कि गुरु, शिष्य में किसी ऐसी नई शक्ति को प्रविष्ट नहीं करा सकता जोकि उसे अपने माता पिता अथवा वंश द्वारा प्राप्त नहीं हुई। गुरु का कार्य बीज बोना नहीं है, अपितु उसका काम उपयुक्त पोषक भोजन (न्यूट्रीमैन्ट) तथा संरक्षण द्वारा बोए हुए बीज का विकास, उसकी वृद्धि तथा रक्षा करना है। अर्थात् माता पिता या वंश द्वारा बालक में बोई गई गुप्त और अव्यक्त शक्तियों को उपयुक्त शिक्षा तथा साधनों द्वारा विकसित करना तथा उन्हें बुरी दिशा से रोक कर, अच्छी दिशा (सन्मार्ग) की तरफ़ प्रेरित करते हुए उनका संरक्षण करना मात्र ही गुरु का काम है। जो बालक अपने आनुवंशिक संस्कारों द्वारा उपजाऊ दिमाग़ अथवा उत्तम प्रतिभा को लेकर पैदा हुआ है उस की अव्यक्त दिमाग़ी शक्तियों को तो गुरु शिक्षा द्वारा विकसित कर सकता है, परन्तु जो बालक अपने आनुवंशिक संस्कारों के कारण ही पागल, बुद्धू 'थवा कमज़ोर मस्तिष्क वाला पैदा आ है, संसार का अच्छे से अच्छा शिक्षक भी ऐसे विद्यार्थी को, सारे जन्म भर परिश्रम कर के भी, उपजाऊ दिमाग़ वाला, अथवा प्रतिभाशील नहीं बना सकता। वीर बन्दा वैरागी का जीवन उपर्युक्त पक्ष की पुष्टि के लिये बड़ा ज्वलन्त उदाहरण है। वीरबन्दा वैरागी में क्षात्रधर्म, वीरता, तथा करुणा आदि गुण पहिले से ही मौजूद थे। वीर वैरागी में वे गुण गुरुगोविन्दसिंह ने नये न बोये थे। अपितु उन्होंने वीर वैरागी के प्रसुप्त गुणों को व्यक्त करके उनको अच्छी दिशा (सन्मार्ग) की तरफ़ प्रेरित कर दिया। यह एक वैज्ञानिक सचाई है, कि मनुष्य की सारी भिन्न २ शक्तियां तथा संस्कार बीजरूप से उसके माता पिता तथा वंश द्वारा वंशानुक्रमिता के अटल नियमों के अनुसार उसमें वपन की जाती हैं। तर्क, वंशानुक्रमिता (Law of Heredity) तथा जीवन विज्ञान (Biology) उपर्युक्त सचाई की पुष्टि करते हैं।

अत्यन्त सावधानता पूर्वक किये गये निरीक्षणों द्वारा यह भी सिद्ध हो चुका है कि आनुवंशिक संस्कार (Heredity) परिस्थिति जन्य बाह्य संस्कारों (Environment) की अपेक्षा बहुत प्रबल और दृढ़ होते हैं। आनुवंशिक संस्कारों की मुहर इतनी दृढ़ और अमिट होती है कि इन्हें समूल नष्ट करना तो एक तरफ़ रहा, परन्तु इन्हें मृदु करने के लिए भी बहुत ज्यादा परिश्रम की ज़रूरत है। इसमें कुछ भी अतिशयोक्ति नहीं है, कि बहुत कुछ अंशों में एकमात्र

आनुवंशिक संस्कार ही व्यक्ति के सारे भाग्य का निर्णय करते हैं। इसी लिये ही एक कवि ने वंशानुक्रमिता के अटल और अमिट प्रभाव को कवितारूप में निम्न शब्दों में प्रकट किया है:—

"यद्धात्रा लिखितं ललाटपटले तन्मार्जितुं कः क्षमः"

[यह कथन कवितात्मक है, वैज्ञानिक नहीं। आनुवंशिक संस्कारों को उचित उपायों द्वारा किसी अंश तक मृदु किया जा सकता है। लगातार यत्न के अनन्तर कुछ एक पीढ़ियों के बाद ये संस्कार बिल्कुल अव्यक्त भी हो जाते हैं, परन्तु पुनः अनुकूल परिस्थिति पाकर पुनर्व्यक्ति (रिवर्शन) के नियमानुकूल फिर ये व्यक्त हो जाते हैं]

आनुवंशिक प्रभावों की दृढ़ता का निदर्शन कराने के लिये एक उदाहरण देना अनुचित और अप्रासङ्गिक न होगा:—

एक शराबी माता पिता अपनी संतति को शराब पीने के दुर्गुण से बचाना चाहते थे क्योंकि वे दोनों शराब की बुराई को अनुभव कर चुके थे। अन्य संस्कारों की तरह शराब पीने की बुरी आदत भी वंशानुक्रमिता के नियम से पीढ़ी-दर-पीढ़ी सन्तति में माता पिता द्वारा संक्रान्त होती है। इस लिये संतति के पैदा होते ही माता पिता ने उसे "शराब निषेधक समिति" के हाथों में सौंप दिया। २१ वर्ष तक वह बालक "शराब निषेधक समिति" की अध्यक्षता में पाला और पोसा गया। इतने समय तक बच्चे को शराब पीने के दुर्गुण से बचा कर रखा गया। २२ वर्ष की आयु में एक दिन उस नवयुवक को ऐसी विचित्र प्यास लगी, जो कि विविध २ प्रकार की पानी की बोतलें गले के नीचे उतारने पर भी शान्त न हुई। परन्तु ज्योंही उस नवयुवक को थोड़ी सी शराब पिलाई गई उसकी प्यास तुरन्त शान्त हो गई। यह घटना आनुवंशिक संस्कारों की प्रबलता तथा दृढ़ता पर पर्याप्त प्रकाश डालती है।

सन्तति-शास्त्र (यूजैनिक्स) के पण्डितों का यह मत है कि उत्तम सन्तति उत्पन्न करने का एक मात्र उपाय 'बीज सुधार' ही है क्योंकि संतति की उत्पत्ति बीज द्वारा ही होती है और बीज में ही आनुवंशिक संस्कार सूक्ष्म तथा अव्यक्त रीति से संचित रहते हैं। वंशानुक्रमिता तथा जीव विज्ञान (Biology) के विद्वानों का यह माना हुआ निश्चित सिद्धान्त है, कि भावी संतति में वे ही संस्कार संक्रान्त होते हैं जिन का कि उत्पादक-तत्व वीर्य और रज (जर्मसैल) पर प्रभाव होता है। परिस्थिति-जन्य बाह्य प्रभावों का (Modificational or acquired characters) जब तक उत्पादक-तत्व अर्थात् बीज (Germ-cell or germ plasm) पर प्रभाव नहीं पड़ता, तब तक वे भावी सन्तति में संक्रान्त नहीं होते। जो अपनी सन्ततियों को सुधारना चाहते हैं, उन्हें अपने उत्पादक तत्व को उत्तम २ संस्कारों से प्रभावित कर के बीज का सुधार करना चाहिये।

व्यक्ति के छोटे से छोटे शारीरिक और मानसिक संस्कार का उस के उत्पादक तत्व रज और वीर्य पर प्रभाव

पड़ता है। व्यक्ति के प्रायः सभी प्रकार के संस्कार उसके जर्मसेल (Germ cell) में अव्यक्त और सूक्ष्म रूप से संचित रहते हैं। यदि शारीरिक और मानसिक रोगों तथा कुसंस्कारों को यथोचित उपायों द्वारा दूर कर दिया जाय, तो निस्संदेह व्यक्ति अपने रज और वीर्य को पवित्र कर सकता है।*

इस समय यूजैनिक्स शास्त्र के विद्वानों के सामने एक बड़ी भारी समस्या उपस्थित है कि किस प्रकार से मानवीय नस्ल का सुधार किया जाय। नस्ल के सुधार के लिये यह आवश्यक है कि संतति उत्पन्न करने के कार्य को बड़े भारी उत्तर दातृत्व तथा पवित्रता का कार्य समझा जाय, तथा किसी पवित्र और महान् उद्देश्य के लिये सन्तति को पैदा किया जाय—इसे केवल अपनी पाशविक कामना की तृप्ति के उद्देश्य से प्रेरित होकर ही न किया जाय। इस महान् और पवित्र कार्य के लिये बड़ी भारी तय्यारी तथा माता पिता को विशेष शिक्षा दी जाने की ज़रूरत है।

आधुनिक शिक्षा बालक के उत्पन्न होने के साथ शुरु होती है। परन्तु भारत के प्राचीन दूरदर्शी ऋषियों ने संतति उत्पत्ति संबन्धी शिक्षा के कार्य को रजोदर्शन अर्थात् ऋतुकाल के प्रारम्भ से एक मास पूर्व ही विशेष रूप से प्रचलित किया था। वैसे तो कुल के पुरोहित हमेशा ही गृहस्थियों को संयम तथा उनके अन्य धर्मों का उपदेश देते रहते थे परन्तु इस एक मास में स्त्री-पुरुष अर्थात् माता-पिता को विशेष शिक्षा दी जाती थी, क्योंकि भारतीय शिक्षा शास्त्रवेत्ता वंशानुक्रमिता तथा संततिशास्त्र (यूजैनिक्स) के नियमों से पूर्णतया अभिज्ञ होने के कारण बीज-सुधार के महत्व को अच्छी तरह से समझते थे। उन्हें इस बात का पूर्णज्ञान था, कि उत्पादक तत्व अर्थात् रज और वीर्य को पवित्र (संस्कार युक्त और रोग विकार रहित) तथा बलवान् बनाये बिना नस्ल को उत्तम बनाने के विचार शेख़-चिल्ली के स्वप्न के समान हैं। भावी

*व्यक्ति के शारीरिक और मानसिक संस्कार किस प्रकार रज और वीर्य पर प्रभाव डालते हैं तथा किस प्रकार से इतने अनन्त संस्कार सूक्ष्म जर्मसेल अथवा जर्मप्लाज़्म में संचित रहते हैं, ये प्रश्न वंशानुक्रमिता तथा संततिशास्त्र के विद्वानों के लिये अभी तक अज्ञेय ही हैं। इस के सम्बन्ध में 'डिटर्मिनेंट', 'फिज़िऔलोजिकल यूनिट्स', 'जैम्यूल्स' आदि अनेक कल्पनात्मक भौतिक द्रव्यों की कल्पना की गई है, जो कि नाना प्रकार के संस्कारों को उत्पादक तत्व तक पहुँचा कर उस में उन्हें संचित करते हैं, तथा उत्पादक तत्व में ये हमारे नाना प्रकार के संस्कारों के प्रतिनिधि हो कर रहते हैं। ये सब वाद अभी तक कल्पनात्मक कोटि में हैं। परन्तु उत्पादक तत्व में संस्कारों का सूक्ष्मरूप से संचित रहना, यह एक वैज्ञानिक सचाई है। अन्यथा अभाव से भाव की उत्पत्ति माननी पड़ती है, जो बिल्कुल असम्भव है—लेखक।

सन्तति के आनुवंशिक संस्कारों और प्रभावों को सुधारे बिना केवल मात्र बाह्य शिक्षा तथा बाह्य प्रभावों द्वारा बच्चे के जीवन को पूर्ण बनाने का यत्न करना वृक्ष की जड़ों को सूखा रख कर उस के पत्तों और उस की शाखाओं पर पानी छिड़कने के बराबर मूल्य रखता है। सन्तति वा बच्चों की आनुवंशिक शक्तियों तथा प्रभावों को सुधारे बिना केवल मात्र बाह्य शिक्षा बिल्कुल अधूरी है। यह शिक्षा बालक के आनुवंशिक दोषों और कमियों को पूरा न कर सकने के कारण बालक के जीवन को पूर्ण नहीं बना सकती, जो कि शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य है। इस लिये दूरदर्शी ऋषियों ने भावी सन्तति की शिक्षा रजोदर्शन से एक मास पूर्व ही शुरु कर दी थी। गर्भाधान से एक मास पूर्व ही कुल का पुरोहित माता पिता को अपने शारीरिक और मानसिक कुसंस्कारों और रोगों को दूर करने के उपाय बताकर "बीज-सुधार" के कार्य की तरफ़ विशेष ध्यान दिलाता था। इस के साथ २ वह माता पिता के दोषों तथा उनकी सब प्रकार की त्रुटियों को दूर करने का उपदेश देकर भावी सन्ततियों के आनुवंशिक प्रभावों तथा संस्कारों को सुधारने का काम करता था। इस समय वह माता पिता को सन्तति की उत्पत्ति के लिये किसी ऊँचे उद्देश्य का सङ्कल्प करने का उपदेश देता था, ताकि उस मानसिक सङ्कल्प का प्रभाव माता पिता के रजवीर्य पर पड़े और बालक वंशानुक्रमिता के नियम के अनुसार किसी उच्च उद्देश्य को लेकर दुनियाँ में पैदा हो। इस समय कुल-पुरोहित माता पिता का अपने जीवन, आचार विचार, तथा भोजन की पवित्रता की ओर विशेष ध्यान खींचता था, ताकि बीज-सुधार का कार्य पूर्ण रीति से संपादित किया जा सके।

इस के बाद वह दिन वा रात्रि जब गर्भाधान किया जाता है—बड़े महत्व का है, क्योंकि इस दिन माता और पिता के और विशेष कर के पिता के शारीरिक और मानसिक संस्कारों का भावी गर्भ पर विशेष प्रभाव पड़ता है। वंशानुक्रमिता का यह एक नियम है कि सन्तति में पिता के केवल वे ही संस्कार संक्रान्त होते हैं, जो कि उस में गर्भाधान के समय मौजूद होते हैं। माता के वे संस्कार तो, जो कि उस में गर्भाधान के समय मौजूद होते हैं, संक्रान्त होते ही हैं, परन्तु इसके आगे जब तक बच्चा माता के गर्भ में रहता है—उस समय के संस्कार और प्रभाव भी वंशानुक्रमिता के नियम से सन्तति में संक्रान्त होते हैं, यहां तक कि माता के कतिपय प्रबल संस्कार स्तनों के दूध द्वारा भी सन्तति में संक्रान्त होते हैं। माता के लिये अपने संस्कारों को सुधारने का आगे भी अवसर है परन्तु पिता केवल गर्भाधान के समय ही भावी सन्तति में अपने संस्कारों को संक्रान्त कर सकता है। इस प्रकार के पैतृक संस्कारों को "इनिशियल हैरिडिटी" कहते हैं।

एक परिवार के सब बच्चे स्वस्थ, प्रसन्नवदन और बुद्धिमान् थे पर सब से बड़ा, चिड़चिड़ा और बुद्धू था। इसका कारण यह था, कि पिता ने गर्भाधान के समय शराब पी हुई थी। इस उदाहरण से उपर्युक्त सचाई अच्छी तरह से समझ में आ सकती है। इसलिये स्मरण रहे कि गर्भाधान से पूर्व ही "गर्भाधान संस्कार" किया जाता है। इस संस्कार द्वारा माता पिता, दोनों, और विशेष कर पिता को उस पवित्र कार्य की महत्ता और उत्तरदायित्व का उपदेश दिया जाता है। उन दिनों अपने मन को पूर्ण पवित्र बनाने तथा उस पवित्र उद्देश्य को अपने मन में दृढ़तया धारण करने का उपदेश दिया जाता है, जिसे कि वे अपनी सन्तति के हृदय पर अङ्कित करना चाहते हैं। सब प्रकार के कुसंस्कारों और बुरे प्रभावों को दूर कर के उनको शुद्ध और पवित्र बनाने का उपदेश दिया जाता है, ताकि भावी सन्तति में माता पिता द्वारा कोई बुरा संस्कार संक्रान्त न हो जाय। सन्तति सच्चे अर्थों में मनुष्य और देव पैदा हों, जो कि संसार का उपकार करें। कहीं ऐसी राक्षस अथवा पशु सन्तति पैदा न हो, जो कि माता पिता के नाम को भी बदनाम करे, इस के साथ २ दुनियाँ में पाप और अशान्ति के राज्य को फैला कर उसका अपकार करे। इसके साथ २ गर्भाधान संस्कार में माता और पिता को भावी गर्भ की रक्षा के और वृद्धि के लिये उचित उपायों का भी परिज्ञान कराया जाता है और माता पिता को उपदेश दिया जाता है, कि वे इस कार्य में केवलमात्र अपनी पाशविक इच्छा की तृप्त करने के भाव से प्रेरित न हों, अपितु वे इस कार्य के पूर्ण महत्व तथा पवित्रता का ध्यान रखते हुए पूर्ण पवित्रता, संयम और दृढ़ सङ्कल्प के साथ इस कार्य को संपादित करें। इस लेख में हमने इस सचाई को प्रतिपादित करने का यत्न किया है, कि किस प्रकार से संस्कार प्रणाली "नस्ल-सुधार" का क्रियात्मिक उपाय है, तथा किस उत्तम ढंग से संस्कार मानवीय जीवन को पूर्ण बनाने अथवा उसकी भिन्न २ शक्तियों के समविकास की प्रक्रिया में सहायक होने के कारण शिक्षा के प्रधान अङ्ग हैं। इस से अगले लेख में हम संस्कार प्रणाली के अन्य पहलुओं पर प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

संसार के माता-पिताओं पर मुकद्दमा

ले० प्रो० सांभीराम जी M. Sc. A. [अमरीका]

बच्चों की सारी ज़िम्मेवारी माता-पिता के ऊपर है। जो बच्चे माता-पिता की असावधानी के कारण जीवन-पथ में भटक जाते हैं उन के सर्वनाश के पाप का बोझ माता-पिता के ऊपर ही है। हमारे देश में इस ज़िम्मेवारी को नहीं

समझा जाता । अमरीका में माता-पिता को बच्चों के जीवन बनाने की ज़िम्मेवारी समझाने के अनेक उपाय किये जाते हैं। कुछ साल हुए वहां एक नाटक खेला गया था जो इस दृष्टि से बड़ा भाव-पूर्ण था। नाटक के सभी पात्र बच्चे थे। अदालत का खेल रचा गया था। जज, नाज़िर, मुन्शी, वकील, मुकद्दमा करने वाले-सभी बच्चे थे। अपराधी माता-पिता थे। वह मुकद्दमा इस प्रकार चलाया गया था।

* * *

ना—ट—क

[इस नाटक में सब बच्चे ही सम्मिलित होते हैं। उन में से एक न्यायाधीश, एक नाज़िर, एक मुन्शी, कुछ मुद्दई, कुछ मुद्दाला, कुछ दोनों ओर के गवाह और एक आदर्श माता का काम करते हैं। इस नाटक में पड़ोस के माता-पिता को निमन्त्रित किया जाता है। न्यायाधीश न्याय-भवन में एक मञ्च पर कुर्सी लगा कर बैठता है। उस के सामने एक कुर्सी लगी होती है जिस पर कुछ काग़ज़ और बायबल रखी होती है। न्यायाधीश के बाईं तरफ़, मञ्च के नीचे, नाज़िर तथा मुन्शी मेज़ कुर्सी लगा कर बैठते हैं। दाईं तरफ़ सरकारी वकील बैठता है—उसके सामने उसकी कानूनी पुस्तकों का ढेर लगा होता है। इस वकील के समीप मुद्दाला बैठ जाते हैं। मुन्शी साहेब के नज़दीक, मुद्दालों के सामने, मुद्दई लोग पंक्ति लगा बाँध कर बैठ जाते हैं।

सब लोग नियत समय पर अपनी २ जगह आ कर बैठे हुए हैं। न्यायाधीश सब से कुछ मिन्ट पीछे आते हैं। उनके आने की सूचना पा कर न्याय-भवन में "न्यायाधीश आ रहे हैं" की घोषणा की जाती है। जब वे भवन में प्रविष्ट होते हैं तब सब लोग सन्मान-पूर्वक शान्ति से खड़े हो जाते हैं और जब तक वे बैठ नहीं जाते तब तक सभी खड़े रहते हैं। अदालत की कार्यवाही निम्न प्रकार से शुरु होती है]

का-र्य-वा-ही

नाज़िर—(मेज़ पर थपथपा कर)—सुनो ! सुनो !! सुनो !!! अदालत का इन्साफ़ शुरु होता है।

मुन्शी—सारी दुनियाँ के बच्चों का मुकद्दमा उन के माता-पिता तथा अध्यापकों के विरुद्ध इस अदालत में पेश हुआ है।

जज्ज—क्या मुद्दईयों का वकील इस मुकद्दमे को पेश करने के लिये तैयार है ?

मुद्दईयों का वकील — ग़रीब परवर ! मैं तमाम दुनियाँ के बच्चों की ख़ातिर इस अदालत में इन्साफ़ के लिये दावा दायर करता हूं।

जज्ज—आप मुकद्दमा समझाओ और बयान दो।

वकील—मैं दुनियाँभर की माताओं, पिताओं और उस्तादों को अपने बच्चों के प्रति असावधानता, ध्यानशून्यता तथा अपने पैतृक-कर्तव्य के निबाहने में असफलता के अपराध का दोषी ठहराता हूँ। हमारे गवाह शहादत में यही कहेंगे।

जज्ज—गवाहों को सामने पेश करो।

(नाजिर गवाहों को क्रमशः बुलाता है)

पहला गवाह (लड़का)-(जज्ज की तरफ़) दीन दयाल ! मैं एक अय्याश माता का पुत्र हूँ। मुझे रहने को एक आलीशान मकान, पहनने को उत्तमोत्तम वस्त्र

तथा दिल बहलाने को कई प्रकार के शुग़ल मिलते हैं। शरीर का भोजन मेरे सन्मुख हर समय तैयार रहता है परन्तु मेरी आत्मा उचित भोजन न मिलने से भूखी मर रही है। परमात्मा तो केवल नाम ही को हमारे घर में सुना जाता है और बायबल के कभी दर्शन भी नहीं हुए। मैं अपने दुःख अपनी माता को सुनाने के लिये उस के सन्मुख कभी नहीं जाता क्योंकि जब कभी मैंने उसे अपनी दुःखभरी कहानी सुनाई है, वह उस पर हँस पड़ी है और मख़ौल कर के मुझे शर्मिन्दा करती रही है। मेरा जीवन मुझे शून्य तथा निस्सार मालूम पड़ता है। घर में गोलियें तथा दवाइयें बदबू मार रही हैं क्योंकि मेरी माँ अय्याश है।

दूसरा गवाह—जनाबे-आली! मैं एक धैर्य-हीन माता की सन्तान हूँ। वह हमेशा या तो गुस्से के शिखर पर चढ़ी रहती है और या चिन्ता के गढ़े में गिरी रहती है। मुझे मालूम ही नहीं होता कि इन दोनों अवस्थाओं में से बत्तर अवस्था कौन सी है? मैं अपने मित्रों को घर ही नहीं ला सकता क्योंकि उन का शोर मेरी माँ को घबराहट पैदा करता है। इसीलिये मुझे घर में कोई आनन्द नहीं मिलता और बाहर आवारागर्दी किया करता हूं। मैंने सुना है कि धर्म से संसार में शान्ति का सञ्चार होता है। मैं चाहता हूँ कि मेरी माता को भी धर्म नसीब हो क्योंकि वह बेचारी बड़ी अधीर है।

तीसरा गवाह—हज़ूर! मेरी माँ उपदेशिका है। वह कमरे में बैठी हमेशा कुछ लिखती रहती है और किसी को नज़दीक नहीं फटकने देती क्योंकि इस से उस के लिखने में बाधा पड़ती है। वह आप तो सभाओं में आने-जाने में मस्त रहती है और मुझे हमेशा नौकरों के सुपुर्द कर जाती है। इस से मुझे अनेक दुष्कर्मों तथा दुर्विचारों का शिकार बनना पड़ता है। उसे ख़बर तक नहीं कि मैं कैसा जीवन बिता रहा हूं। मेरी माँ बहुत पढ़ी हुई है और मालूम होता है कि वह दिमाग़ ही दिमाग़ है, उस में दिल है ही नहीं। तात्पर्य यह है कि मैं बदनसीब हूं क्योंकि मेरी माँ उपदेशिका है।

चौथा गवाह—(लड़की) भगवन्! मेरी माँ सौदागर है। वह अपने व्यापार में बहुत कामयाब है, इस का मुझे अभिमान है। परन्तु मेरे विचार में उसे अपनी लड़कियों से उतनी वाकफ़ीयत नहीं जितनी अपने हिसाब-किताब से है। हमारा तमाम घर एक टाइम-टेबल पर चल रहा है। मुझे कई बार यह अनुभव हुआ है कि मैं भी घर में एक 'टाइम-पीस' ही हूं जिसे एक बार चाबी लगा दी तो चौबीस घण्टे सब काम ठीक समय पर होते रहे। अम्मा हर वक़्त लेने-देने के ख़्याल में डूबी रहती हैं और मैं मारे डर के उन के नज़दीक तक नहीं फटक सकती। यदि मैं पास पहुंच जाऊँ तो फ़ौरन धमका कर पीछे धकेल देती हैं और कहती हैं—"याद रखो! मेरे एक मिन्ट की कीमत एक रुपया है!" मुझे समझ नहीं पड़ता कि धन बच्चों की ख़ातिर है या बच्चे धन की ख़ातिर! मैं कभी २ उदास

तथा निराश हो जाती हूँ क्योंकि मेरी माँ एक सोदागर है।

पांचवां गवाह — मेरे माई-बाप ! मैं मातृ-हीन बालिका हूँ। मेरा पिता है, चाची और दादी है। सभी अच्छे स्वभाव के हैं, मेरी माता का रिक्त-स्थान पूरा करना चाहते हैं, परन्तु माता का स्थान कौन ले सकता है ? घर में द्वैध-शासन बना रहता है। बाप कहता है कि बेशक दुकान पर जाकर मिठाई खा आओ परन्तु दादी कहती है, खबरदार ! पिट जाओगी !! मुझे उन लड़कियों के साथ स्पर्धा होती है जिन की माताएँ ज़िन्दा हैं। मेरी एक अध्यापिका है जिसके सामने मैं अपने दिल का रोना रोया चाहती थी परन्तु जब मैंने उस से बात-चीत छेड़ी तो उस ने कुछ ख़्याल ही नहीं किया। हौसला हार कर मैंने फिर कोशिश ही नहीं की। मैंने यह भी चाहा कि मैं फिर गिर्जे में दाख़िल हो जाऊं। अध्यापिका-साहिबा ने पीछा छुड़ाने के लिये कहा कि तुम अभी बहुत नादान हो [शायद मैं कुछ चढ़ावा चढ़ाने को असमर्थ थी]। आज मैं बड़ी हो गई हूं, वह मुझे चाहती है, परन्तु मुझे वहां जाने से स्वाभाविक घृणा उत्पन्न हो गई है क्योंकि अपनी अध्यापिका से मुझे असन्तोष पैदा हो चुका है और वह मेरी माता की रिक्त जगह को पूरा नहीं कर सकती।

छटा गवाह—प्रभो ! मैं एक आदर्श माता की पुत्री हूँ। मेरी मां गिर्जे जाती है, क्लबों में शामिल होती है और हरेक समाज में यथा-शक्ति हिस्सा लेती हुई बड़ी व्यग्र रहती है परन्तु जब कभी मैं उस से मिलना चाहती हूं वह फ़ौरन आ उपस्थित होती है। मैं उस से अपना कोई भेद छुपा कर नहीं रखती क्योंकि मेरी माँ मेरी सहेली का काम भी करती है। मुझे अपने दिल का भेद उसे बताने में हमेशा आनन्द मालूम होता है। वह हर समय धर्म का डङ्का तो नहीं बजाती रहती परन्तु फिर भी वह परमात्मा की जोत घर में इस प्रकार जगाये रखती है कि हमें भगवान् की सर्व—व्यापकता का सदा ज्ञान रहता है। वह मेरी सहेलियों को कई बार सप्रेम घर में बुलाती है और उन से ऐसे ढंग से बात करती है कि माता के बिना हमें आनन्द ही नहीं आता। हम सब को वह बजाय माता के एक सहेली सी प्रतीत होती हैं। इस में शक नहीं कि वह कभी २ मुझे किसी २ बात में रोक भी देती है परन्तु किसी भले काम में हरगिज़ रुकावट नहीं डालती। बस, आप देख लीजिये कि अगर कल मैं वैसी युवती न बन कर दिखा सकूं जैसी वह मुझे बनाना चाहती है तो उस में उस का कोई दोष न होगा। लेकिन मेरा दृढ़ संकल्प है कि मेरी माँ मुझे जो कुछ बनाना चाहती है, मैं ज़रूर वह बन कर रहूँगी क्योंकि मैं एक आदर्श माता की पुत्री हूँ।

[बयान समाप्त हो चुकने पर]

जज्ज —[मुद्दालों के वकीलों की तरफ़ देख कर] —तुम ने गवाहों के बयान सुन लिये हैं। क्या तुमने अपने अपने पक्ष की सफ़ाई में कुछ कहना है ?

मुद्दालों का वकील—[खड़ा हो कर]—पूजनीय देव ! इस मुकद्दमे में सब मुद्दालों के वकील इन अपराधों को स्वीकार करते हैं और आदालत से रहम की अपील करते हैं।

जज्ज—(मुद्दालों की तरफ़ देख कर) अदालत ने इन इल्ज़ामों को सुना है। तुम ने अपने बच्चों के प्रति असावधानता, ध्यानशून्यता तथा अपने कर्तव्य के निबाहने में असफलता दिखलायी है इस लिये तुम्हें इन अपराधों का दोषी ठहराया जाता है। सृष्टि-कर्ता भगवान् ने तुम्हें इन धर्मों के पालन करने की ज़िम्मेवारी सौंपी है। क्या तुम कोई उपयुक्त कारण दे सकते हो जिस से तुम्हें कानून की पूरी २ सज़ा न दी जाय ?

आदर्श माता—प्रतिष्ठित जज्ज साहिब ! (आँखों में आँसू भर कर) मैं इन बहिनों के हक में, जो इतनी देर अन्धों की तरह रहा हैं और अब जिन की अदालत की कार्यवाही से आँखें खुल गई हैं, अर्ज़ करती हूं कि माताओं, पिताओं तथा अध्यापकों को अपने बच्चों के मुख से अपनी अयोग्यता तथा असफलता की कथा सुनने से बढ़ कर कोई सज़ा नहीं दी जा सकती। इस कारण मैं फिर दरख़ास्त करती हूँ कि बच्चों के मुख से जो योग्यता पूर्ण बातें निकली हैं उन की ख़ातिर इन माताओं पर रहम किया जाय।

जज्ज—यह सच है कि बच्चों की महज़ शहादत ही माता-पिताओं के लिये गौरव या शर्म का कारण हो सकती है। गौरव उस अवस्था में यदि वे आगे के लिये समझ जाँय, वरना 'लानत' तो कहीं गई ही नहीं। इस लिये हरेक मुल्क की माता, पिता तथा अध्यापक को आज से विदित हो कि बच्चों का पैदाइशी अधिकार, भलीभांति जीवन व्यतीत करने में, मुहब्बत के घूंट पीने में और आनन्द के अवसर उपलब्ध करने में अटूट है।

(बाइबल को खोल कर)

Math. 18: 6 में से पढ़ता हूं। सुनो, सुप्रीम-कोर्ट का इस पर क्या फ़ैसला है :—

"Whoso shall cause one of these little ones that believes on me to stumble, it is profitable for him that a great millstone should be hanged about his neck and that he should be sunk in the depth of the sea."

लेकिन···(एक दम चुप रह कर)······ [सब खड़े हो गये]······यही फ़ैसला यहां देने की ज़रूरत नहीं रही क्योंकि पछतावे तथा क्षमा-याचना की गहराई समुद्र के पानियों की गहरायी से गहरी है लेकिन मैं यह फ़ैसला दिये बग़ैर नहीं रह सकता कि तुम दुनियां के माता-पिता तथा अध्यापकों को इस सच्चाई पर विचार करना चाहिये कि दुनियाँ में सब से बड़ी वस्तु बच्चे की मुहब्बत वा भरोसा है।

[जज्ज बैठ जाता है]

नाज़िर—अदालत बरख़ास्त होती है !

* * *

इस नाटक को पढ़ कर यह स्पष्टतया विदित होता है कि माता-पिता तथा अध्यापक लोग अपनी पदवी से कहीं गिरे हुए हैं। भगवान् ने इन तीनों को अपना काम सुपुर्द किया था परन्तु वे अपनी ज़िम्मेवारी को भूल कर झूठे, पोले ढोल की आवाज़ की तरफ़ खिंचे जा रहे हैं। यह तो नाटक था, परन्तु यदि बालकों में सच मुच समझने या समझाने की शक्ति होती तो माता-पिता तथा अध्यापक अपनी ऐसी शोचनीय हालत का क्या उत्तर देते ? *

देशोन्नति में संस्कारों का स्थान

[लेखक—पं० देवराज जी विद्यावाचस्पति]

आजकल देश की अवस्था को उन्नत करने के लिये वा स्वतन्त्रता की ओर ले जाने के लिये विचार शील लोगों का विशेष प्रयत्न हो रहा है। भिन्न २ प्रकार से सोचने वाले विचारशील मनुष्य नाना प्रकार की आयोजना करते हैं, परन्तु असफल होते हैं। कोई आयोजक अपनी आयोजना में मनुष्यों से त्याग मांगता है, कोई दान मांगता है, कोई हिन्दू मुसल्मानों का मेल चाहता है, कोई हिन्दू संगठन और शुद्धि के लिये तत्पर है, किसी को शासकवर्ग के कार्यों में शान्तिमय बाधा डालने से ही स्वराज्य प्राप्ति दीखती है और वह बाधक होने का भाव लोगों से चाहता है, कोई सार्वजनिक शिक्षा होने के भाव का प्रचार करता है, किसी का दरिद्र ग्रामीणों की दशा देख कर जी भर आता है और साम्यवाद के प्रचार से ही देश का कल्याण समझता है। ये आयोजक अपने २ विचारों के आवेश से उद्योग-पूर्ण-नेतृत्व करने लगते हैं परन्तु कुछ दूर चल कर ही अनुयायी और अपने में बहुत फ़ासला देखते हैं। कालान्तर में यह ज्ञान होने लगता है कि जनता अभी इस कार्य में सहयोग देने के लिये उद्यत नहीं है। कोई भी कार्य देशोन्नति के लिये आरम्भ क्यों न हो उस में पीछे से यही कहा जाता है कि देश वासी अभी इस कार्य के लिये तय्यार न थे। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि देशोन्नति के कार्य को चलाने के लिये देशवासियों को कैसे तत्पर किया जाय ?

विचारशील मनुष्य इसका यह उत्तर देते हैं कि वर्तमान समाज के पुरुषों तथा स्त्रियों में दृढ़ता-पूर्वक कार्य करने के संस्कारों का अभाव है। सामर्थ्य बढ़ाने के लिये वस्तु में नवीन गुणों के बीजारोपण को संस्कार कहते हैं। जब कोई वस्तु कोमल होती है वा अभी बन रही होती है तब संस्कार डालने में जैसी सुगमता होती है वैसी सुगमता परिपक्वावस्था में नहीं होती। परिपक्वावस्था में सुगमता तो होती ही नहीं प्रत्युत् कठिनता होती है और संस्कारों का डालना असम्भव हो जाता है। एक कुम्हार अपने चक्र पर गीले, ढीले, मृत्पिण्ड को रख कर जब चक्र घुमाता है तो जैसा वह चाहता है वैसा संस्कार डाल कर यथेष्ट आकार उस मृत्पिण्ड में से प्राप्त कर लेता है। जिस समय उस मट्टी के पिण्ड में से भिन्न२ आकार प्राप्त हो चुके और सूख कर उन की आर्द्रता और कोमलता दूर हो गई तब यदि कुम्हार उन्हें किसी अन्य आकार में बदलना चाहेगा और उन से कुछ अन्य कार्य लेना चाहेगा तो असम्भव होगा। अतः किसी वस्तु को इष्ट कार्य के साधन में उपयोगी बनाने के लिये उस के प्रारम्भिक

* नोट-प्रो० साँझीराम जी की 'बीसवीं सदी का जीवन-शास्त्र' नामक अप्रकाशित पुस्तक से।

जीवन में हमें विशेष संस्कार डालने पड़ते हैं, बड़े होने पर उसे किसी अन्य रूप में डालना असम्भव हो जाता है। लोहा, सोना, चांदी आदि कठोर धातवीय पदार्थों को विशेष आकृति का बनाने के लिये उन्हें तीव्र अग्नि में तपाना पड़ता है, जब वे तप जाती हैं तो विशेष आकृति में आ सकती हैं और इष्ट कार्य का सम्पादन करती हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि यदि कहीं जल आर्द्रता और कोमलता का जनक है तो दूसरे स्थान में अग्नि का तीव्र ताप आर्द्रता तथा कोमलता का सम्पादक है। इस से इतना तो बिलकुल निश्चय हो जाता है कि वस्तु की कोमलावस्था में संस्कार को ग्रहण करने की जितनी सामर्थ्य होती है उतनी कठोर और दृढ़ अवस्था में नहीं। भारतवासियों को आजकल कठोर तप के जीवन से तपा कर उन में नवीन संस्कारों—ओजस्विता, तेज, धैर्य, साहस आदि, का डालना असम्भव सा है क्योंकि इन में इतना बल नहीं कि तप से इन गुणों का प्रादुर्भाव अपने में कर सकें, अतएव प्रारम्भिक जीवन में ही संस्कार डाल कर भारत वासियों को इस योग्य बनाया जा सकता है कि स्वराज्य-युद्ध में सफल हो सकें।

माता पिता और गुरु अपने बालकों को छोटी उमर में समझा बुझा के और भय दिखा कर अच्छी आदतें डालने का प्रयत्न करते हैं। जैसे २ लड़का बड़ा होता जाता है उस की बुद्धि का विकास होता जाता है और उस के साथ माता, पिता, गुरु आदि का व्यवहार बदलता जाता है। २२ वर्ष की उमर तक मनुष्य की आदतें बन चुकती हैं। फिर तो यही कहा जाता है कि अब क्या हो सकता है, जो कुछ इस ने बनना था बन गया, जब पहली उमर में ही इस ने अपने आचार-विचार को कुछ नहीं बनाया तो अब क्या कर सकता है। यह इसीलिये कहा करते हैं कि पक्वावस्था में संस्कारों का डालना कठिन ही नहीं प्रत्युत् असम्भव होता है। बचपन में जो संस्कार पड़ जाते हैं वे बड़ी उमर में अपने अनुकूल देश, काल और अवस्था को प्राप्त कर के विकसित और फलीभूत होते हैं। अतः देश की दशा को उन्नत करने के लिये जो संस्कार हम नवयुवकों में देखना चाहते हैं वे बाल्यावस्था में ही माता पिता को अपनी सन्तानों में डालने चाहियें।

जिन समझदार माता पिता के कई सन्तानें हैं उन्हें इस बात का अवश्य पता होगा कि उन की विभिन्न मानसिक अवस्था में उत्पन्न हुई सन्तानें माता पिता की मानसिक अवस्था के अनुकूल अपने संस्कार रखती हैं। यदि माता पिता ने उत्तम गुणों से युक्त मानसिक स्थिति में गर्भाधान संस्कार किया है और गर्भस्थिति के पश्चात् ७,८ मास तक माता की मानसिक स्थिति उत्तम गुणों से युक्त रही है तो ऐसी अवस्था में जो सन्तान उत्पन्न होगी वह अवश्य उत्तम गुणों वाली होगी और इस से विपरीत अवस्था में विपरीत। इसलिये यदि देश में वर्तमान स्वतन्त्रता के युद्ध को सफल बनाने के लिये योग्य, क्षात्र-धर्म-युक्त व्यक्तियों की आवश्यकता है तो स्त्री-पुरुषों को उचित है कि क्षात्र-धर्म के भावों को मन में दृढ़ कर के नवीन आत्माओं का संस्कार करें और पश्चात् कम से कम सन्तानोत्पत्ति समय तक तो अवश्य ही क्षात्र—भाव को मन में स्फुरित रक्खें।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्रं धर्म स्वभावजम्॥

यदि शूरता, तेज, ओजस्विता, चतुराई और फुर्ती, मुकाबले में पीछे न हटना, ब्रह्मचारी, विद्वान् सन्यासी और दयनीय ग़रीबों को दान देना, स्वामी व मालिक बनने की इच्छा और गुलामी से नफ़रत इन भावों को मन में धारण करके स्त्री पुरुष नई सन्तति इस देश को देंगे तो वह सन्तति देश की पूर्ण स्वतन्त्रता को प्राप्त करने में जितनी सफल-प्रयत्न होगी उतनी सफलता संस्कारों से शून्य वर्तमान-सन्तति प्राप्त नहीं कर सकती।

सुश्रुत, शारीर-स्थान के द्वितीय अध्याय के ४१ वें श्लोक में स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार

के आहार, आचार और चेष्टाओं से युक्त स्त्री पुरुष मिलते हैं उनकी सन्तान भी वैसे ही आहार, आचार और चेष्टा वाली होती हैः—

आहाराचार चेष्टाभिर्यादृशीभिः समन्वितौ।
स्त्री पुंसौ समुपेयातां तयोः पुत्रोऽपि तादृशः॥

इसलिये इस समय सन्तानोत्पत्ति के सिद्धान्त को लक्ष्य में रख कर और यह समझ कर कि उत्तम से उत्तम भाव सन्तानों में इस उपाय से जिस सुगमता से उत्पन्न किये और बढ़ाये जा सकते हैं अन्य उपायों से शतगुण प्रयत्न करने पर भी नहीं किये जा सकते, उत्तम सन्तति को उत्पन्न करने वाली इस विद्या का शीघ्र और दृढ़-प्रयत्न से प्रचार करना चाहिये जिस से कि यह देश उत्तम नेता और अनुयायियों का हो कर पूर्ण स्वतन्त्रता को लाभ करे।

जीवन-विद्या का रहस्य

[ले० प्रिन्सिपल राधाकृष्ण जी B.Sc.(Hons.) M.B., B. S. (Hons.)]

इस बात की व्याख्या करने की आवश्यकता नहीं है कि 'शिशु' की उत्पत्ति के लिये माता तथा पिता—इन दो की ज़रूरत है, ये दोनों मिल कर बच्चे को उत्पन्न करते हैं। हम यह देखते हैं कि इन दोनों के स्थूल-शारीरिक-भाग, शिर, नाक, कान आदि बच्चे में स्थूलरूप से नहीं जाते क्योंकि ये भाग तो माता-पिता के साथ ही रहते हैं और अन्त में मृत हो जाते हैं। इसलिये मानना पड़ता है कि माता-पिता में कुछ और ही वस्तु है जो 'बालक' को बनाती है। वह क्या है, इस का उत्तर वैज्ञानिकों ने इस प्रकार दिया हैः—

प्रत्येक स्त्री तथा पुरुष का शरीर दो प्रकार की रचनाओं से बना हुआ है। ये रचनाएँ मनुष्य-शरीर को बनाने वाले दो प्रकार के 'कोष्ठक' हैं जो सैल (Cells) कहाते हैं। पहले प्रकार के कोष्ठकों का नाम 'सौमेटिक सैल' (Somatic cells)—शरीर कोष्ठक—तथा दूसरे प्रकार के कोष्ठकों का नाम 'जैनरेटिव सैल' (Generative cells) —उत्पादक-कोष्ठक—है। इन में से :—

१. जिन कोष्ठकों (Cells) द्वारा अस्थि-पञ्जर, मांस, रक्त-वाहिनियें, श्वास-प्रणालिका, भोजन-स्थान तथा हृदय आदि बनते है उन्हें 'शारीर-कोष्ठक' कहते है। ये ही मनुष्य के स्थूल-देह की रचना करते हैं और समयानुसार ४०-५० वर्ष, अथवा भिन्न २ मनुष्य की भिन्न २ आयु के अनुसार जीते हैं और फिर मर जाते हैं। परन्तु इस नाशवान् भाग के अन्दर एक और भाग रहता है,

२. जिसे 'उत्पादक-कोष्ठक' वा (Generative cells) कहते हैं। 'शारीर-कोष्ठ' का काम इन्हीं 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा करना है। मनुष्य के 'उत्पादक-कोष्ठों' को 'स्पर्मेटोज़ोआ' तथा स्त्री के 'उत्पादक-कोष्ठों' को 'ओवा' कहते हैं। यही 'उत्पादक-कोष्ठ' माता-पिता के शरीर से निकल कर माता के गर्भाशय में आ कर मिलते हैं और वहां जननी के रक्त से भोजन ले कर बढ़ते हैं। माता तथा पिता के इन दोनों 'उत्पादक-कोष्ठकों' के मिलाप से 'शिशु' बनता है।

'शिशु' के शरीर में 'उत्पादक-कोष्ठक' अपने सदृश दूसरे 'उत्पादक-कोष्ठों' को तो उत्पन्न करते ही हैं परन्तु साथ ही साथ 'शारीर-कोष्ठों' को भी उत्पन्न करते रहते हैं। ये 'शारीर-कोष्ठ' 'उत्पादक-कोष्ठों' की रक्षा करते रहते और स्वयं नष्ट होते रहते हैं; परन्तु मनुष्य के शरीर में 'उत्पादक-कोष्ठक' नष्ट नहीं होते। नष्ट होने के स्थान में 'उत्पादक-कोष्ठ' पिता से पुत्र, पुत्र से पौत्र और इसी प्रकार सन्तान से सन्तान में चले जाते हैं। यह बात निम्न चित्र-पट से स्पष्ट हो जायगी:—
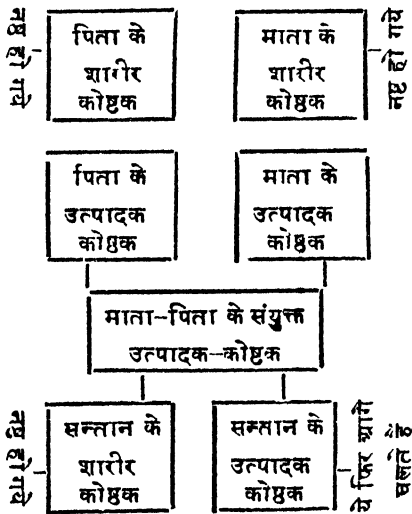
इस चित्र-पट से स्पष्ट हो गया होगा कि यद्यपि 'शारीर-कोष्ठक' 'उत्पादक-कोष्ठकों' का रक्षक तथा पोषक है तथापि स्वयमेव नाशवान है; इस के विपरीत 'उत्पादक-कोष्ठक' वंश में नित्य-परम्परा से चलते हैं। 'उत्पादक-कोष्ठकों' से 'शारीर-कोष्ठक' बनते हैं और बन सकते हैं परन्तु 'शारीर-कोष्ठकों' से 'उत्पादक-कोष्ठक' नहीं बनते और न बन सकते हैं। 'उत्पादक-कोष्ठक' तो नित्य हैं और वंश-परम्परा के रूप में अनादि काल से चले आ रहे हैं।

हम अभी कह चुके हैं कि 'शारीर-कोष्ठक' माता-पिता के साथ ही रहते हैं और उन के साथ ही मर जाते हैं। फिर क्या कारण है कि 'शारीर-कोष्ठकों' से बनी माता-पिता की आकृति के साथ पुत्र का आकृति मिलती दिखाई देती है? जब 'शारीर-कोष्ठक' माता-पिता से सन्तान में नहीं जाते और फिर भी पिता-पुत्र की आकृति बहुत मिलती है तो मानना पड़ेगा कि किसी सूक्ष्म-रूप में 'उत्पादक-कोष्ठक' ही माता-पिता की शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक अवस्थाओं को सन्तति में पहुँचा देते हैं। ये 'उत्पादक-कोष्ठक' क्या हैं, सारी नस्ल के इतिहास का अपने सूक्ष्म कन्धों पर लादे फिरने वाले कोई भार-वाहक हैं!

यह तो हम समझ चुके यही 'उत्पादक-कोष्ठक' सन्तान को उत्पन्न करते हैं और उस में पैतृक-गुणों का आधान करते हैं। अब हम ने यह देखना है कि क्या इन कष्ठोकों के भीतर भी कोई विशेष भाग होता है जिसे पैतृक-संस्कारों वा गुणों का विशेष रूप से वाहक कहा जा सकता है? इस के लिये वैज्ञानिकों ने अनेक परीक्षण किये हैं जिन्हें विस्तार-पूर्वक यहां लिख सकना सम्भव नहीं है। उन के परीक्षणों का सारांश यह है कि प्रत्येक 'उत्पादक कोष्ठक' (Generative Cell) के अन्दर एक अधिक-कठोर-केन्द्र होता है जिसे

'न्यूक्लियस' (Nucleus) कहते हैं। यह न्यूक्लियस छोटे २ दानों (Rods) से बना होता है। इन दानों को 'क्रोमोसोम्स' (Chromosomes) कहते हैं। परीक्षणों से सिद्ध हो चुका है कि यही कठोर-दाने, क्रोमोसोम्स, पैतृक-संस्कारों तथा गुणों के वाहक हैं। पुरुष के वीर्य (स्पर्मेटोज़ोआ) तथा स्त्री के रज (ओवा) के संयोग में दोनों के उत्पादक-कोष्ठकों के ये कठोर दाने भी संयुक्त—कोष्ठक (Fertilized Ovum) में मिल जाते हैं और माता तथा पिता दोनों के गुणों को मिला देते हैं।

यहाँ तक, हमें यह पता लग गया कि प्रत्येक पुरुष तथा स्त्री में अमर 'उत्पादक कोष्ठक' हैं जो निरन्तर वंश-से-वंश में धारा रूप में चले जाते हैं और 'क्रोमोसोम्स' के कारण पैतृक शारीरिक—अवस्था, मानसिक—गुणों तथा आत्मिक-संस्कारों के वाहक हैं। इतना समझ लेने से वंशानुक्रम के नियमों (Laws of Heredity) का समझ लेना कठिन नहीं रहता। वंशानुक्रम का क्या नियम है ?

वंशानुक्रमिता (Heredity) उस नियम को कहते हैं जो यह बतलाता है कि माता-पिता के गुण सन्तान में आते हैं और इसी लिये माता-पिता तथा सन्तान में असाधारण शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक समानता पायी जाती है। क्योंकि 'उत्पादक-कोष्ठक' अमर हैं और पिता-पितामह-प्रपितामह आदि सभी में से होकर चले आ रहे हैं इसीलिये कई बार पितामह तथा पुत्र में भी समानता पायी जाती है। यहां पर प्रश्न हो सकता है कि वंशानुक्रमिता के इस सिद्धान्त से तो पिता पुत्र में समानता ही पायी जानी चाहिये, अनेक स्थानों में विषमता क्यों पायी जाती है ? इस विषमता के निम्न कारण हैं:—

१. कुछ भेद तो सन्तान में इस लिये आ जाते हैं क्योंकि उस की स्थिति, शिक्षा तथा अवस्थाओं में माता-पिता की शिक्षा आदि से भेद होता है।

२. 'उत्पादक-कोष्ठकों' की रचना में भी भेद होता है। कई बड़े और छोटे होते हैं। इस कारण भी सन्तान में माता-पिता से भेद आ जाता है।

३. भेद का यह भी कारण है कि 'संयुक्त-उत्पादक-कोष्ठ' (Fertilized Ovum) में कई बार भिन्न २ प्रकार के 'क्रोमोसोम्स' आ जाते हैं जिन में से कुछ प्रभावशाली (Dominants) होते हैं और कुछ 'प्रभाव में आने वाले', प्रभावित या (Recessives) होते हैं। ऐसी अवस्था में प्रभावशाली क्रोमोसोम्स, प्रभावित क्रोमोसोम्स को दबा लेते हैं। उदाहरणार्थ, काले तथा नीले वर्ण के नेत्रों के माता-पिता से जो सन्तान होगी उसके नेत्र नीले भी हो सकते हैं, काले भी। नीले तब जब कि आंख की रचना में जिन क्रोमोसोम्स ने भाग लेना है उन में नीले संस्कार ही हों। यदि 'संयुक्त-उत्पादक-कोष्ठक' में नीले तथा काले दोनों रंगों को उत्पन्न करने वाले क्रोमोसोम्स मिल गये हैं तो सन्तान की आँख का रंग काला होगा, नीला नहीं, क्योंकि काले तथा नीले

के मुकाबिले में काला 'प्रभावक' तथा नीला 'प्रभावित' है। हाँ, इस सन्तान की अगली सन्तान में, माता-पिता दोनों की काली आंख होते हुए भी, नीली आंख आ सकती है, जिस का कारण माता-पिता में, काली आंखें होते हुए भी, नीला रंग उत्पन्न करने वाले काले क्रोमोसोम्स की मौजूदगी है। इस प्रकार यह समझना कठिन नहीं रहता कि एक ही माता-पिता की भिन्न भिन्न सन्तानों की आंखों का रंग भिन्न भिन्न क्यों होता है !

सन्तति-विज्ञान (Eugenics) का मुख्य उद्देश्य यह है कि वंशानुक्रम के सिद्धान्तों को (Principles of Heredity) समझते हुए ऐसा यत्न किया जाय जिस से 'प्रभाव-शाली' (Dominant) दुष्ट गुणों को सन्तति में न आने दिया जाय। यदि वे आ गये तो अच्छे 'प्रभावित-गुण' (recessives) भी उन से दब जायेंगे और हमारी नस्ल एकदम अवनति के गर्त में जा गिरेगी। उदाहरणार्थ, कोरिया (Chorea) रोग का दृष्टान्त दिया जा सकता है। इस रोग में मनुष्य के अङ्ग कांपने लगते हैं। यह रोग 'प्रभावशाली' (Dominant) है, और माता-पिता में से किसी एक में हो तो सन्तति में अवश्य पहुँचता है। यदि यह 'प्रभावित' (recessive) होता तो इतना भय नहीं था क्योंकि इस के अन्य 'प्रभाव-शाली गुणों' से दबने की आशा रहती। इस सिद्धान्त को समझ कर स्विटज़र-लैण्ड की सरकार ने १६०० में घोषणा कर दी कि कोई व्यक्ति जिसे कोरियो रोग हो, विवाह न कर सकेगा। जो लोग इस रोग से पीड़ित थे उन्हें अलग बस्ती में रखा गया। इस का परिणाम यह निकला कि १६१० में कोई व्यक्ति स्विटज़रलैण्ड में इस रोग से पीड़ित न रहा।

कहने का अभिप्राय यह है कि सब व्यक्ति अच्छे-बुरे गुणों के समूह हैं। इन गुणों में से कुछ 'प्रभावशाली' तथा कुछ 'प्रभावित' होते हैं। स्त्री-पुरुष का विवाह वास्तव में उन दोनों के गुणों का विवाह है, स्त्री-पुरुषों का संयोग भी उन के गुणों का संयोग है। इस दृष्टि से समझ आ सकता है कि पाधे-पुरोहित के लड़के-लड़की को देख लेने मात्र पर शगुन दे देना कितनी मूर्खता का कार्य है। विवाह के गुण-कर्मानु-सार होने का भी यही अभिप्राय है। सामाजिक दृष्टि से हमें सावधान रहना चाहिये कि केवल अच्छे गुणों का ही परस्पर मेल हो; यदि कहीं स्त्री-पुरुष में बुरे गुण मोजूद हों तो वे ऐसे होने चाहियें जो 'प्रभावित' (recessive) हों, जिन्हें अन्य प्रबल गुणों द्वारा द-बाया जा सके, जो निर्बल होने के कारण सन्तान में न आ सकें और हमारी नस्ल को न बिगाड़ सकें।

माता-पिता के गुणों को निम्न-लिखित तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

१. शारीरिक—इस में चेहरे की रचना, नेत्रों का रङ्ग, केश, त्वचा आकार, भार, शक्ति, बल, सहन-शक्ति, फुर्ती, साधारण-स्वास्थ्य, शब्द, स्वर, मांस, रक्त, ग्रन्थियें, श्वास तथा भो-

जन प्रणाली, अस्थियें, उत्पादक अङ्ग आदि सम्मिलित हैं।

२. मानसिक--इस में गायन, चित्र-कला, साहित्य-सम्बन्धी योग्यता, गणित, अन्वेषण-शक्ति, उपहास शक्ति, क्षात्रपन, ध्यान, मनन, मित्रता, गल्प-शक्ति, कविता, वक्तृत्व--शक्ति लेखन-शक्ति, विचार शक्ति, मानसिक निर्बलता, उन्माद, मृगी आदि सम्मिलित हैं।

३. आत्मिक—इस में पवित्रता, उदारता, भक्ति, सुशीलता, विश्वासपात्रता, सहानुभूति, प्रेम, दुष्ट-व्यवहार, शठता, लज्जा, भय, शोक, गर्व, उद्दण्डता, क्रोध आदि सम्मिलित हैं।

माता-पिता के मिलने से सन्तान में ये ही शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुण आते हैं परन्तु उन में नियामक वही असूल है जिसका हम ऊपर वर्णन कर आये हैं। जो 'प्रभावक गुण' हैं वे दूसरों को दबा कर अपनी सत्ता को मानव-जाति में दर्शाते रहते हैं। जीवन-विद्या के इस रहस्य को समझते हुए हमें अपनी नस्ल का सुधार करना चाहिये। जिस प्रकार के शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक गुणों को हम नस्ल में डालना चाहिये उसी प्रकार के गुणों का स्त्री-पुरुषों में संग्रह करना चाहिये। इसी प्रकार हमारी नस्ल का भला हो सकता है, दूसरी प्रकार नहीं!

माता का बच्चे पर प्रभाव

[एक आर्यसिद्धान्ती]

अङ्गादङ्गात् संभवसि हृदयादधिजायसे ।
आत्मा वै पुत्र नामासि स जीव शरदः शतम् ॥

जो परोपकारी पुरुष निःस्वार्थ भाव से युवा-पुरुषों के सुधारने का यत्न करते हैं, वे मान्य हैं। जो अपनी सारी शक्ति को शिक्षणालयों में बच्चों के शिक्षण और आचार सुधार में खर्च कर देते हैं वे उन से भी अधिक आदर के योग्य हैं। परन्तु वे पुरुष जो अपने प्रयत्न से गर्भस्थ बालक के शरीर, मन और आत्मा को सुधारने में सदा लगे रहते हैं, वे सब से अधिक आदरणीय हैं। यह काम केवल बालक के माता पिता ही कर सकते हैं। गर्भ-काल से लेकर प्रसव-काल पर्यन्त माताएं जिन परिस्थितियों में रहती हैं उन का बालक के शरीर और मन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। उस समय माता की जो २ अभिलाषाएँ और प्रवृत्तियें होती हैं वे बालक को विरासत में प्राप्त होती हैं। माता की प्रबल इच्छाओं द्वारा बालक के मस्तिष्क की रचना इस प्रकार की हो जाती है कि उस में वही इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं जो माता की थीं। बालक, माता-पिता के विचारों, उनकी इच्छाओं और प्रवृत्तियों के पुतले होते हैं। कई बार माता पिता के प्रभाव बच्चे पर इतने दृढ़ हो जाते हैं कि उन

का दूर करना असम्भव हो जाता है। इसी लिए मनु महाराज लिखते हैं:—

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥

इसी की पुष्टि में पाठकों के सामने कुछ सच्ची घटनाएँ रखी जाती हैं जो इस बात पर अच्छा प्रकाश डालती हैं:—

(१) एक जहाज़ी-कप्तान कभी शराब न पीता था। दैवयोग से अपने विवाहोत्सव के समय पर अपने चाचा के आग्रह से वह शराब की बोतलें चढ़ा गया और नाच-रंग में शामिल हुआ। उसी दिन स्त्री-पुरुष का संयोग हुआ और गर्भ भी ठहर गया। अगले दिन जहाज़ ने अपने स्थान के लिए प्रस्थान कर दिया। इधर, नियत मास के अनन्तर घर में लकड़ी पैदा हुई। यह बिना किसी कारण नाचती और तालियां पीटा करती थी। चलने में उन्मत्त पुरुष की भांति चलती थी। अपने नाचते हुए शराबी पिता की बिल्कुल नाचती हुई और उन्मत्त फ़ोटो थी।

(२) एक सगर्भा-स्त्री को "जिन" नामक शराब पीने की उत्कट इच्छा उत्पन्न हुई, किन्तु किसी कारण उस की यह इच्छा पूरी न हो सकी। कुछ महीने बाद बच्चा पैदा हुआ जो लगातार सात-आठ दिन तक रोता रहा। अनेक चेष्टाओं के निष्फल होने पर उसे "जिन" शराब दिया गया। "जिन" के दिये जाते ही उस का रोना तत्काल बन्द हो गया।

(३) एक दम्पति को गणितशास्त्र में कुछ भी रुचि न थी। उन्हों ने व्यापार आरम्भ किया परन्तु आंखों में दर्द हो जाने के कारण पति को वह काम छोड़ना पड़ा। तब उस की धर्म-पत्नी ने वह काम संभाला और सब हिसाब किताब पूरा करने लगी। इस कार्य-तत्परता के कारण दिनों दिन व्यापार बढ़ने लगा। व्यापार के बढ़ने से उस का सारा समय व्यापार में बँटा रहता था। इन्हीं दिनों उस घर में एक कन्या का जन्म हुआ जो बचपन में ही गणित-शास्त्र में प्रवीण निकली और नौ वर्ष की उम्र में ही सब हिसाब किताब कर लेती थी।

(४) डा० चेपीन लिखते हैं कि एक स्त्री के सन्तान उत्पन्न हुई जो सर्वथा मूर्ति के समान थी। कारण ढूंढते हुए ज्ञात हुआ कि उक्त स्त्री ने गर्भवास के दिनों में एक मूर्ति का बहुत ध्यान पूर्वक अवलोकन किया था।

(५) एक स्त्री गर्भावस्था में अपने पति के सन्दूक में से रुपया चुराया करती थी—उस से जो बालक उत्पन्न हुआ वह पूरा माता के अनुरूप था। उस की चोरी अपने सम्बन्धियों में सीमित थी। अपने सम्बन्धियों के सिवाय वह किसी दूसरे की चोरी न करता था।

(६) मि. सी. जे. वेयर एक स्त्री के विषय में लिखते हैं—"एक दिन उस की सहेलियों ने उस की ओर अङ्गुली से इशारा करके कहा कि क्या तूं अपने से लजाती नहीं। जब वे चली गईं तब वह बेचारी अपनी सहेलियों की बात को याद कर के खूब रोने लगी। जब बालक पैदा हुआ, उस की यह हालत देखी गई कि जब कोई नवागत इसे अङ्गुली दिखाता तो ज़ोर २ से

रोने लगता था और चुप न होता था।"

(७) एक गर्भवती स्त्री की दाईं पिण्डलियों में एक कुत्ते ने काट खाया। पहले तो कुछ माता को भय हुआ कि कहीं बच्चे पर बुरा प्रभाव न पड़े परन्तु वे निशान कुछ दिनों में स्वयं गायब हो गये इसलिये वह निश्चिन्त हो गई। कुछ महीनों बाद जब बालक पैदा हुआ तो उस की दाईं पिण्डली में कुत्ते के चक्र के वैसे ही निशान पाये गए जो कुछ समय बाद गायब हो गए।

(८) अमेरिका के भूतपूर्व प्रेज़ीडैन्ट गारफ़ील्ड के घात में 'गीट्र' नामक एक व्यक्ति कारण कहा जाता है परन्तु वास्तव में उस की माता को कारण कहा जाना चाहिये। 'गिट्र' का पिता अच्छे स्वभाव का था। परन्तु जब उस की माता को गर्भ हुआ वह दुर्बल और कुछ २ बीमार थी। उस ने नाना प्रकार की औषधियों से गर्भपात करना चाहा परन्तु वह इस कार्य में सफल न हुई। उन दिनों वह बे-चैन और दुःखी सी रहती थी। जो बच्चा पैदा हुआ वह निर्लज्ज, कमज़ोर तथा निर्दयी निकला और उसी ने गारफ़ील्ड का बध किया।

(९) एक सगर्भा स्त्री, जिस का शरीर खूब मज़बूत था, प्रतिदिन अपने पति के साथ मैदान मे जाया करती और वहां फ़ौजों की कवायद देखा करती थी। वहां के अद्भुत नज़ारों को देख कर और जोशीले सैनिक गीतों को सुन कर उस के हृदय में जोश की लहरें प्रबल हो उठीं और दिन-प्रतिदिन उस की सैनिक कार्य में रुचि बढ़ने लगी। कुछ समय बाद उस ने एक बालक को जन्म दिया जिसे सारा संसार-'नैपोलियन बोनापार्ट' के नाम से याद करता है।

(१०) प्रिन्स बिस्मार्क के नाम से शिक्षित समुदाय अपरिचित नहीं। कहा जाता है कि जब वह अपनी माता के पेट में था उस समय अपने घर के द्वार पर लगे हुए नैपोलियन की सेना की तलवारों के चिन्हों को देख कर उस की माता के हृदय में फ्रांस का बदला लेने की इच्छा प्रबल हो उठती थी। माता की इच्छा को प्रिंस बिस्मार्क ने पूरा कर अपने देश का नाम उज्वल किया।

(११) एक स्त्री अपने विषय में लिखती है—"मेरे तीनों बच्चे मेरी गर्भवास के समय की भिन्न २ अवस्थाओं का बोधन कराते हैं। पहला बच्चा जब मेरे गर्भ में था, मैं सदा सुप्रसन्न रहा करती थी, अतः वह सर्वथा नीरोग, अत्यन्त सुन्दर, सुशील और बुद्धिमान् पैदा हुआ। परन्तु दूसरा बच्चा जब मेरे पेट में था, मैं अपने पति को दुर्व्यसनी देख कर सदा खिन्न और उदास रहा करती थी। इसी अवस्था में दूसरे बच्चे ने वृद्धि पाई और जन्म लिया जो सर्वथा मेरी उस समय की स्थिति के अनुकूल है। तीसरे बच्चे की उत्पत्ति के समय मेरे पति के दुर्व्यसनों के बढ़ जाने के कारण घर की आर्थिक दशा शोचनीय हो गई। बात बात में कठिनाइयां उपस्थित होने लगीं। मेरा विनोदी और प्रसन्न स्वभाव निराशा और शोक में परिणत

हो गया। अतएव मेरा तीसरा पुत्र रोगी, दुर्बल और निराशा तथा शोक का अवतार-रूप उत्पन्न हुआ।"

(१२) अमेरिका में एक दम्पति ने अपनी भावी सन्तान का नाम चार अक्षरों का चुना था। जब लड़का उत्पन्न हुआ तब वही चार अक्षर उस की दोनों आंखों में अङ्कित दीख पड़े। लड़के की आंखें डाक्टर को दिखाई गईं, उस ने कहा, इन अक्षरों से देखने में कोई रुकावट न पहुँचेगी।

पाठकगण ! इन उदाहरणों से आप भली भांति जान गए होंगे कि गर्भवास के समय माता का बच्चे पर कितना दृढ़ प्रभाव पड़ता है। अब आप के सामने एक-दो ऐसी माताओं का उदाहरण रखा जाता है जिन्होंने इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रख कर अपनी अभिलाषानुसार पुत्र-लाभ किया है:—

(१) एक स्त्री कहती है— "मेरे प्रथम पुत्र के प्रसव काल के केवल एक मास पहिले मुझे यह बात ज्ञात हुई कि मनः शक्ति द्वारा इच्छा अनुसार गुणों वाली सन्तान पैदा की जा सकती हैं; किन्तु जन्म समय के अत्यधिक निकट होने के कारण बच्चे पर अपनी मनः शक्ति का प्रभाव न डाल सकी।

"परन्तु जब दूसरा पुत्र मेरे गर्भ में आया तो मेरी प्रबल इच्छा हुई कि उसे उत्तम और प्रभाव शाली वक्ता बनाऊं। मैं प्रसिद्ध २ वक्ताओं के भाषण सुनने जाया करती और उन्हें ध्यान पूर्वक सुना करती थी। सुयोग्य वक्ताओं और लेखकों के लेख और कविताएं पढ़ती और अपने लक्ष्य का ध्यान रखती! इसी तरह करते २ गर्भवास पूरा हुआ और पुत्र का जन्म हुआ। उस में वक्तृत्व शक्ति ने आशातीत विकास पाया था।

"तीसरे पुत्र के गर्भ में आने के समय मेरी इच्छा हुई कि उसे कुशल-हस्त और प्रवीण चित्रकार बनाऊं। इसी इच्छा से मैं बड़े २ शहरों में जा कर वहां के बड़े २ चित्रालयों को ध्यान पूर्वक सूक्ष्म-दृष्टि से देखती थी और स्वयं भी उन का अभ्यास किया करती थी। समय पर मेरे तीसरे पुत्र का जन्म हुआ जिस ने मेरी आशाओं को पूरा किया। मैं निश्चय-पूर्वक कह सकती हूँ कि गर्भावस्था में मैंने जिस २ विषय में अपने मन को लगाया उस उस विषय में सन्तान योग्य उत्पन्न हुई।"

(२) चार्ल्स किंग्स्ले जब गर्भ में था तब उस की माता ने यह विचार कर कि इस अवस्था में मेरे आचार विचार का मेरे पुत्र पर असर होगा अपने हृदय में वैराग्य और धर्मवृत्ति को विकास दिया। नगर छोड़ कर ग्राम में साधु-भाव से रहने लगी और वहां प्राकृतिक दृश्यों को देख कर ईश्वर की महिमा पर मुग्ध हुआ करती। इसी प्रकार समय बिताते २ प्रसवकाल आ पहुंचा और महात्मा चार्ल्स किंग्स्ले का जन्म हुआ जिस ने सृष्टि सौन्दर्य पर महत्व-पूर्ण ग्रन्थ लिखा और एक प्रतिष्ठित धर्माध्यक्ष के रूप में यश प्राप्त किया।

इसी प्रकार यदि सब माताएँ उपर्युक्त सिद्धान्तों को समझ कर अपने बालकों को अच्छे मार्ग में प्रवृत्त कराने

और सुयोग्य बनाने का यत्न करें तो वह समय दूर नहीं जब यह कहना कठिन हो जायगा कि संसार दुःखों और पापों का घर है। संसार को स्वर्ग वा नरक बनाना हमारे अपने हाथ में है क्योंकि हमीं अपने भाग्यों के विधाता हैं!

—*—

'युजैनिक्स' और 'संस्कार प्रणाली'

(ले० प्रिन्सिपल रामदेव जी, आचार्य, गुरुकुल कांगड़ी)

सब से अजीब बात यह है कि जिन बातों को हम जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक समझते हैं, उन्हें भी नहीं करते। कौन नहीं जानता कि चिरायु होने के लिये स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों का पालन करना आवश्यक है, फिर भी कितने भद्र-लोग हैं जो इन नियमों का पालन करते हैं? इस का कारण यह है कि मनुष्य लाभ-दायक कार्य करने की तरफ़ उतना प्रवृत्त नहीं होता जितना रोचक तथा सुगम कार्यों को करने के लिये! हैवलौक इलिस महोदय ने मनुष्य की इस प्रवृत्ति को देख कर यह परिणाम निकाला है कि मानव-समाज से कोई काम कराना हो तो सर्वोत्तम उपाय यह है कि उसे धर्म का अङ्ग बना दिया जाय। अनेक व्यक्ति मांस-भक्षण बुरा समझते हैं परन्तु प्रलोभन उपस्थित होने पर गिर जाते हैं। हाँ, क्योंकि जैनियों ने मांस न खाने को धर्म का अङ्ग बना दिया है अतः वे सैंकड़ों संकटों के आ पड़ने पर भी मांस को नहीं छूते। इसी प्रकार मांसाहारी मुसल्मान सब कुछ खा जाते हैं परन्तु क्योंकि सूअर का मांस उन के धर्म में निषिद्ध है अतः उसे हाथ नहीं लगाते।

पाश्चात्य-देशों में 'सन्तति-विज्ञान' का बहुत शोर मच रहा है परन्तु इस विज्ञान के नियमों को वे जीवन में सरलता-पूर्वक नहीं घटा सकते। प्राचीन-भारत के ऋषियों ने 'सन्तति-विज्ञान' के नियमों को धर्म का अङ्ग बना कर इसे 'संस्कारों' के रूप में घर २ प्रचलित कर दिया था। यही कारण है कि आज इस गिरे हुए ज़माने में भी जहां भारत का बच्चा २ ब्रह्मचर्य्य के नाम से परिचित है वहां अभी पाश्चात्य देशों में यही विवाद चल रहा है कि कहीं यह अवस्था काल्पनिक तो नहीं?

वैदिक-ऋषियों ने किस प्रकार 'सन्तति-विज्ञान' अथवा 'नस्ल-सुधार' के प्रश्न को जीवन का अङ्ग बना लिया था, इसे दर्शाने के लिये हम सोलह संस्कारों में से पुंसवन तथा सीमन्तोन्नयन — इन दो ही संस्कारों का यहां निर्देश-मात्र करना चाहते हैं:—

माता-पिता की शारीरिक तथा मानसिक अवस्थाओं का प्रभाव गर्भस्थ-बालक पर बड़े प्रबल रूप में पड़ता है। इस प्रकार के प्रभावों का नाम सन्तति-शास्त्रज्ञों ने 'गर्भावस्था के प्रभाव' (Anti-natal influences) रखा है। गर्भ के पहले दिनों में बच्चे का शरीर बन रहा होता है और माता की शारीरिक अवस्थाओं का उस पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इसी लिये उन्हीं दिनों में

पुंसवन

संस्कार किया जाता है। इस संस्कार की विशेषताएँ निम्न लिखित हैं:—

१. इस समय जननी के स्वास्थ्य का विशेष ध्यान रखा जाता है। उस के दिमाग़ में यह बात बैठा दी जाती है कि यह स्वास्थ्य उसे अपने लिये ही नहीं चाहिए, अपितु राष्ट्र की जिस अमूल्य सन्तान को उत्पन्न करने की उस पर ज़िम्मेवारी डाली गई है, उस के लिये भी जननी का स्वस्थ रहना नितान्त आवश्यक है। उस का बच्चा, जाति का रत्न है, परमात्मा की उस के पास रखी धरोहर है, अपने लिये नहीं तो उस के लिये ही माता अपने स्वास्थ्य की रक्षा करे! देश की भावी आशाओं के पुञ्ज-स्वरूप-बालक को जन्म देने वाली माता इन विचारों में इतनी निमग्न हो जानी चाहिये कि घी के कटोरे में जब उसे मुख दिखा कर पूछा

जावे कि, "देवि ! तू घी में क्या देखती है ?" तो उस का स्वाभाविक, सहज उत्तर यही हो कि, "मैं इस में अपनी सन्तान देखती हूं" ! पुंसवन-संस्कार से माता की दृढ़ धारणा हो जानी चाहिए कि वह अपने लिये नहीं, प्रत्युत् अपनी सन्तान के लिये जी रही है। कैसा शुभ संकल्प है ? यदि सब माताएँ इस भाव से भर जायँ तो देश हमारी आँखों के सामने उठने लगे !

२. पुंसवन-संस्कार एक प्रकार की पिता द्वारा यह सार्व-जनिक घोषणा भी है कि वही इस सन्तान का न्यायोचित पिता है। यह बच्चे के अधिकारों के सामने सिर झुकाना है। उत्तम भोजन, छादन, शिक्षा आदि प्रत्येक बच्चे के जन्म-सिद्ध अधिकार हैं। प्रत्येक सन्तान-उत्पन्न-करने-वाला पिता बच्चे के इन अधिकारों को समझ कर उसे इस संसार में निमन्त्रण देने का हक्क रखता है, नहीं तो उसे पिता बनने का अधिकार नहीं ! इस सार्वजनिक घोषणा का यह भी अभिप्राय है कि पाश्चात्य लोगों की तरह पिता, गर्भावस्था में अपने बच्चे को अरक्षित नहीं छोड़ सकता। समाज का भय उस के सन्मुख सदा बना रहता है।

इस के साथ ही इस संस्कार से बच्चे के एक और भारी अधिकार की खुली घोषणा और खुली स्वीकृति की जाती है। वह अधिकार निरबाध-जीवन का है। बच्चे के इस अधिकार की घोषणा कर के माता-पिता को भ्रूण-हत्या करने के पाप का साहस नहीं हो सकता। 'पुंसवन' गर्भस्थ बच्चे का 'मैग्ना चार्टा' है ! बच्चा जन्म लेने से पहले ही अपने स्वतः सिद्ध अधिकारों की घोषणा करता हुआ चला आता है।

गर्भ के छटे व आठवें मास में बच्चे का दिमाग़ विकसित होने लगता है। इसी लिये उस समय के पहुंचते ही

सीमन्तोन्नयन

संस्कार किया जाता है। इस संस्कार की विशेषता पुंसवन से कम नहीं है।

जिस समय गर्भ-स्थित बालक का मस्तिष्क बनने लगता है उस समय आवश्यक है कि जननी मानसिक शक्तियों पर विशेष ध्यान दे क्योंकि उसी का तो बच्चे के मानसिक विकास पर प्रभाव पड़ता है। इस समय जननी को शिक्षा दी जाती है कि वह उत्तम उत्तम पुस्तकों का अध्ययन करे, धार्मिक उपदेश सुने, सुन्दर दृश्यों को देखे और जिस प्रकार की मानसिक प्रवृत्ति बच्चे में उत्पन्न करना चाहे उसे अपने में धारण करे।

ये दो संस्कार तो गर्भ से पूर्व अवस्था के हैं। गर्भोत्तरावस्था में भी शिशु के पालन में अनेक सावधानताओं के रखने की आवश्यकता है जिन्हें ऋषियों ने भिन्न २ संस्कारों के रूप में प्रत्येक गृहस्थी के लिये आवश्यक बना दिया है। संस्कार गर्भोत्तरावस्था के प्रभावों (Post- Natal influences) को दृढ़ करने के लिये चलाये गये हैं।

ऋषियों ने बच्चे के उत्पन्न करने के कार्य को कलङ्कित नहीं ठहराया। उन्हों ने इस संस्कार को छिपाया नहीं, अपितु इसे उच्च तथा पवित्र आदर्शों में रच दिया है। जो माता-पिता सदाचार-पूर्वक जीवन व्यतीत करने के अनन्तर सद्भावों के बीज-स्वरूप पुत्र रत्न को लेकर समाज के चरणों में भेंट के रूप में धर सकते हैं उन्हें प्रसन्न-चित्त तथा प्रफुल्ल-वदन होना चाहिए क्योंकि वे श्रद्धा, भक्ति तथा आत्म-त्याग को लेकर इस भारी बोझ को अपने कन्धों पर उठाते हैं, विषय-वासना की तृप्ति के लिये नहीं। जिस प्रकार ऋषियों ने 'सन्तति-विज्ञान' को धर्म के साथ जोड़ कर उसे जीवन का आवश्यक अङ्ग बनाया है, यदि उसी प्रकार भारत में संस्कारों की इस प्रथा का पुनरुज्जीवन हो तो अपने देश का कल्याण हो सकता है और इसी प्रकार ऋषियों के चरण चिन्हों पर चलने से 'युजैनिक्स' का शोर मचाने वाले पाश्चात्य लोगों का भी कुछ बना सकता है।

सम्पादकीय

अलङ्कार का सन्तति-शास्त्राङ्क

आज हम हिन्दी-जगत् के सन्मुख एक नवीन उपहार लेकर उपस्थित होते हैं। 'सन्तति-विज्ञान' का विषय हमारे साहित्य में अभी तक प्रविष्ट नहीं हुआ, इस लिये 'सन्तति-शास्त्र-विशेषाङ्क' का जनता के सन्मुख रखा जाना अवश्य अपनी ही नवीनता रखता है। परन्तु नवीन होते हुए भी इस विषय की यह विशेषता है कि शिक्षित-अशिक्षित, रङ्क-राजा—सभी के लिये इसका ज्ञान एक-समान आवश्यक है। अपने देश में इस विषय पर बहुत थोड़ा साहित्य है। जीवन के इस सब से अधिक आवश्यक प्रश्न को अब देर तक उपेक्षा-वृत्ति से नहीं देखा जा सकता। यह जानते हुए कि भावी समाज का बनाना हमारे अपने हाथ में है, किसी अलंकार के रूप में नहीं परन्तु ठीक इसी रूप में जैसे एक मट्टी के खिलौने का बनाना हमारे अपने हाथ में है, हम किन आँखों से देश के सम्पत्ति-रूप सन्तति-धन की वर्तमान दुर्दशा देख सकते हैं? हम अपने भाइयों को बतला देना चाहते हैं कि वे स्वयं अपने भाग्यों के भगवान् हैं, स्वयं अपने हाथों से भारत-जननी के चिन्ताकुल मस्तिष्क पर विजय-तिलक लगा सकते हैं; अपने अपाहिजपन के लिये दूसरों को कोसना सृष्टि के रचने वाले के साथ अन्याय करना है। हम अपनी ऊँची से ऊँची आवाज़ उठा कर संसार के प्रत्येक माता-पिता के कानों में ये शब्द पहुंचा देना चाहते हैं कि यदि आज दुनियाँ का कोई कोना उन्नति कर रहा है तो उन की बदौलत, अवनति कर रहा है तो उन की बदौलत, वहाँ का वहीं खड़ा हुआ है तो भी उनकी बदौलत! इन्हीं भावों से 'अलङ्कार' का यह 'सन्ततिशास्त्र-विशेषाङ्क' निकाला गया है।

नया पहलू

हम इस बात को स्वीकार करते हैं कि आर्थिक-अवस्था के बिगड़ जाने से, पेट की ही खातिर, अनेक भाइयों तथा बहिनों को घोरतम, लज्जा-जनक, नारकी पाप करने पड़ते हैं। देश की आर्थिक-अवस्था को सुधारने के लिये जो लोग दिन-रात एक करके लगे हुए हैं, उन के लिये हमारे हृदय में बहुत ऊँचा स्थान है। हम यह भी जानते हैं कि हमारे हाथ में राजनैतिक अधिकारों के न होने के कारण हम निस्सहाय और दयनीय दशा में हैं। वैय्यक्तिक तथा सामाजिक अधिकारों के लिये छिड़े हुए महायुद्ध में जो लोग कर्तव्य परायण सिपाही की तरह डटे हुए हैं उन देशभक्तों के असीम साहस के लिये हमारे मुख से प्रशंसा के स्तोत्र निकलते हैं। हम इस बात को भी भलीभान्ति मानते हैं कि सामाज़िक कुरीतियों को, भारत-व्यापी अविद्या को, जड़ से उखाड़े बिना इस देश का कुछ नहीं बन सकता। जो लोग धर्मोपदेशक, सुधारक तथा शिक्षक के रूप में देश की मरणासन्न जीवनी-शक्ति के संग्रह में लगे हुए हैं उन के लिये हमारा मस्तक

नत हो जाता है। हम इन सब कार्यों में कोई परिवर्तन नहीं चाहते; केवल अपने सर्वनाश को देख कर अपनी अवस्था पर विचार करने के लिये देश के सन्मुख एक 'नया पहलू' रखना चाहते हैं। निस्सन्देह आर्थिक-अवस्था को सुधारा जाय, राजनैतिक अधिकारों के लिये लड़ा जाय, धर्म तथा शिक्षा का प्रचार किया जाय, परन्तु हम यह स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित कर देना चाहते हैं कि यह सब-कुछ करते हुए इन की भी जड़, 'बीज-सुधार' को न भुलाया जाय। इतना ही नहीं; इस के विपरीत हमारे सम्पूर्ण दृष्टि-कोण के बदले जाने की आवश्यकता है, हमें सब सुधारों पर 'बीज-सुधार' के नये पहलू से विचार करने की ज़रूरत है। इस नये पहलू को देश के कार्य-क्रम का इतना ही बड़ा हिस्सा बनाया जाना चाहिये जितना हम आर्थिक अवस्था के सुधार, अधिकारों के लिये लड़ाई, धर्म तथा शिक्षा के प्रचार आदि को बनाते हैं। हमें समझना होगा कि पौदे को जड़ों से खींच खींच कर लम्बा नहीं किया जा सकता, उस के पत्तों पर घी-शक्कर पोतने से उन्हें हरा नहीं बनाया जा सकता; जड़ में, बीज में परिवर्तन करने की आवश्यकता है। घुन लगे हुए बीज की कितनी ही रक्षा क्यों न कर ली जाय, उस से बढ़ा हुआ वृक्ष अपनी शाखाओं को इतना नहीं फैला सकता कि सायंकाल घौंसलों को लौटती हुई चिड़ियाओं के झुण्डों को बसेरा दे सके और थके हुए राहगीरों के विश्राम के लिये अपनी छाया फैला सके!

एक संघ

इस अवस्था को समझ कर इस समय उन नौ-जवानों के एक संघ बनने की आवश्यकता है जो 'सन्तति-शास्त्र' के जीवन-प्रद नियमों को क्रियात्मक रूप देने का प्रण कर लें और ऋषियों के इस सन्देस को भारत के कोने कोने तक पहुँचा कर दम लें। यह देश के दुर्लक्षण हैं कि युरुप में प्रचलित, विषय-वासनाओं को बढ़ाने वाले, नस्ल को नष्ट-भ्रष्ट कर देने वाले, 'सन्तति-निग्रह' के अश्लील तथा अमानुषिक उपायों की यहां चर्चा चल पड़ी है। ब्रह्मचर्य्य के गीत गाने वाले भारत में इन अनर्थकारी विचारों की धीमी धीमी आवाज़ का उठना भी गौरव-गिरि के उच्च शिखर से पाप-पङ्क में गिरने से भी भयंकर है। जो लोग ऐसे विचार फैलाते हैं वे नव-युवकों की छिपी हुई निस्सीम शक्तियों पर नाहक अविश्वास करते हैं। नव-युवकों का कर्तव्य है कि अपनी जननी, जन्म-भूमि के उज्वल-गौरव की रक्षा के लिये नस्ल-सुधार के प्रश्न को अपने, जाति और देश के, जीवन-मरण का प्रश्न समझें और जिस प्रकार भी हो सके देश की इस मांग को भारत के एक २ पुरुष और एक २ स्त्री पर प्रकट कर दें। जो व्यक्ति इस प्रश्न को उतना ही आवश्यक समझते हैं जितना हम समझते हैं उन्हें खुला निमन्त्रण है कि वे 'सन्तति-सुधार-संघ' (Race Betterment Association) के सदस्य बन जांय और इन विचारों को क्रियात्मक रूप देने के उपायों पर चर्चा करें।

भावी कार्य-क्रम

'सन्तति-सुधार-संघ' (Race Betterment Association) का विस्तृत कार्य-क्रम जब बन जायगा तब उसे जनता के सन्मुख रख ही दिया जायगा। उस से पूर्व यह आवश्यक है कि इस कार्य के लिये जो व्यक्ति सहोद्योग से काम करना चाहें वे परस्पर सम्पर्क में आ जावें और इस विषय की किसी प्रकार की चर्चा को चलावें। अभी तक इस 'संघ' का कार्यालय गुरुकुल-काँगड़ी में ही रहेगा। सब प्रकार के निर्देशों पर विचार किया जायगा। जो महानुभाव इस कार्य में हिस्सा लेना चाहें वे सम्पादक "अलंकार" के साथ पत्र-व्यवहार करें और 'सन्तति-सुधार संघ' के, जिस का उद्देश्य नस्ल की तरक्की के उपायों तथा उस के प्रचार के साधनों पर विचार कर उन्हें क्रियात्मक रूप देना होगा, मैम्बर बन जायँ। पत्र-व्यवहार की सुविधा के लिये एक आने का टिकट भेज देने से 'संघ' अनावश्यक आर्थिक बोझ से बच सकेगा। अभी तक 'सन्तति-सुधार-संघ' के भावी कार्य-क्रम के विषय में इतना ही कहा जा सकता है।

इन विचारों के साथ हम पाठकों को निश्चय दिलाते हैं कि 'अलंकार' का यह प्रथम 'सन्तति-शास्त्र-विशेषाङ्क' अन्तिम न होगा, अपितु इसी सिलसिले में अन्य भी विशेषाङ्क उन के सन्मुख प्रस्तुत किये जायँगे।

—*—

गुरुकुल-समाचार

ऋतु—सर्दियां अच्छी तरह पड़ने लग गई हैं। अचानक ऋतु परिवर्तन से आस-पास के ग्रामों में नमूनिया तथा इन्फ्लुएन्जा फैला हुआ है परन्तु गुरुकुल में अब तक कोई रोगी नहीं हुआ। रोगी-गृह खाली पड़ा है।

सभायें—परीक्षा समीप होने के कारण सभाओं ने अपने साधारण अधिवेशन स्थगित कर दिये हैं। परन्तु फिर भी विशेष विशेष अवसरों पर अधिवेशन होते ही रहते हैं। पिछले तीन सप्ताह निरन्तर पं० देवशर्मा जी विद्यालङ्कार, उपाचार्य, गुरुकुल विश्वविद्यालय के 'भारत में यज्ञ की कमी' विषय पर निबन्ध हुये। इस सप्ताह पं० नन्दलाल जी खन्ना एम.ए.,एल-एल.बी. का 'पुनर्जन्म' पर निबन्ध हुवा। अगले सप्ताह 'महा० वाग्वर्धिनी सभा' का जन्मोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया जावेगा। एक दिन 'कौलेज कौंसिल' में पं० सांभीराम जी एम.एस.ए. (अमेरिका) ने अमेरिका की शिक्षापद्धति पर अपने विचार उपस्थित किये।

जङ्गल में रात—गुरुकुल में बालचर-विद्या (बॉय-स्काउट) का शिक्षण बड़े उत्साह के साथ हो रहा है। पं० सांभीराम जी बड़े प्रेम के साथ कुलवासियों को बालचर-विद्या सिखा रहे हैं। इसी सम्बन्ध में पिछले सप्ताह सब बालचर समीप के जङ्गल में 'हाइकिंग' के लिये गये। सब बालचरों ने अपने भारी भारी बिस्तर पीठ पर लटकाये हुवे थे। सब के हाथों में डण्डे थे। नियमपूर्वक बालचर के गीत आदि गाते हुवे सब लोग पंक्ति बांध कर जङ्गल में गये। वहां जा कर रात को रहने के लिये जंगल से फूंस, बल्लियां आदि काट कर झोंपड़ियां बनाईं। भोजन भी अपने हाथ से ही बनाया। सब कार्य अपने आप ही किया गया। रात बड़े आनन्द से जंगल में ही

बिताई। कहानियों और गीतों के कारण बड़ा आनन्द रहा। पं० सांझीराम जी के कारण कुलवासियों में बहुत उत्साह का संचार हुआ हुआ है।

वार्षिकोत्सव—गुरुकुल का वार्षिकोत्सव समीप आ रहा है। तिथियां अभी अन्तिम-रूप से निश्चित नहीं हुई हैं। सम्भवतः होलियों में ही वार्षिकोत्सव मनाया जायगा। गुरुकुल प्रेमियों को अभी से वार्षिकोत्सव की तैय्यारियां शुरु कर देनी चाहियें। परीक्षा के बाद गुरुकुल के डेपुटेशन सब जगह भ्रमण करेंगे। परन्तु आर्य-भाइयों को उनकी प्रतीक्षा न कर अभी से कार्यालय से रसीद-पुस्तकें मंगवा कर धनसंग्रह का कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिये।

उपाध्याय—दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में अनेक उपाध्याय जातीय-महासभा कानपुर में सम्मिलित होने की तय्यारियां कर रहे हैं। इससे पूर्व पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार रायकोट, लुधियाना, गुरुकुल का, और पं० रामदेव जी, आचार्य, गुरुकुल कांगड़ी तथा पं० सत्यकेतु जी विद्यालंकार गुरुकुल मुलतान का, निरीक्षण करने के लिये जायेंगे। साथ ही कुछ उपाध्याय आर्यसमाजों के उत्सवों में भी सम्मिलित होंगे।

ग्राहकों से निवेदन

आफ्रीका के कुछ भाइयों का चन्दा अभी तक नहीं आया। उन से निवेदन है कि शीघ्र भेज दें। इन संख्याओं के ग्राहकों का चन्दा छटे अङ्क के साथ समाप्त हो गया है, वे शीघ्र भेज दें। ३३२, ३३५ से ३५२ तक, ३५४, ३५५, ३५६, ३५८, ३५६, ३६२, ३६३, ३६७ से ३७१ तक, ३७३ से ३७८ तक और ३६२——————प्रबन्ध कर्ता।

प्रो० सत्यव्रत जी प्रिन्टर तथा पब्लिशर के लिये गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में छपा

वर्ष ७, अङ्क ८ Registered No A ;1340

माघ १९८२] [जनवरी १९२६

ओ३म्

गुरुकुल समाचार

[स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र]

मुख्य संपादक
प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय सूची

विदेश से ४) एक प्रति का ।=) वार्षिक मूल्य ३)

वर्ष २, अङ्क ८] मास, माघ [पूर्ण संख्या २०

अलंकार
तथा
गुरुकुल-समाचार

स्नातक मण्डल गुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः।
हविष्मन्तो अलंकृतः॥ ऋ० १. १४. ५।

* कीरति होत कलङ्क के लागे *

[श्री हरिः]

(१)

भोजन में, जन में, वन में, रस रङ्गन में, मन आशु विरागे।
केवल प्रेम पियूष की प्यास से व्याकुल हो दशहू दिश भागे॥
लोक की लाज सुरेश का राज निछावर है प्रिय प्रेम के आगे।
"श्रीहरि" है वह प्रेम गली जहां कीरति होत कलंक के लागे॥

(२)

लोचन चारु चकोर बने प्रिय के मुख चन्द्र रहें अनुरागे।
चाव भरे चितवें चित दे, न चलें, विचलें, मचलें रस पागे॥
रूप के सागर में मन-मीन बंधा बिन ही श्रम प्रेम के धागे।
"श्रीहरि" कोई कलङ्की कहो यहां कीरति होत कलंक के लागे॥

'पारसी-धर्म' तो 'वैदिक-धर्म' ही है !

(ले० प्रोफेसर सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार)

पारसी धर्म-पुस्तक ज़िन्दावस्था के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि उन के धर्म की उत्पत्ति वैदिक-धर्म से ही हुई। वैसे तो ग्रीक, रोमन तथा ईजिपशियन धर्मों के विषय में भी यही कहा जा सकता है परन्तु पारसी-धर्म के विषय में यह बात एकान्त सत्य है। ज़िन्दावस्था के पाठ से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि किसी समय 'भारतीय आर्य' तथा 'पारसी-आर्य' इकट्ठे, एक ही जगह पर रहते थे। उस समय उन के भारतीय तथा पारसी नाम से दो भेद नहीं हुए थे। उन का पुराना एक धर्म था जिस में सभी का समान विश्वास था। वे सब अपनी जाति को 'आर्य-जाति' तथा अपने देश को 'आर्य-देश' कहते थे—(देखो डा० हौग का ज़िन्दावस्था का अनुवाद, पृ० २११,२१४, २१५)। पारसियों की धर्म-पुस्तक वेन्दीदाद के प्रथम फ़रगार्ड में पुराने ईरानी आर्यों की १६ बस्तियें गिनाई गई हैं जिन में से, उन की, सृष्टि में सब से पूर्व 'आर्यन-बीज' में उत्पत्ति बतलाई गई है। इस विवरण में आर्यों के सात-नदियों वाले प्रदेश में पहुंचने की संख्या पन्द्रहवीं गिनाई गई है (हौग-पृ. २३०)। वारम्बार 'आर्य-देश' का नाम ले २ कर उसे याद किया गया है (हौग-२५७)। 'होम यष्ट' पुस्तक में एक विचित्र घटना का वर्णन पाया जाता है। उस में लिखा है कि करेसानी राजा ने घमण्ड में आकर अपने राज्य में यह उद्घोषित कर दिया कि जो अथर्वा (पुरोहित) 'अपां-अविष्टिश' का पाठ करेगा उसे मरवा दिया जायगा। राजा के इस घमण्ड को होम' ने चूर २ कर दिया और उसे पद च्युत् कर दिया। 'अपां अविष्टिश' का अभिप्राय 'आपः अभिष्टये' है और यह 'शन्नो देवीरभिष्टये आपो भवन्तु' मन्त्र का संकेत है। महाभाष्य में 'शन्नो-देवी' मन्त्र को अथर्व वेद के प्रतिनिधि रूप से गिना गया है। इस दृष्टि से समझ में आ जाता है कि कृशानु नाम के किसी राजा ने अपने राज्य में अथर्व-वेद का अध्ययन बन्द किया होगा परन्तु पारसी-धर्म के प्रवर्तक ज़रथुश्थ्र के मत में 'होम' अथवा 'सोम-रस' ने उस का नाश कर दिया होगा। इस सम्बन्ध में हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि पारसियों में अथर्ववेद का ही अधिक प्रचार था और इस लिये वे अपने पुरोहित को अथर्वा कहा करते थे (हौग-१८२ पृ.)। 'वेन्दीदाद' के अध्ययन से यह भी प्रतीत होता है कि पारसी धर्म का प्रवर्तक ज़रथुश्थ्र किसी नये धर्म का चलाने वाला न था, अपितु पुराने ही धर्म का पुनरुज्जीवक था। 'अहुर्मुज़्द' तथा 'ज़रथुश्थ्र' की बात-चीत में एक जगह अहुर्मुज़्द (पारसियों का परमात्मा), ज़रथुश्थ्र से कहता है कि तुझ से पहले इसी धर्म को मैंने 'यिम' को सिखाया था। यिम को इस धर्म का प्रचार करने को कहा गया, परन्तु वह इस कार्य के योग्य

न था। इसलिये उस ने गृहस्थ-धर्म को निबाहते हुए प्रजाओं में जिस प्रकार प्रचार का कार्य किया जा सकता है, किया-(हौग २३१-२)। यही भाव यस्न के अध्ययन से भी पुष्ट होता है। 'यस्न-हप्तन्हैती' (हौग-१७३) में लिखा है कि ज़रथुश्थ ने जब तक अहुर्मुज़्द से 'अहुर-धर्म' की दीक्षा नहीं ली थी उस से पूर्व वह 'देव-धर्म' का ही मानने वाला था। मालूम पड़ता है कि यह 'देव-धर्म' गिर गया था, उस में मूर्ति-पूजा प्रचलित हो गई थी, एकेश्वरोपासना के स्थान में अनेक देवता पूजे जाने लगे थे, सोम रस जो पहले वास्तव में जीवन-प्रद कोई औषध-विशेष थी उस की जगह नशा उत्पन्न करने वाली कोई दूसरी ही वस्तु इस्तेमाल की जाने लगी थी, वेद मन्त्रों से ओझाओं के जादू टोने का काम लेने लगे थे और कई लोग तो मन्त्र-पाठ कर के शाप देने लगे थे (हौग का अनुवाद पृ. १५३) इसलिये गिरते हुए वैदिक धर्म को बचाने के लिये ज़रथुश्थ ने अपनी आवाज़ उठाई। परन्तु ऐसा मालूम पड़ता है कि ज़रथुश्थ का काम ज़रा चिड़ में आ कर किया गया था। उस ने मूर्तिपूजा तथा अनेक देवताओं की पूजा देख कर 'देवता' शब्द का अर्थ ही 'राक्षस' कर दिया। जो 'असुर' शब्द आर्यों में राक्षस के अर्थ में प्रयुक्त होता था उस का प्रयोग उस ने 'ईश्वर' अर्थ में करना शुरु कर दिया। इसी लिये इन्द्रादि अनेक देवता जो वेदों में अच्छे अर्थों में आये हैं उन्हें ज़िन्दावस्था में राक्षस गिना है। 'वेन्दीदाद' धर्म पुस्तक की व्युत्पत्ति भी 'वि-देव-दत्त', अर्थात् जो देवताओं के विरोध में दी गई हो, यह है। पुराना वैदिक धर्म इतना गिर चुका था कि ज़रथुश्थ को बाक़ायदा एक शुद्धि-संस्कार के प्रचलित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। 'यस्न-हप्तन्हैति' के १२ वें यस्न में (हौग-१७३) इस प्रकार के शुद्धि-संस्कार का वर्णन भी पाया जाता है। देवताओं के धर्म को छोड़ता हुआ तथा ज़रथुश्थ के धर्म को स्वीकार करता हुआ व्यक्ति कहता है कि, 'मैं अब से देव-पूजक नहीं रहा। मैं असुर-पूजक तथा देव-शत्रु होता हूं।' ऐसा भी मालूम पड़ता है कि इस समय यज्ञों में पशु-हिंसा चल पड़ी थी क्योंकि इसी शुद्धि-संस्कार में आगे चल कर लिखा है कि, 'मैं गौ, बकरी आदि का बध नहीं करूंगा'। फिर लिखा है, 'मैं दुष्ट देवों को जो मन्त्र पढ़ २ कर जादू करते हैं, छोड़ता हूं। जैसे ज़रथुश्थ ने इस पापमय धर्म को छोड़ा वैसे मैं भी इस का सदा के लिये त्याग करता हूं। जिस धर्म को जल, वनस्पति, जीवित प्राणी, धार्मिक मनुष्य, ज़रथुश्थ, कवा विष्टास्प, फ़्रशोस्त्र, जमास्प तथा सोश्यन्त (अग्नि-पूजक) मानते हैं, उसी प्राकृतिक, स्वाभाविक धर्म को मैं भी स्वीकार करता हूं।'

हमारी यह स्थापना है कि ज़रथुश्थ ने कोई नया धर्म नहीं चलाया परन्तु गिरते हुए 'वैदिक-धर्म' को बचाने के लिये ही 'अहुर-धर्म' के नाम से अपने धर्म का प्रवर्तन किया। इस में प्रबल प्रमाण यह है कि जहां पारसी-धर्म तथा वैदिक-धर्म में अनेक समानताएं हैं, जिन के विषय में हम फिर कभी लिखेंगे, वहां हम आश्चर्य से यह

देखते हैं कि जिन बातों का ज़रथुश्थ ने निषेध किया, खण्डन किया, उन का शुद्ध रूप में उस ने स्वयं बड़े ज़ोर-शोर से प्रचार किया, मण्डन किया। उसे सोम रस और यज्ञों से कोई घृणा नहीं थी, उन का तो उसने अपने आप उद्धार ही किया, परन्तु उसे यज्ञों के विकृत स्वरूप से अवश्य घृणा थी। वह सोम-रस के नाम से नशीले पदार्थों का सेवन नहीं सहन कर सकता था। सोम-रस का नाम लेकर जो लोग शराब आदि का पान करने लगे थे उन धूर्त्तों का उस ने ज़ोरदार खण्डन किया (हौग-१६८) परन्तु उसी 'सोम' को 'होम' नाम से 'होम-यष्ट' में पवित्र पदार्थ बतलाया। 'होम-यष्ट' (हौग-१७७) से पता लगता है कि ज़रथुश्थ भी सोम-रस को वैदिक ऋषियों के 'अपाम सोमं अमृता अभूम' की तरह मृत्यु पर विजय प्राप्त कराने वाली औषधि-विशेष ही समझता था। 'होम-यष्ट' में 'होम' के विषय में ज़रथुश्थ कहता है कि 'विवन्वान्हो' (विवस्वान्) पहला आदमी था जिसने 'होम'-रस बना कर उस का पान किया। फल-स्वरूप उसे यिम-क्षेत (जमशेद) नामक पुत्र उत्पन्न हुआ जिस का पहले भी वर्णन आ चुका है। 'विवन्वान्हो' के बाद 'अथ्व्य' ने, फिर 'थ्रित' ने और फिर 'पुरुषास्प' ने होमरस पीया। 'पुरुषास्प' के होम-रस पीने का नतीजा 'ज़रथुश्थ' स्वयं हुआ। होम-यष्ट में सोम के पर्वतों पर उत्पन्न होने, पीत-वर्ण का होने और स्वास्थ्य-प्रद होने आदि का वर्णन भी है। जिस सोम-रस की अभी हम 'ज़रथुश्थ' के मुख से निन्दा सुन चुके हैं उस को यह प्रशंसा क्यों? केवल इस लिये कि वह समझता था कि वास्तव में सोम रस वह नहीं है जिसे पुरोहित लोग पीते हैं, यह तो अमर-बल्ली का रस है। इसी भाव की तरफ़ ऋग्वेद में संकेत किया गया है, जहां लिखा है:—

'सोमं मन्यते पपिवान् यत्संपिषन्त्योषधिम् ।
सोमं यं ब्रह्माणोविदुः न तस्याश्नाति कश्चन ॥'

अर्थात्, बूटियें रगड़ कर कई लोग समझते हैं कि उन्होंने सोम-रस का पान कर लिया। वे भ्रम में हैं। जिस सोम-रस का ब्राह्मण लोग पान करते हैं वह कूण्डी-सोटे से रगड़ी जाने वाली बूटी नहीं है, वह कोई दूसरी ही वस्तु है। ऐसे ही भाव होम-यष्ट के १६ वें यस्न के ८ वें पद में पाये जाते हैं—(हौग—१८५)-जहां 'होम' तथा 'शराब' में भेद बतलाया गया है।

इस के अतिरिक्त ज़रथुश्थ ने, जो लोग मन्त्रों का प्रयोग जादू-टोने, शाप आदि के लिये करने लग गये थे, उन का एक तरफ़ तो ज़बर्दस्त खण्डन किया है परन्तु स्वयं मन्त्रों का उच्चारण किया है (हौग—१६८), यहां तक कि वह अपने को 'मान्थ्रन' अर्थात्, मन्त्रोच्चारक के नाम से प्रसिद्ध भी करता है (हौग—२६७)। ज़िन्दावस्था के मुख्य-भाग 'गाथा' नाम से प्रचलित हैं क्योंकि वे गाये जाते थे—संस्कृत की 'गै—गाने' धातु से गाथा शब्द बनता है। ये भाग त्रिष्टुप, अनुष्टुप आदि छन्दों में पाये जाते हैं। इन गाथाओं का प्रारम्भिक नाम 'मथ्र-स्पन्ता'

या 'मन्त्र-संहिता' था—(हौग-१४०, २११,३३४)। 'हैनोवर' नामक मन्त्र की जो शक्ति ज़िन्दावस्था में बतलाई गई है (हौग१८५-१८६) वह वेद मन्त्रों की शक्ति को भी मात करती है। यह भी मालूम पड़ता है कि वैदिक-मन्त्रों के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक अर्थों की तरह ज़रथुश्थ्र भी दोनों प्रकार के अर्थ मानता था। पारसियों के पवित्र मन्त्र 'यथा—अहु-वीर्यो०' के विषय में ज़रथुश्थ्र कहता है (हौग-१८६) कि इस के आध्यात्मिक तथा आधिभौतिक दोनों अर्थ हैं। इन सब से यही अनुमान होता है कि यद्यपि मन्त्रों के दुरुपयोग को पारसी-धर्म का प्रवर्तक बुरा समझता था तथापि उन के यथार्थ उपयोग को वह अच्छा ही नहीं समझता था परन्तु स्वयं भी उन का वैसा ही प्रयोग करता था। गिरते हुए 'वैदिक-धर्म' को देख कर उसके दिल में दर्द पैदा होता था और वह उसे बचाना चाहता था।

जैसा हम ऊपर कह आये हैं, ज़रथुश्थ्र ने वैदिक-देवताओं की मूर्तियों की पूजा होते देख कर और आर्यों में अनेक देवताओं के बढ़ते प्रचार को देख कर देवताओं का अर्थ ही दुष्ट और राक्षस करना प्रारम्भ कर दिया। ठीक भी था। यदि यही देवता हैं तो इन में और राक्षसों में भेद ही क्या है? पर ऐसा करते हुए भी हम आश्चर्य से देखते हैं कि जहां 'इन्द्र' का उस ने राक्षस-परक अर्थ किया वहां इन्द्र के ही पर्याय-वाची 'वृत्रघ्न' का अर्थ उसने अच्छा किया। कारण यही था कि इन्द्र मुख्य देवता था। उस के नाम से बहुत अनर्थ प्रचलित हो रहे थे, इस लिये 'इन्द्र' को उस ने दुष्ट कहना शुरु कर दिया परन्तु 'वृत्रघ्न' नाम जो अभी तक बदनाम नहीं हुआ था, उस को पवित्रता को उस ने वैसे का वैसा ही स्वीकार किया और अपने धर्म में उस की पूजा तक प्रचलित कर दी।

हमारे कथन का सारांश यह है कि जिस प्रकार आर्य-धर्म की गिरावट को दूर करने के लिये पीछे जा कर बुद्ध, शङ्कर, रामानुज और वर्तमान समय में दयानन्द का जन्म हुआ उसी प्रकार शताब्दियों पूर्व इसी पतनोन्मुख वैदिक धर्म की रक्षा के लिये ज़रथुश्थ्र का जन्म हुआ था। वह भी एक सुधारक था, कट्टरपन का शत्रु था, शुद्ध वैदिक धर्म का पुनः प्रवर्तक था। परन्तु उस ने जिन उपायों का अवलम्बन किया उन का परिणाम दूसरा ही निकला। जब तक वह जीवित रहा तब तक उस का चलाया हुआ मार्ग वैदिक-धर्म में सुधार के रूप से ही जनता के सम्मुख रहा परन्तु उस को मृत्यु के अनन्तर वह एक भिन्न सम्प्रदाय बन गया और जिन बुराइयों को रोकने के लिये उस का जन्म हुआ था वे बुराइयें उस धर्म में भी आ गईं। ज़रथुश्थ्र ने शुद्ध रूप में यज्ञ आदियों का पुनरुद्धार किया परन्तु 'अबान यष्ट' में (हौग १९८) हम देखते हैं कि यज्ञों में फिर से वही गिरावट आ गई। इस 'यष्ट' में लिखा है कि 'अनैति' (अनाहिता)—अन्तरिक्षस्थ पवित्र जलों की देवी—के लिये भिन्न २ यज्ञ किये गये। 'होशंग' ने 'अनैति' के परितोष के लिये एक सौ

घोड़े, एक हज़ार गौएँ और दस हज़ार दूसरे जानवर बलि पर चढ़ाये । इसी प्रकार जहां ज़रथुश्थ्र ने मन्त्रों के कुप्रयोग को दूर करने का प्रयत्न किया था वहां 'हप्तान-यष्ट' में हम देखते हैं (हौग—१६६) कि बीमारियों को दूर करने तथा इस प्रकार के अन्य कार्यों के लिये मन्त्रों का फिर से प्रयोग होने लगा । ज़रथुश्थ्र का वैदिक-धर्म के पुनरुज्जीवन का कार्य कुछ देर उठ कर फिर से शान्त हो गया और कट्टरपन को अनवच्छिन्न धारा फिर वैसी की वैसी बहने लगी । क्या इस सब को जान कर यह कहना ठीक नहीं कि पारसी धर्म की उत्पत्ति वैदिक धर्म से ही हुई थी और गिरते हुए वैदिक—धर्म को पुनरुज्जीवित करने के लिये ही बैक्ट्रिया में ज़रथुश्थ्र ने जन्म ग्रहण किया था ?

* * *

आर्य-शिक्षा-प्रणाली कैसी हो ?

(ले० पं० भीमसेन जी विद्यालंकार)

पिछले तीन लेखों में हम इस बात पर विचार प्रकट कर चुके हैं, कि प्राचीन भारत में लड़कों और लड़कियों की शिक्षा का क्या प्रबन्ध था । यह भी दिखाया जा चुका है कि बदली हुई परिस्थिति में ऋषि दयानन्द ने कन्या गुरुकुलों की प्रणाली का प्रारम्भ किया । अब प्रश्न यह है कि देश की वर्तमान दशा में यह आर्य-शिक्षा-प्रणाली फिर किस प्रकार प्रचलित की जा सकती है । पुरातन रूप मे प्रचलित करना मुश्किल है क्योंकि अब अवस्थाएं बदली हुई हैं । प्राचीन समय में भारत वर्ष में भारतीय सभ्यता की मुख्यता थी । विदेशीय या विजातीय सभ्यताओं में प्रभाव व तेज नहीं था । परन्तु आज युरोपियन सभ्यता, अरेबिक सभ्यता, पारसी सभ्यताओं का संघर्ष भारत वर्ष में हो रहा है । युरोपियन सभ्यता के अभिमानी, राजशक्ति के बल पर, विशुद्ध भारतीय सभ्यता पर अपना प्रभाव डालने की कोशिश कर रहे हैं । अरेबिक सभ्यता वाले भी भरसक कोशिश कर रहे हैं कि भारत वर्ष की शिक्षा प्रणाली में उन की सभ्यता को स्थान मिले । इसी लिए वह अरेबिक लिपि पर ज़ोर दे रहे हैं । इस समय जैसी अवस्था है उस में यह कोशिश करना कि विशुद्ध प्राचीन भारतीय सभ्यता की फिर से स्थापना हो, असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन ज़रूर है । देश की जो भी शिक्षा प्रणाली होगी उस में भिन्न २ सभ्यताओं के मानने वालों की कुछेक बातें स्वीकार करनी ही पड़ेंगी । आज भी जाने अनजाने हम ने कई बातें स्वीकार कर ली हैं । आदर्श और उत्तम शिक्षा प्रणाली वही है जो भूमि या जाति के भेद भावों को छोड़ कर सब के लिए लाभकर हो । भारतीय शिक्षा प्रणाली में ऐसी विशेषताएं हैं, इसी लिए हम देख

चुके हैं कि भारतीय शिक्षा प्रणाली फारस आदि विदेशों तक फैल चुकी थी। इस समय भारतीय शिक्षा प्रणाली को लोकोपयोगी तथा समयोपयोगी बनाने के लिये इस शिक्षा प्रणाली की व्यापक विशेषताओं की तालिका अपने सामने रखनी चाहिए जिस तालिका को देख कर कोई भी हिन्दुस्तानी चाहे वह किसी सम्प्रदाय, धर्म व जाति का क्यों न हो, भारतीयता के नाते से भारतीय शिक्षा प्रणाली को अपनाने के लिये उत्सुक हो सके। इस समय केवल मात्र आर्यसमाज और हिन्दुसमाज ही गुरुकुल ब्रह्मचर्याश्रम तथा ऋषिकुल, आचार्यकुल आदि का संचालन कर भारतीय शिक्षा प्रणाली को अपना रहे हैं। परन्तु आवश्यकता इस बात की है कि मुसलमान, ईसाई, सिक्ख व सभी इस शिक्षाप्रणाली को अपनाएँ। जब तक देश के शिक्षणालय एक सूत्र में, एक प्रणाली में, ग्रथित नहीं होंगे, तब तक मातृभूमि में एकता, स्वाधीनता और स्वराज्य के स्वप्न पूरे नहीं हो सकते। इस समय देश में जो अनेकता है उस का मुख्य कारण यह है कि शासकों ने साम्प्रदायिक व विशेष जातियों के जो शिक्षणालय संचालित किये हैं उन में पाठविधि की एकता के सिवाय और किसी प्रकार की एकता नहीं है। भिन्न २ शिक्षणालयों में पढ़ने वाले भारतीयता के नाते अपने कर्तव्य को नहीं सोचते। वर्तमान शिक्षणालयों को एक सूत्र में ग्रथित करने वाला सूत्र सरकार के हाथ में है। जब तक जाति या राष्ट्र इस सूत्र को अपने हाथ में नहीं लेता तब तक एकता नहीं हो सकती, भारतीय सभ्यता का विकास नहीं हो सकता और तब तक भारतीय सभ्यता समय की लहर के साथ अपने अस्तित्व को रखती हुई आगे नहीं बढ़ सकती। ऐतिहासिक दृष्टि से (साम्प्रदायिक दृष्टि को छोड़ कर) व्यापक रूप से भारतीय शिक्षा प्रणाली का अनुशीलन करने से उस में यह विशेषताएँ प्रतीत होती हैं:—

१. शिक्षणालयों में विद्यार्थियों को मुख्यतया ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रेरित किया जाय। (किसी विशेष सम्प्रदाय या सिद्धान्त का ज्ञान पूर्वक विचार किए बिना मानना आवश्यक न हो। ऋषि दयानन्द प्रतिपादित शिक्षा प्रणाली में भी ज्ञान प्राप्ति पर ज़ोर दिया है)।

२. भारतीय साहित्य का अनुशीलन हरेक विद्यार्थी के लिए आवश्यक हो।

३. जाति व राष्ट्र के प्रत्येक पुत्र को किसी प्रकार के भेदभाव का विचार किए बिना शिक्षा प्राप्ति का अवसर दिया जाय।

४. सदाचार सम्बन्धी सार्वभौम धर्म, यम-नियम या नीति शास्त्र का अध्ययन प्रत्येक विद्यार्थी के लिए ज़रूरी हो—अन्य बातों में विचार स्वातन्त्र्य के सिद्धान्त को स्वीकार किया जाय।

५. शिक्षणालयों के पढ़ने वाले विद्यार्थी परस्पर समभाव, भ्रातृभाव से रहें। उन में ऐसे भाव पैदा न किये जाँय कि अमुक नीच है, अमुक धनी है, अमुक निर्धन है; अपितु ज्ञान बल

या बुद्धि बल के कारण उन में भेद भाव हो। धन-कुल सम्बधी अभिमानों को जागृत न किया जाय, केवल मात्र योग्यता और गुणों को मुख्यता दी जाय। इस विशेषता का परिणाम यह होगा कि बड़ी अवस्था में विद्यार्थी निर्धन ब्राह्मण का भी मान कर सकेंगे। इसी विशेषता द्वारा इस देश में धन की जगह गुणों तथा ज्ञान आदि के महत्व को स्थापित कर सकेंगे। आज कल शिक्षणालयों में निर्धन—धनी के भेद भाव होने के कारण बड़े हो कर विद्यार्थी इन्हीं भावों से प्रभावित रहते हैं।

६. भारतीय सभ्यता की प्रतिनिधि देव नागरी लिपि का सीखना सब के लिए आवश्यक हो। रोमन लिपि तथा अरेबिक लिपि को विदेशी होने से उस पर विशेष जोर न दिया जाय। यह दोनों लिपियां ऐच्छिक (Optional) विषय हों।

७. देशप्रेम और विश्वप्रेम के पारस्परिक विरोध को दूर करने के लिए विद्यार्थियों को बचपन से ही व्यापक-देश—प्रेम का पाठ पढाया जाय। जब तक देश-प्रेम का भाव पैदा नहीं होगा तब तक भारतीय साहित्य, भारतीय सभ्यता, भारतीय इतिहास की रक्षा नहीं हो सकती।

८. भारतीय सभ्यता को विकसित तथा प्रगति शील बनाने के लिए शिक्षणालयों में अन्य सभ्यताओं के अध्ययन तथा अनुशीलन का विशेष प्रबन्ध किया जाय।

इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए जो भी शिक्षणालय खोले जायंगे वे चाहे किसी सम्प्रदाय व जाति विशेष के क्यों न हों वे भारतीय सभ्यताको, भारतीय अनुभूत शिक्षा प्रणाली को अधिक उन्नत करने वाले होंगे। ऐसे शिक्षणालयों में पढ़े हुये विद्यार्थी ही स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना कर सकेंगे। प्रसन्नता की बात है कि गुरुकुल कांगड़ी और काशी के जातीय विद्यापीठ ने इस दिशा में कदम उठाया है। यदि देश के अन्य राष्ट्रीय शिक्षणालय भी इस दशा में काम करें तो नष्ट तथा क्षीण न हो कर भारतीय सभ्यता फिर से चमक उठेगी। शिक्षणालय ही सभ्यताओं के जनक और पोषक चथहोते हैं। भारतीय सभ्यता के उद्भव स्थान भारतीयगृह, परिवार और शिक्षणालय हैं। शिक्षणलयों के सम्बन्ध में हमने जो विचार प्रकट करने थे उन्हें यहां समाप्त करते हैं। भारतीय सभ्यता के दूसरे उद्भव स्थान गृह-परिवारों के सम्बन्ध में क्रमश यथा समय विचार करेंगे।

आवश्यक—ग्राहकों को पत्र व्यवहार करते हुए अपनी ग्राहक संख्या अवश्य लिखनी चाहिये। इस के बिना नाम ढूंढने में बहुत समय चला जाता है। आगे से बिना ग्राहक संख्या का उल्लेख किये जो पत्र आयंगे उन का यदि उत्तर न दिया जा सके तो हमारे कार्यालय का दोष न होगा—

प्रबन्ध कर्ता।

प्राचीन भारत में भवन-निर्माण-विद्या

(ले० प्रो० विधुभूषण दत्त जी एम.ए.)

[४]

बौद्ध काल की रचनायें

बौद्ध काल की अनेक रचनायें वर्तमान पुरातत्व विद्या विशारदों के दृष्टिगोचर हो चुकी हैं-उनमें बहुत सी अन्वेषणायें भी हो चुकी हैं। बौद्ध युग के साथ २ भारतीय प्राचीन सभ्यता में बड़ा भारी क्रान्ति हुई-वैदिक सभ्यता के उज्वल आदर्श का पतन होते २ जो पुरोहितधर्म (Brahmanism) बन गया था उसके विरोध में बौद्ध, जैन प्रभृति धर्म आविर्भूत हुये।

भारतीय समाजनीति तथा राजनीति में उस समय एक विप्लव आरम्भ हुआ, ब्राह्मणों ने धर्मशास्त्र बनाकर, शास्त्र की दुहाइयां देकर इस प्रवृत्ति या विप्लव को टालना चाहा। वर्तमान मनु संहिता प्रभृति धर्म-ग्रन्थ उस समय बने थे ।

राजनीति के क्षेत्र में उत्तर भारत में-षोडष जनपद में-एक दूसरे पर शासन करने के लिये युद्ध हो रहे थे। सब से प्रथम कोशल और मगध के साम्राज्य संगठित हुये। गौतम बुद्ध के जन्म के समय ये दो ही राष्ट्र उन्नत थे-जिन में पीछे से मगध समृद्धि शाली हो गया और २०० वर्ष बाद विशाल मौर्य साम्राज्य में परिवर्तित हुआ। उस समय भारतीय राष्ट्र व्यवस्था-जो कि प्रायः प्रादेशिक तथा प्रजा सत्तात्मक थी-के स्थान पर राज सत्ता का अधिकार बढ़ने लगा। इस क्रान्ति से इतिहास में बड़े २ महत्वशाली परिवर्तन हुये। प्राचीन पारमार्थिक भाव का स्थान स्वार्थ तथा लौकिक भावों ने ले लिया। (पुराण कर्त्ता ने इस समय को कलियुग नाम देकर उस के दोषों का खूब वर्णन किया इस लिये पुराण इस काल के पीछे बने मानने चाहियें)। पार्श्ववर्त्ती देशों की राजनीतिक अवस्था के प्रभाव से ही यह क्रान्ति प्रारम्भ हुई थी। ईरानी सम्राट् जरायुष ने मिश्र देश से स्थान २ पर सिन्धु-नदी के पश्चिम तट तक विशाल साम्राज्य स्थापित करके-जगत् साम्राज्य वाद का डंका बजाया-और स्थान २ पर शिला लेख स्थापित किये—(Inscriptions of Persipolis)। इसी साम्राज्य वाद से प्रभावित होकर यूनान का प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ थेमिस्टकलिस(Themistocls) भी एथेन्स में साम्राज्य संगठित करने लगा जिस से प्रभावित होकर जगद्विजयी सिकन्दर ने ईरान के गौरव पर अपनी ध्वजा उठाई- और भारत की ओर भी अग्रेसर हुआ। उसके अनुकरण में स्वदेश गौरव की रक्षा के लिये चन्द्रगुप्त ने विशाल सैन्य संचय कर के साम्राज्य स्थापित किया। उस समय जो लौकिक भाव (Secular) राष्ट्रनीति में कार्य कर रहे थे उन का चन्द्रगुप्त के मन्त्री चाणक्य के बनाये कौटिल्य अर्थशास्त्र में परिचय मिलता है। उन सब लौकिक तथा ऐहिक परिस्थितियों में गौतम बुद्ध जिस धर्म का संदेश ले गये वह भी लौकिक व्यवहार का मन्त्र था। उन्होंने पारमार्थिक या अलौकिक विषयों पर बिना ध्यान दिये मनुष्य जाति के दुःख को दूर करने के लिये ही इस आचार-धर्म का प्रचार किया था।

जिस प्रकार यह नया धर्म पवित्र और सच्चा (Positivistic) था उसी प्रकार उस के प्रवर्त्तक का व्यक्ति गत जीवन या व्यक्तित्व भी पवित्र और प्रभाव शाली था। इस की पवित्रता से प्रभावित होकर राजा रंक, अमीर गरीब, युवा वृद्ध, स्त्री पुरुष सभी उस के अनुयायी हुवे। मुसल्मान शासन काल से पूर्व तक वह भारत का प्रधान धर्म था और गुप्त साम्राज्य की समाप्ति तक के समय को बौद्ध युग कहते हैं। बौद्ध युग की प्राचीन कृतियों का विवरण

यथा स्थान किया जा चुका है- अब उन की ऐतिहासिक प्रवृत्ति का उल्लेख करेंगे। बौद्धों की निर्माण कृतियों से तत्कालीन लौकिक (Secular) भावों का परिचय मिलता है। इन कृतियों में मुख्य सम्राट् अशोक द्वारा बनवाये गये कीर्तिस्तूप हैं। ये बुद्ध के शरीर की भस्म-संरक्षा या बुद्ध के जीवन की किसी घटना की स्मृति रक्षा के लिये बनाये गये हैं। शाक्य सिंह तथा अन्य बौद्ध भिक्षुओं की भस्म के संरक्षण के लिये भी भिन्न २ स्थानों पर सैकड़ों स्तूप बने हुवे हैं। इस के साथ २ बौद्ध भिक्षुओं के निवास के लिये विहार तथा संघाराम बनाये गये। तत्कालीन नगर इत्यादि राष्ट्रीय कार्यों में-जिनका वर्णन कौटिल्य अर्थ शास्त्र में मिलता है-उन में भी यही लौकिक भाव (Secular) विद्यमान हैं। इन कृतियों से तत्कालीन धार्मिक वा राष्ट्रीय अवस्था का ज्ञान होता है और मिसर के पिरामिडों की भी स्मृति हो जाती है। मैगस्थनीज़ प्रभृति विदेशीय यात्रियों के वर्णनानुसार उस समय पाटलिपुत्र वैभव में असीरिया की राजधानी निनेवा और ईरान की प्रधान नगरी परसीपोलिस नगर की तुलना में कम नहीं था। पाटलिपुत्र नगर की रचना प्रणाली को देख कर कई विदेशीय विद्वानों का कहना है कि यह प्रणाली भारत की अपनी नहीं है। भारत में कोई ऐसा विषय ही विद्यमान नहीं था जिसे कला या शिल्प कहा जा सके। यह प्रणाली विदेशियों से सीखी है या उन के अनुकरण में बनाई गई है। इस पर हम अपना मत पहले ही प्रकाशित कर चुके हैं। दोनों जातियों के निर्माण के आदर्श एक ही थे, दोनों में एक ही लौकिक या Secular भाव काम करते थे, इस लिये यदि कुछ आदर्श-साम्य हो तो कुछ अनुचित नहीं। किन्तु ये लौकिक भाव भारत में देर तक न रह सके। कुछ काल में बौद्ध मत में महायान संप्रदाय का उदय हुआ। इस में अलौकिक भाव काम कर रहे थे। बुद्ध, मनुष्यों की श्रेणी से उठ कर देवताओं की श्रेणी में पहुंच गये। प्राचीन भारतीय गाथाओं के अनुसार उनके जन्म तथा अन्य घटनाओं के विषय में 'जातक कथामाला' इत्यादि गाथायें लिखी गईं। सहस्रों देवतालय तथा मन्दिर बनाकर बुद्ध की मूर्तियां प्रतिष्ठित की जाने लगीं। सब से पहले मूर्तियों का माहात्म्य इसी समय में बढ़ा। राजा कनिष्क प्रभृति नृपतियों ने इसी नये धर्म को अपना कर निर्माण कार्य में बड़ी सहायता दी। इस काल में राजनीतिक क्षेत्र में ग्रीक, शक, पार्थीय और सीदियन प्रभृति जातियों ने भारत के पश्चिमोत्तर भाग पर अधिकार जमाया। वे भारतीय धर्म तथा सभ्यता को ग्रहण कर इसी देश के वासी बन गये। इसी लिये तत्कालीन कृतियों में ग्रीक कारीगरी भी दिखाई देती है।

नये हिन्दु धर्म का प्रभाव

पुरोहित धर्म (Brahmanism) संसार से लुप्त नहीं हुआ था बल्कि उस में ही कुछ संशोधन होकर बौद्ध धर्म की सृष्टि हुई थी। अब फिर से बौद्ध धर्म धीरे २ हिन्दु धर्म में मिलता जा रहा है। इन मतों के उद्भव के समय से ही चतुर ब्राह्मणों ने अपने मतों को समाज या लोकप्रवृत्ति के अनुसार ढालना शुरु किया। बौद्धों के त्रिरत्न-बुद्ध, धर्म और सङ्घ के अनुकरण में इन से अधिक मनोरञ्जक त्रिदेव मूर्त्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेश की आराधना का विधान किया। इस विधि में वैदिक धर्म के याग यज्ञों का बाहुल्य न था। इस विधि से न तो उपास्य देवता ही दुर्ज्ञेय थे और ना ही व्यय अधिक होता था। ब्राह्मणों ने इस नूतन धर्म की पुष्टि के लिये दर्शनादि शास्त्रों का निर्माण किया ताकि किसी को कुछ सन्देह भी न हो सके। इस प्रकार साधारण जनता अपने उपास्य व्यक्ति को देवता के आसन पर स्थित देख कर अति आल्हादित हुई। इन के साथ २ अन्य भी बहुत से देवताओं तथा सम्प्रदायों की सृष्टि हुई। इन में से पञ्च उपासक सौर, शाक्त-गाणपत

शैव और वैष्णव मुख्य थे जो अब तक भी जारी हैं। ये सब सम्प्रदाय ही मिल कर वर्त्तमान हिन्दु धर्म हैं जो बौद्ध इत्यादि धर्मों के साथ २ आविर्भूत होकर धीरे २ उन्नति करते रहे, और शाक्तों के अधः पतन होने पर और भी सुदृढ़ हो गये। मुसल्मानों के आक्रमणों तथा शासन से इस धर्म की उन्नति में धक्का तो लगा परन्तु नाश नहीं हुआ। समय २ पर अनेक सुधारकों ने इन में सुधार करने का प्रयत्न किया जिस से संप्रदायों की और भी वृद्धि हुई। जिस प्रकार बौद्धों ने स्तूप विहारादि के द्वारा निर्माण विद्या की उन्नति की थी उसी प्रकार हिन्दु भी मन्दिर आदि बना कर इस विद्या की उन्नति करने लगे। प्राचीन काल के यज्ञकुण्ड के स्थान पर मन्दिरों में देवमूर्त्तियां विराजने लगीं। बौद्धों के चैत्य, मठ, विहारादि के पास २ वे भी मन्दिर, पुरी, रथ, तोरण प्रभृति बनाने लगे। इन मन्दिरों की रचना शास्त्र-सम्मत निर्माण-प्रणाली के अनुसार ही थी। उदाहरण के लिये माहुलीपुरम् की सुप्रसिद्ध दक्षिणी निर्माण संस्था (Architectural Establishment) ली जा सकती है।

माहुलीपुरम् का दृष्टान्त

प्राचीन भारत की निर्माण विद्या का भास्कर विद्या (Sculpture) से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध था। बहुत से स्थानों पर पहाड़ों को खोद कर गुफायें बनाई गईं, जिन में भिन्न २ साम्प्रदायों के संन्यासी वास करते थे। किन्हीं २ स्थानों पर पहाड़ में बड़े २ देवालय, मन्दिर तथा मकान बनाये गये थे जिन्हें देखकर इस समय के दर्शक दान्तों तले अंगुली दबाते हैं। इस प्रकार की कई रचनायें प्रसिद्ध हैं। बौम्बे प्रेसीडेन्सी के अन्तर्गत इलोरा, सिलीसिट, एलिफैन्टा में खोदी हुई गुफायें तथा मन्दिर, मद्रास के समीप वर्ती माहुली पुरम् और अफगानिस्तान में काबुल तथा कन्धार के पास हिन्दुकुश पर्वत में खुदे हुए मन्दिर इत्यादि। पाठकों के मनोरञ्जन के लिये माहुली पुरम् का संक्षिप्त विवरण यहाँ दिया जाता है। यह बड़ा विस्तृत है। इस में अट्टालिका-हर्म्य-भवन-मन्दिर-देवालय-दरवाजे-मैदान-सड़कें प्रभृति सभी चीज विद्यमान हैं। देखने में एक छोटी सी नगरी लगती है। पाश्चात्य यात्रियों ने इसे उपलपुरी (Stone City) के नाम से पुकारा है। बस्तियों से दूर भूतल में स्वर्गपुरी की नकल में ही इस नगर की सृष्टि हुई। भिन्न २ सम्प्रदायों के धर्म नेता ऐसे कार्यों में पथदर्शक होते और नृपति गण तथा अमीर-उमरा इस कार्य में दिल खोल कर सहायता करते थे। ऐहिक जीवन में परार्थ के भाव डालना और लौकिक बातों में देवत्व का आरोप करना—ये हिन्दु जाति की विशेषताएँ हैं-इन कार्यों से हिन्दुओं की धर्म प्रियता का परिचय मिलता है। कई कृतियों को स्वर्ग या देवताओं के पर्याय वाची नाम दिये जाते थे, यथा-कैलाश। माहुली पुरम् भी इन्हीं में से एक है। यह तामिल भाषा का शब्द है जिस का अर्थ महाबली-पुर है। पुराण में लिखा है कि असुरों के राजा बलि ने देवताओं को हरा कर स्वर्ग का राज्य छीन लिया। देवताओं की प्रर्थना से सन्तुष्ट हो विष्णु ने वामन का रूप धर कर कौशल से वह राज्य लेकर फिर देवताओं को दे दिया। परन्तु बलि के दान-व्रत तथा ब्राह्मण-निष्ठा से सन्तुष्ट हो कर विष्णु ने स्वर्ग से भी श्रेष्ठ 'सुतल लोक' की राजा बलि के लिये सृष्टि की और स्वयं उस के द्वारपाल बन गये। उस सुतल की नकल में यह महाबलिपुर बनाया गया।

यह स्थान वर्तमान मद्रास शहर से १९ कोश दक्षिण में समुद्र तट पर स्थित है। १८ वीं शताब्दी की समाप्ति में कई युरोपीय यात्री इसे देख कर दंग रह गये—(म० चेम्बर्स-एशियाटिक रिसर्चेज़, वौल्यूम एक पृष्ठ पैंतालीस; मि० गोल्डिङ्घम एशियाटिक रिसर्चेज़ वौल्यूम पाँच पृष्ठ उन्हत्तर)।

एक पर्वत के अन्दर खुदाई करके कई प्रकोष्ठ, मन्दिर, आवास-भवन इत्यादि स्थान

बनाये गये । पर्वत के ऊपर तथा नीचे की तरफ कुछ २ नकाशी तथा पच्चीकारी का काम किया हुआ है । पर्वत की तराई में तथा समभूमि में भी निर्माण कृतियों के चिन्ह पाये जाते हैं । (विस्तार के लिये चेम्बर्स देखो) ।

पहले इस स्थान तथा समुद्र के बीच में पृथिवी थी, जिस में मनुष्य निवास करते थे । कालान्तर में वे बस्तियां समुद्र के भाग में विलीन हो गईं और साथ ही साथ पर्वत का कुछ निर्मित भाग भी दूर पर समुद्र में जा गिरा ।

उस समय भिन्न २ सम्प्रदायों द्वारा बनाई हुई भिन्न २ कृतियों का ध्यान पूर्वक निरीक्षण करने से भारत की तत्कालीन धार्मिक तथा सामाजिक अवस्था का इतिहास शृङ्खलाबद्ध मालूम होता है । इस इतिहास के पूर्ण ज्ञान के लिये प्राचीन बौद्ध, जैन तथा हिन्दु मन्दिर या रचनायें ध्यान देने योग्य हैं । भिन्न २ स्थानों के प्रकृति-भेद से इन रचनाओं की प्रणाली में कुछ न कुछ भेद आ गया है । भौगोलिक दृष्टि से भारत वर्ष को तीन भागों में बांटा जा सकता है । १. उत्तर भारत या आर्यावर्त २. विन्ध्याचल की उपत्यका और ३. दक्षिण भाग । यद्यपि सारे भारत में एक ही सभ्यता का प्रचार हुआ था तथापि इन तीनों भागों में उस में कुछ विलक्षणता दृष्टिगोचर होती है । इसी लिये निर्माण प्रणाली में भी भेद आ गया है । उन प्रदेशों के अनुसार ही निर्माण प्रणाली के भी तीन भाग किये जा सकते हैं:—

उत्तर भारतीय निर्माण प्रणाली— इसकी निर्माण प्रणाली अपेक्षया सरल है । अर्थात् कृतियें जमीन पर ही बनाई गई हैं पर्वत पर नहीं । इस के मन्दिर (One storied) एक मञ्जिले और सरू वृक्ष के समान ऊपर संकुचित होते जाते हैं । ऐसा मालूम होता है कि द्युलोक की खोज कर रहे हैं । शिखर पर आमलक लगा होता था— आज कल उस के स्थान पर कलश या त्रिशूल लगाते हैं । उड़ीसा तथा बुन्देलखण्ड के मन्दिर इसी प्रथम श्रेणी के हैं । उत्तर भाग में भारतीय निर्माण प्रणाली में मुसलमानी ढंग (Saracenic style) आ गया था ।

मध्यभारतीय निर्माण प्रणाली इस प्रणाली के मन्दिर प्रायः बहुकोण आधार पर बनाये जाते थे और उन का शिखर पिरामिड के समान होता थी । चालुक्य राजाओं के समय इस प्रणाली का बहुत प्रचार हुआ । हुलाबिद् का ईश्वर-मन्दिर इसी प्रणाली का नमूना है ।

दक्षिणान्त भाग की निर्माण प्रणाली— दक्षिणान्त भाग की निर्माण प्रणाली का बहुत कुछ बौद्ध प्रणाली से सादृश्य है । चोल राजाओं के समय में इस प्रणाली का बड़ा प्रचार था । पर्वत तथा भूपृष्ठ दोनों में ही इस प्रणाली के मन्दिर वर्तमान हैं । तञ्जोर का पैगोडा इसका ज्वलन्त उदाहरण है । ये मन्दिर बहु मञ्जिले (Many storied) होते थे और इन पर नक्काशी तथा पच्चीकारी का कार्य किया जाता था ।

मुसल्मानों के शासन के साथ २ फिर क्रान्ति हुई, जिस में अनेकों प्राचीन कृतियें, प्राचीन नगर, मन्दिर प्रभृति नष्ट कर दी गईं । परन्तु इस देश में उन्हों ने अपने शासन काल में अनेक भवन इत्यादि बना कर निर्माण विद्या में वृद्धि की । बड़े २ आडम्बर, धूमधाम, शान शौकत और चहल-पहल से मुसल्मानों की स्वभावतः प्रीति थी । बड़े २ नगर तथा राजधानियां बनवाई गईं । प्रारम्भ से मुसल्मानों ने जो कुछ अनिष्ट किये—वे सब राजनीति के अनुसार अपना प्रभाव जमाने के लिये किये थे । ये असीरिया, मीडिया, पार्थिया तथा ईरान राज्यों पर शासन कर चुके थे । इन स्थानों के प्राचीन खण्डरातों से प्राचीन कला

कौशल सीख कर बहुत से नये २ नगर बनाये। इन नगरों के निर्माण समय में उन्हों ने एक नयी प्रणाली (Style) आविष्कृत की जिसे (Saracenic style) मुसल्मानी—ढंग कहते हैं। मुसल्मान इसी रचना प्रणाली को अपने साथ लाये। प्रारम्भ में उन्होंने इसी देश के कारीगरों द्वारा प्राचीन खण्डरातों की सामग्री से प्राचीन भारतीय प्रणाली के अनुसार नगर प्रासादादि बनाये। पीछे से धीरे २ रचना प्रणालियों का मिश्रण होने लगा। वर्तमान समय में दिल्ली, लखनऊ तथा अहमदाबाद की निर्माण प्रणालियों में थोड़ा २ भेद दिखाई देता है। मुसल्मानों ने इस देश में आ कर राजप्रासाद तथा समाधि-मन्दिर आदि बनवाये। जीवन काल में तथा जीवन के अन्त में बड़े २ महल इत्यादि बनवा कर अपने महत्व की घोषणा करना ये प्राचीन (Hemetic) हेमेटिक तथा सेमेटिक (Semetic) जातियों का स्वभाव सिद्ध गुण है। यही गुण मुहम्मद के मतावलम्बियों को उत्तराधिकार में मिला था, जिसे वे अपने साथ भारत लेते आये थे। उन्हों ने अपने धर्म का प्रचार करना शुरु किया, भारत के निर्धन तथा हीन जातियों के लोग इस मत के अनुयायी हुए। क्योंकि ये लोग पहले मन्दिर इत्यादि एकान्त स्थान में प्रार्थना किया करते थे, इसलिये मुसल्मानों ने उन के सन्तोष के लिये मन्दिरों के पास मसजिद तथा इमामबाड़े बनवाने शुरु किये। मुसल्मान शासक इन कार्यों में दिल खोल कर सहायता करते थे। धीरे २ भारत में मसजिदों की संख्या बढ़ने लगी और अब भी लगातार बढ़ती जा रही है। कई स्थानों में निर्माण प्रणालियों में कलम लग गई है, अर्थात् भिन्न २ प्रणालियों का मिश्रण बन गया है-परन्तु जिन स्थानों पर मुसलमानों का प्रभाव नहीं था वहां पर अब तक भी प्राचीन रचना प्रणाली विद्यमान है। मुसल्मान काल की कृतियों को देखने से तत्कालीन सामाजिक तथा राजनैतिक अवस्था का परिचय मिलता है।

ब्रिटिश काल की निर्माण कृतियों के विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मुसल्मानों ने जिस तरह निर्माण विद्या में उन्नति की थी, अङ्गरेजों ने वैसी नहीं की। राजनैतिक दृष्टि से जो कुछ नगर, प्रासाद इत्यादि बनाये गये वे या तो सरकारी कामों के लिये बनाये गये या वाणिज्य करने के लिये। प्राचीन काल की तरह किसी आन्तरिक अभिप्राय, व्यक्ति या जाति विशेष की कला में रुचि होना इन कारणों से इस काल में कोई भी कृति नहीं बनाई गई। इस काल में निर्माण प्रणाली में कुछ नूतन विकार नहीं हुआ। भिन्न २ निर्माण प्रणालियों के विषय की परीक्षायें पास करके वर्तमान निर्माण—विद्या—विशारद (Engineers) अपनी इच्छानुसार निर्माण कार्यों में दखल देते हैं। इस का परिणाम यह है कि वर्तमान भारतीय निर्माण विद्या का ह्रास होता जा रहा है। वर्तमान काल के सौध, नगर प्रभृति को देखने से अधः पतन का परिचय मिलता है। इन कृतियों में भिन्न भिन्न निर्माण प्रणालियों के मिश्रण हो जाने से खिचड़ी सी पक गई है। इन से किसी उन्नत कला के विकास का परिचय नहीं मिलता-इन के देखने से आंखों में दर्द होने लगता है। वर्त्तमान कलकत्ता शहर के उन्नति के उपायों (Calcutta Improvement Scheme) के अनुसार राजपथ के दोनों ओर लगाई गई अट्टालिकायें इस खिचड़ी—प्रणाली का नमूना हैं। इस प्रणाली की सर्व श्रेष्ठ रचना Victoria Memorial Building की ताज महल के साथ तुलना करने से आसमान और पाताल का अन्तर दिखाई देता है। इस अधः पात का कारण यह है कि हम अपनी प्राचीन प्रणाली को भुला कर जल्दी ही किसी नई प्रणाली को नहीं अपना सकते। इस देश के कारीगर सहायता के अभाव से भूखे मरने लगे। आजकल जब कोई भी रचना बनायी जाती है तो नये कारीगर तथा नये ही शिल्पी (Engineer) बुलाये जाते हैं। शिल्पी

या निर्माण—विद्या—विशारदों द्वारा बनाये गये नकशे (design) के अनुसार कारीगर मजदूरों की तरह कार्य करते हैं। इस काल में बने खिड़की, प्राचीर, दरवाजा, तोरण प्रभृति में भिन्न २ प्रणालियों की खिचड़ी दिखाई देती है। इन में गथिक, करिन्थियन, सेरेसेनिक प्रणालियों तथा हिन्दु, मुसल्मान, खीष्ट आस्तिक, नास्तिक भावों का मिश्रण है। बड़े सौभाग्य का विषय है कि अब भारतवासियों में जातीय भाव जागृत होने लगे हैं। राजनैतिक क्षेत्र में इस जागृति का विकास बड़ा स्पष्ट दिखाई देता है। निर्माण—विद्या में भी यह जातीय भाव स्थान २ पर मालूम पड़ता है। यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक स्थान की कला तथा निर्माण—विद्या की प्रवृत्ति लोगों के मानसिक भावों के अनुकूल होती है। लोगों के मानसिक भावों में परिवर्त्तन आने से निर्माण विद्या की प्रवृत्ति में भी परिवर्त्तन हो जाता है। चित्र कला तथा निर्माण विद्या में बड़ा भेद है क्योंकि चित्रकला और कविता व्यक्तिगत आन्तरिक भावों के प्रतिरूप हैं और उन का हम एकान्त तथा निर्जन स्थान में उत्तमता से सम्पादन कर सकते हैं। बाह्य लोगों की सहायता से चित्रकार का उत्साह तो बढ़ सकता है परन्तु चित्र का उत्तम होना चित्रकार की दक्षता पर निर्भर है। परन्तु निर्माण कार्य में शुरु से धन इत्यादि की सहायता तथा दक्षता की आवश्यकता है। धन के बिना यह कार्य होना अत्यन्त कठिन है। निर्माण विद्या विशारद तथा कारीगर में कितना हस्तलाघव क्यों न हो, बिना बाह्य सहायता से अपनी शक्ति का चमत्कार नहीं दिखा सकता। देश की निर्माण विद्या की उन्नति के लिये राजा-अमीर-उमरा-सेठ-रईस प्रभृति धनियों की मानसिक अवस्था में परिवर्त्तन होना आवश्यक है। इस लिये किसी काल की कृतियों को देख कर तत्कालीन साम्पत्तिक अवस्था का परिचय मिलता है। देश का राजनैतिक इतिहास जानने के लिए खबकरात या प्राचीन कृतियां बहुत कीमती साधन हैं।

इस समय भारत में जातीयता के भाव उठ रहे हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि इस समय कुछ ऐसे भी भाव उठेंगे या नहीं जिन से भविष्य में निर्माण विद्या की उन्नति हो सके। वर्तमान समय में सारे संसार में जो साम्यवाद की लहर चल रही है, जिन में राजा रङ्क, उच्च नीच में कोई भेद नहीं रहता उस का निर्माण विद्या पर कैसा प्रभाव होगा यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि इस जनतंत्र प्रणाली से (जिसके अनुसार सारी संपत्ति राष्ट्र की है किसी व्यक्ति की नहीं) सरकारी निर्माण कृतियां (दफ्तर आदि) साधारण ढंग की तथा अल्प व्यय से बन सकेंगी। रशिया की वर्त्तमान सवियट गवर्नमेन्ट के सरकारी कार्यालयों के विषयों में कुछ नहीं कहा जा सकता परन्तु बहुत लोग जानते हैं कि जापान बहुत दिनों से अपने कार्यशाला तथा भवनादि के निर्माण में अति सरल तथा सस्ती प्रणाली को प्रयोग करता है। जापान में इन सरकारी कार्यों में अधिक नहीं लगाया जाता। इस नीति के अनुसार सारे मकान एक ही ढंग तथा ऊंचाई के होंगे। परन्तु सब मनुष्यों की सम्पत्ति बराबर नहीं; यदि सारी सम्पत्ति को जातीय संपत्ति समझ कर सब के बीच में बराबर २ बांटा जाय तो मध्यम मनुष्यों के वास के योग्य मकान सब के लिए बन सकते हैं। कुछ भी ज्ञात नहीं कि कब और किस प्रकार से भारत में वास्तविक जातीयता के भाव आयेंगे, जिन के प्रभाव से निर्माण विद्या में भी परिवर्तन होगा। उस काल की सब से प्रधान कृतियें-जो एक कला में रुचि रखने वाले शिक्षित राज प्रतिनिधि के प्रयत्न से बनाई गई हैं-शासन संप्रदाय की आडम्बर—प्रियता तथा शासक और शासितों के विरोध के निदर्शक हैं। भारतीय निर्माण विद्या में जातीय भावों के न आने का एक यह भी कारण है कि इस देश में सैकड़ों सम्प्रदाय हैं, जो अपने २ आदर्श

के अनुसार भिन्न २ प्रकार की कृतियें बनाते हैं इसीलिये निर्माण विद्या में जातीय प्रभावों का समावेश होना सम्भव नहीं।

इस देश की साधारण अवस्था, आर्थिक अवस्था और शिल्प की दुरवस्था का ख्याल कर के महात्मा गांधी ने जातीय भावों के समावेश के लिये चरखे को जातीय झण्डे में स्थान दिया। यदि कभी चरखा इस देश के शासन कार्य में राज-चिन्ह का स्थान ग्रहण करे तो यह भी कहा जा सकता है कि भविष्य में भारतीय निर्माण विद्या और राजनैतिक अवस्थायें सरल तथा आडम्बर शून्य होंगी। समाज में यथार्थ साम्यवाद का प्रचार हो सकेगा और बौलशेविज्म की गन्ध तक न आयेगी।

अन्वेषण

[ले०-श्री वंशीधर जी विद्यालङ्कार]

(१)

ढूंढता फिरता हूं अपना घोंसला,
सांझ हो आई है अब सूरज चला॥

(२)

चह चहाते बैठ घर में मौज से—
और साथी;—रह गया मैं एकला॥

(३)

काम से दिन के थके हैं पङ्ख सब,
अब मिले आराम मुझ को कब भला?

(४)

भूल हूं मैं हाय! घर कैसे गया,
सांझ जिस में था सदा आता चला॥

(५)

रात अब सारी कटेगी किस तरह?
घर बिना सब टूटता है हौसला॥

(६)

सूर्य के क्या डूबने के साथ ही—
भाग्य भी क्या अस्त मेरा हो चला॥
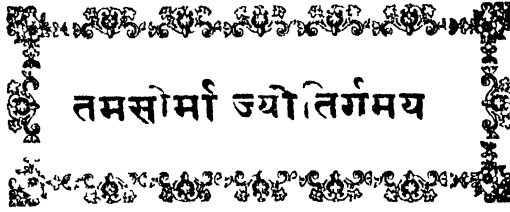
(पं० आनन्दस्वरूप विद्यालंकार)

"भिखमंगा"

ऐ सेठ! ऐ माई बाप! मुझ ग़रीब को एक पैसा देते जाना! मैं दिन भर से भूखा हूं; एक रोटी का मुहताज हूं!! मैं अन्धा हूं, लंगड़ा हूं, मेरे पर रहम करना!! एक पैसा फेंकते जाना!! परमात्मा तुम्हारी कमाई में बरकत देगा!! तुम्हारे बाल बच्चे जीते रहें।

क्या कहा,—मैं नक़ली अन्धा बना हूं! नहीं माई बाप! सचमुच मेरे सामने से सूरज सदा के लिए अस्त हो गया है! काली, अन्धेरी रात उमर भर के लिये छा गई है। एक पैसा दे दो, परमात्मा तुम्हें बहुत देगा। दया करो, अन्धा हूँ, मुंहताज हूं; एक पैसा देते जाओ, दिन रात तुम्हारे यश के गीत गाता रहूंगा, तुम्हें दुआ देता रहूंगा!! ऐ सेठ! ऐ मेरे अन्नदाता! एक रोटी देते जाओ! मैं भूखा हूँ!! तुम्हारी आस पर बैठा हूँ!!

अरे, चले गये। अच्छा, चले जाओ, परमात्मा के दरबार से कहां जाओगे! अन्धे ग़रीब को एक पैसा भी न दिया!!

"आशिक़"

प्यारी! तुम इतनी निठुर क्यों हो गई? देखो, तुम्हारी आस में लगे कितना समय हो गया! तुम्हारी एक प्रेम भरी चितवन के लिये कितनी तकलीफें उठाई! ओः, तुम कितनी सुन्दर हो! यह गुलाबी कपोल, यह हरिण की सी आंखें, यह मधुर मुसक्यान!!

क्या कहा—"रुपये"। नहीं प्यारी! तुम्हारे पीछे सब कुछ तो गंवा चुका हूं। अब रुपयों से तुम्हारी पूजा कैसे करूं! मैं तो प्रेम-भरा दिल ले कर आया हूँ। यही मेरी आख़ीरी जायदाद है। क्या इसे स्वीकार न करोगी? क्या चाहती हो!—सोना और चांदी? क्या इस रूप की कीमत

सोना और चांदी है ? मैं तो तुम्हारे रूप पर पागल हूं । बस, एक दफा पतंगे की तरह तुम पर अपने को कुर्बान करने आया हूं । क्या यह कुर्बानी न स्वीकार करोगी ?

क्या कहा; तुम मुझे कुत्ते से भी बत्तर समझती हो ! क्या इस लिये कि मेरे पास धन दौलत नहीं रहा है ! मैं सब कुछ तुम पर आहुति कर के भी तुम्हारा दिल नहीं पा सका ! अच्छा, यही सही, अब धन दौलत ही लाऊँगा ! चांदी के ठीकरे ही इकट्ठे करूँगा ! चोरी करूंगा; डाका डालूंगा; दूसरों के घरों को लूटूंगा । फिर देखना तुम कैसी मेरे पीछे मारी २ फिरती हो !

"आत्म-दर्शन"

मैं दौलत कहां से लाऊं ! बाज़ार में गया था । रूप ख़रीदने पर दाम न दे सका । खाली हाथ लौट आया । देखूं, घर में कुछ है या नहीं ? सब कुछ तो बेच चुका हूँ । यह बाप दादे के ज़माने की कोठरी है; देखूं, शायद इस में ही कुछ बन्द न हो । ओः ! यह क्या; मैं बाज़ार में भीख मांगता फिरता था । सौ सौ बहाने बनाता था । मेरे घर तो हीरे जवाहरात का ढेर लगा है । यह देखो हार जिस की कीमत दस लाख से कम न होगी, मट्टी में पड़ा है । यह देखो लाल और पन्ना बग़ैर-देखभाल-के रद्दी में पड़े हैं । पल भर में मैं दुनियाँ का सब से बड़ा धनवान् हो गया हूं !

यह हीरे जवाहरात से परे क्या चीज़ दिखती है ! यह किस का खूब-सूरत चेहरा दिखाई देता है ! यह दर्पण में किस की प्रतिमा दिखती है ? कपड़े तो मेरे जैसे ही हैं । तो क्या दर्पण में मैं ही हूं ? ओः ! मैं कितना खूब सूरत हूँ । दूसरों का रूप देखते देखते मैंने कभी अपना रूप दर्पण में देखा ही नहीं ! आहा ! आज का नशा ही और है । आज मैं अपने पर आशिक हुआ हूं । दिन रात दर्पण के सामने बैठा अपने को संवारा करता हूं । जितना संवारता हूं उतना ही ज्यादा रीझता जाता हूं । यह रंगत, यह ज्योति, यह माया कहीं न मिली ! आज सचमुच मेरे सामने प्रकाश उदय हुआ है ।

"इस के बाद"

मेरे दरवाज़े पर वे लोग जो मुझे भिखमंगा समझ कर दुतकारते थे, बड़ी २ भेंटें लिये खड़े हैं । लम्बी २ सभायें कर अपने २ अपराधों की क्षमा

माँग रहे हैं। मैं तो आज सम्राटों का सम्राट् होगया हूँ। दुनियाँ की सब से बड़ी दौलत मेरे हाथ लग गई है। मैं इन भेंटों की क्या परवाह करता हूं!

मेरी माशूका दिन-रात मेरे दरवाज़े पर खड़ी अपने किये पर पछताया करती है। कहती है कि मैंने तो हंसी की थी। बुरा लगा हो तो माफ़ करना। मैं तो तुम्हारी तुच्छ दासी हूं। दिन-रात तुम्हारा नाम जपती हूं। इस तरह सैंकड़ों फन्दे डाल कर मुझे अपने पर आसक्त कराया चाहती है। पर मेरे सामने हमेशा दर्पण रहता है। अपनी खूबसूरती भूलती ही नहीं। क्या मैं अपना रूप भूल कर इसके पीछे भागूं। मैं तो उसे एक ही जबाब देता हूं कि मैंने खूबसूरती की हद पा ली है। तुम में वह ज्योति, वह सौन्दर्य है ही नहीं जो मुझे अपने में दीखता है।

आज प्रेम का और ही मज़ा है। प्रेमी अपने पर आसक्त हुआ है। आज उसने अपने को अपने ही रूप पर न्यौछावर कर दिया है। अब मालूम होता है कि मैं कितना भटका हुआ था। दूसरों के रूप के पीछे भागते भागते अपने रूप को भूल ही गया था। दूसरो से प्रेम करते २ अपने से प्रेम ही न किया। आज अपने में लौ लगी है। इसी में सच्ची शान्ति और आनन्द है।

"असतो मा सद् गमय तमसोमा—
ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय"

प्रतिनिधि-तन्त्र शासन में सम्भावनीय दोष

[ले०—पं० सत्यकेतु जी विद्यालंकार]

किसी भी शासन प्रणाली में दो तरह के दोष हो सकते हैं। प्रथम वे दोष जो कि शासन में अपूर्णता व कमी के रूप में आते हैं और द्वितीय वे दोष जो कि वास्तविक रूप से दोष होते हैं, जिन से बचना कि उस शासन प्रणाली में सरल नहीं होता।

प्रथम तरह के दोष दो रूपों में प्रगट होते हैं। शासन तब अपूर्ण या कमी से युक्त होगा, जब कि शासकों के हाथ में अपने कार्य सम्पादन के लिये उपयुक्त शक्ति न हो। एक शासक के पास अधिकार तो हों, पर उन का प्रयोग करने के लिये उसके पास पर्याप्त शक्ति न हो। इसी प्रकार वह शासन भी अपूर्ण होता है, जो कि व्यक्ति नागरिकों के सामाजिक भावों और क्रियाशीलता को उद्बुद्ध व विकसित करने में समर्थ न हो।

शासन में व्यवस्था स्थापित रखने

के लिये और उन्नति सम्पादन के लिये काफी शक्ति का न होना शासन के प्रकार पर बहुत हद्द तक आश्रित नहीं है। एकतन्त्र, श्रेणितन्त्र और जनतन्त्र सब तरह की शासन प्रणालियाँ शक्तिहीन भी हो सकती हैं और शक्तियुक्त भी इतिहास इस के लिये साक्षी है। यह काफी शक्ति का न होना मुख्य रूप से समाज की उन्नति की दशा पर आश्रित है। जो समाज उन्नति की प्रारम्भिक दशा में होगी, जिस में कि व्यक्ति जाङ्गलिक स्वतन्त्रता को अधिक पसन्द करते होंगे, वहां शासन का कमजोर होना स्वाभाविक है। ऐसे समाज व ऐसी जनता प्रतिनिधि शासन के लिये योग्य नहीं होती। पर यह न समझना चाहिये, कि शासन की निर्बलता का सम्बन्ध केवल समाज की उन्नति की दशा से ही है, यह शासन-प्रकार पर भी कुछ हद्द तक आश्रित है। जनतन्त्र का अन्य प्रकारों की अपेक्षा निर्बल होना स्वाभाविक है, क्योंकि स्वतन्त्रता के साथ अधिकारियों व शासकों की उपेक्षा करना और उनकी शक्ति को बुरी दृष्टि से देखना स्वयं आजाता है। एकतन्त्र और श्रेणितन्त्र में शासकों के पास उपयुक्त शक्ति के न होने का अवसर एकतन्त्र व श्रेणितन्त्र में उतना नहीं होता, जितना कि जनतन्त्र में। अतः जनतन्त्र के लिये सामाजिक उन्नति की दशा का अधिक ऊंचा होना बहुत आवश्यक है। जनता में आज्ञापालन, नियन्त्रण आदि गुणों का होना अनिवार्य है। इस ही लिये अरस्तू ने जनतन्त्र के दो प्रकार बताये हैं। जिस जनतन्त्र में उपरिलिखित गुण न होंगे, वह सब से निर्बल हो जायगा। उस में शासकों के पास कार्य सम्पादन के लिये पर्याप्त शक्ति न रहने के कारण उसकी अवस्था गड़बड़ और अशान्ति की अवस्था हो जायगी। पर यदि जनतन्त्र में ये गुण हों, तो निस्सन्देह वह शक्तिमान भी सब से अधिक होगा। क्योंकि जनता से स्वीकृत और गृहीत शक्ति वाले शासक अन्य शासन प्रकारों के शासकों की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह शासन कर सकेंगे।

जनतन्त्र में प्रभुता या स्वामित्व जनसभा या राष्ट्र-प्रतिनिधि-सभा के पास होता है। पर यदि स्वामित्व के सिवाय अन्य सब शक्ति भी शासक वर्ग के पास न होकर इस सभा के पास ही होगी, तो यह उस जनता की जनतन्त्र के लिये अयोग्यता ही सिद्ध करेगा। शासकवर्ग के पास शासन के लिये उपयुक्त शक्ति का होना नितान्त आवश्यक है। यदि जन सभा शासकवर्ग की शक्ति की विरोधक हो, तो इस का उपाय यही है, कि जनता का मत परिवर्त्तित किया जाय, उनके दिलों में प्रतिनिधि तन्त्र व जन तन्त्र के इस दोष व कमी को बिठाया जाय, और इस के हानिकरत्व का उन्हें विश्वास कराया जाय।

दूसरी प्रकार की अपूर्णता जिस का निर्देश पहले किया जा चुका है, यह है कि जो व्यष्टि नागरिकों के सामाजिक भावों और क्रियाशीलता को उद्बुद्ध व विकसित करने समर्थ न हो। इस उद्बोधन के लिये यह आवश्यक है कि अधिक से अधिक लोग शासन में प्रत्यक्ष व परोक्षरूप से

भाग लें, अर्थात् निर्वाचकों व सम्मति दाताओं की संख्या अधिकतम हो। किसी विशेष दोष के सिवाय अन्य कारण से किसी व्यक्ति को सम्मति के अधिकार से वञ्चित न रखा जाय, और शासन के लिये अवसर प्राप्ति का अधिकार सब को हो, साथ ही न्याय विभाग में ज्यूरी आदि के द्वारा भाव लेने का सब को अवसर हो। इन तथा ऐसे ही अन्य उपायों से जनता की प्रवृत्ति राजनीतिक विषयों में बढ़ती है। और उनकी क्रियाशीलता केवल अपनी व्यक्ति तक ही सियमित नहीं रहती। अपितु, वे राजनैतिक और राष्ट्र के कार्यों में भाग लेने लगते हैं। इस से उनकी नैतिक उन्नति अधिक हो सकती है। यह बात बहुत अंश तक ठीक है, पर इस विचार में एक बात ध्यान देने योग्य है। यह तो ठीक है कि मनुष्य को अपनी वैयक्तिक बातों तक ही सियमित नहीं रहना चाहिए, पर उस की सामूहिक क्रियाक्षमता का क्षेत्र केवल राजनै.तक ही हो, यह बात नहीं है। सामाजिक, धार्मिक, और आर्थिक क्षेत्र भी ऐसे क्षेत्र हैं, जिन में मनुष्य का सामाजिक प्राणित्व चरितार्थ हो सकता है। परन्तु इस विप्रतिपत्ति के समय हमें एक बात और ध्यान में लानी चाहिये। राष्ट्र सब मनुष्यों का सामान्य विषय है, उस की उत्पत्ति ही एक कमी को पूरा करने के लिये हुई है। राष्ट्र के बिना मनुष्य सुरक्षित नहीं है, यहां हम व्यष्टिवादियों और समष्टिवादियों के विस्तृत विचार में नहीं पड़ना चाहते। इतना ही कहना पर्याप्त है कि व्य.ष्टिवादी अपने पक्ष को प्रबल युक्तियों से सिद्ध करते हुवे भी राष्ट्र की आवश्यकता व अनिवार्यता से इन्कार नहीं कर सकते, यदि राष्ट्र की सत्ता अवश्यम्भावी है, और इस के सुसञ्चालन के लिये जनतन्त्र ही सब से अच्छा शासन प्रकार है, तो यह मानना ही होगा कि प्रत्येक व्यक्ति की क्रियाशीलता राष्ट्र के कार्यों में भी अवश्य होनी चाहिये, क्योंकि जनतन्त्र का आधार ही इस बात पर है। यदि इस युक्ति पर कि मनुष्यों की सामूहिक क्रियाशीलता धार्मिक व सामाजिक क्षेत्रों में लग रही है उन का राजनैतिक क्षेत्र से पृथक रहना कमी व अपूर्णता न माना जाय—तन्त्र जनतन्त्र राष्ट्र शीघ्र ही श्रेणि तन्त्र बन जायेंगे या कम से कम उनकी इस ओर प्रवृत्ति हो जायगी।

अरस्तू ने यह माना है कि मनुष्य विकास की चरमावस्था को राष्ट्र में ही प्राप्त कर सकता है। इस प्राचीन विचार को यदि आधुनिक शब्दों में लिखा जाय तो यह है कि जब शरीर में इन्द्रियों के समान राष्ट्र के व्यक्ति अपनी सत्ता को राष्ट्र के लिये स्वाहा कर देंगे और राष्ट्र को एक पृथक् जीवित शरीर बना देंगे। तभी राष्ट्रीय विकास का व मनुष्य के वैयक्तिक विकास की पूर्णावस्था होगी। जनतंत्र शासन के जिस सम्भावित दोष का वर्णन हम यहां कर रहे हैं, उस का अभिप्राय इस हद तक नहीं हैं, जिस तक कि उपरिलिखित विचार हमें ले जाता है। यहां हमारा अभिप्राय इतना ही है कि मनुष्य को अपनी वैयक्तिक क्रिया शीलता से ऊपर उठकर राष्ट्रीय

कार्य में भी भाग लेना चाहिये। अरस्तू की दृष्टि से तो ऐसे जनतन्त्र राष्ट्र भी अपूर्ण होंगे, पर आधुनिक विचारकों की दृष्टि इतनी दूर तक अभी नहीं गई है।

अपूर्णताओं को छोड़ कर अब हम वास्तविक दोषों पर आते हैं। ये दोष भी दो प्रकार के हो सकते हैं—

(१) शासकवर्ग की अयोग्यता व उन में मानसिक गुणों की कमी और योग्यता का न होना।

(२) शासकवर्ग का सार्वजनिक हितों के सिवाय अन्य हितों की पर्वाह करना, ।

हम क्रम से दोनों पर विचार करेंगे। यह समझा जाता है कि प्रथम दोष जनतन्त्र शासन में बहुत सम्भावित होता है। पर यह बात ठीक नहीं है। यदि हम जनतन्त्र का अन्य शासनों से मुकाबला करें, तो यह स्पष्ट हो सकेगा।

पहले एकतन्त्र शासन को लीजिये। यह आवश्यक नहीं कि एकतन्त्र शासन में शासक अधिक योग्य हों। संसार का इतिहास इस बात का साक्षी है। अच्छे एकतन्त्र शासक अपवाद हैं, नियम नहीं। किसी भी देश के इतिहास को लीजिये, यही बात सिद्ध होगी। राजसंस्था के वंशपरम्परागत होने से यह दोष और भी अधिक बढ़ जाता है। केवल अशान्ति और विक्षोभ की अवस्था में, जब कि जनता निर्बल और अयोग्य हो, एकतन्त्र शासन सफल हो सकता है। सामाजिक अवस्थाओं के कारण एक शासक भोग विलास में नहीं फंसता, पर सैनिक और शासन सम्बन्धी कार्यों में लगा रहता है। जो अच्छे शासक (एकतन्त्र शासन में) हमें दिखाई देते हैं, प्रायः वे ऐसी ही अवस्थाओं के उपज हैं। हमायू के अशान्तिमय और विक्षोभ के काल के पश्चात अकबर जैसा सफल शासक हुआ। इन अपवादों को छोड़ कर हम इतिहास से यह सिद्ध नहीं कर सकते, कि एकतन्त्र शासक योग्यता की दृष्टि से जनतन्त्र के शासकों की अपेक्षा अधिक अच्छे हुये हैं।

कहा जा सकता है, कि एकतन्त्र शासन में अधिक अच्छा शासक होने की सम्भावना हो सकती है। जब कि अच्छे शासक अभाव हैं, और उनका मिलना भी कठिन है, तो एक व्यक्ति को ही इसके लिये क्यों न तैयार किया जाय। एक व्यक्ति को शासन के लिये सर्व गुण सम्पन्न बना दो, काम चल जायगा। इस आक्षेप का उत्तर देने के लिये यदि हम प्रयत्न करें तो एक नया विषय हो जायगा और विवाद इस बात पर चला जायगा कि एक तन्त्र शासन प्रणाली अच्छी है, या जनतन्त्र शासन प्रणाली ? हमें यह अभीष्ट नहीं है। अतः इतना कह कर ही हम आगे चलते हैं कि इतिहास में अब तक ऐसे आदर्श शासक देखने को नहीं मिले और इन निवलताओं से युक्त मनुष्यजाति में सर्वगुण सम्पन्न दोष विहीन एक शासक का ढूंढ निकालना कठिन ही नहीं, प्रत्युत असम्भव है, जब तक कि परमात्मा के अवतार की कल्पना न करली जावे। और फ्रांस के लुई १४ वें की तरह

यह न मान लिया जाय कि राजा ही पृथिवी पर मूर्तिमान ईश्वर है। अब श्रेणितन्त्र शासन को लीजिये, यह समझा जाता है कि श्रेणि तन्त्र शासन में शासक शासन के लिये अधिक तम योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। शासकों की मानसिक योग्यता और शक्ति के लिये श्रेणितन्त्र प्रसिद्ध रहे हैं। शासक-श्रेणि के सियमित होने के कारण प्रत्येक शासन—श्रेणि का व्यक्ति अपने को शासक कार्य के लिये तैयार कर सकता था। शासन करना ही उन का पेशा होता था, रोम और वेनिस की शासक श्रेणियां बहुत प्रसिद्ध हैं। वेनिस में यद्यपि विशेषाधिकार बहुत लोगों को प्राप्त थे, तथापि वास्तविक शासन कुछ लोगों की श्रेणी के पास था, जिनका कि सम्पूर्ण जीवन राष्ट्रीय कार्यों के सम्पादन और उनके अध्ययन में ही व्यतीत होता था। रोम में वास्तविक रूप से शासन करने वाली सभा सीनेट कहाती थी। जिस में कि वेही व्यक्ति होते थे जिन्हों ने कि समस्त रूप से राष्ट्र के कार्यों में योग्यता और अनुभव प्राप्त किया होता था। इन उदाहरणों का अभिप्राय यह है कि श्रेणि तन्त्र शासनों में उत्तम शासक मिल सकने का रहस्य हम जान सकें। यह रहस्य यह है कि श्रेणितन्त्र शासनों में उत्तम शासक इस लिए मिल सके हैं, क्योंकि उन में कुछ लोगों का पेशा ही शासन करना था। सरकारी पद वे ही जन प्राप्त करते थे, जो कि उस में विशेष निपुणता प्राप्त कर सकते थे। नौकर शाही की सत्ता ही इसका रहस्य है।

जिन श्रेणितन्त्रों में यह विशेषता नहीं है, उन में उत्तम शासक भी प्राप्त नहीं हुये हैं। इङ्गलैण्ड के अर्वाचीन शासन में शासकवर्ग एक श्रेणि विशेष से लिया जाता है, पर वह श्रेणि योग्यता पर नहीं, अपितु सामाजिक स्थिति पर आश्रित है। इसका परिणाम यह है कि वहां पर विशेष योग्य शासक उत्पन्न नहीं हुये, यदि इंगलैण्ड चैथम और पोल को उत्तम शासक के रूप में पेश कर सकता है, तो अमेरिका का जनतन्त्र भी वाशिङ्गटन और जैफरसन को मुकाबले में रख सकता है। आजकल के श्रेणितन्त्र राज्यों में उत्तम शासक का मिलना उतना ही कठिन है, जितना कि एकतन्त्र शासन में उत्तम शासक का मिल सकना। अतः स्पष्ट है कि श्रेणितन्त्रों में उत्तम व योग्य शासक मिल सकने का रहस्य उनकी नौकर शाही ही है। इस लिये हमें शासन की उत्तमता की दृष्टि से नौकर शाही[1] और जनतन्त्र में ही मुकाबला करना है।

निस्सन्देह नौकरशाही शासन में अनेक लाभ होते हैं। इस से शासक अधिक योग्य और उत्तम मिल सकते हैं। इसी शासन द्वारा अच्छे अनुभवी और शासन में क्रियात्मक योग्यता

१. Bureaucracy का अनुवाद हिन्दी में नौकरशाही किया जाता है, वर्तमान ब्रिटिश सरकार को घृणित bureaucracy के कारण यह अनुवाद है हमने इस निबन्ध में भी इस शब्द को प्रचलित होने के कारण ले लिया है इसके अन्य अनुवाद भी हो सकते हैं। पर वे प्रचलित न होंगे—यहां नौकरशाही शब्द को घृणित अर्थों में न लेना चाहिये।

पाये हुये शासकों का मिल सकना अधिक सम्भव हैं। उनके ऐसे सिद्धान्त बने होते हैं, जिन के लिये वे प्राण तक दे सकते हैं। साथ ही रिवाज़ परम्परा आदि के स्थिर होने के कारण भी वे शासन में प्रवीणता प्राप्त कर सकते हैं। निस्सन्देह ये नौकरशाहीशासन के लाभ हैं, परन्तु नौकर शाही आवश्यकरूप से जन तन्त्र शासन प्रणाली की विरोधी नहीं है। ये इकट्ठी भी रह सकती हैं। श्रेणितन्त्र और नौकर शाही का भी शाश्वत और नित्य सम्बन्ध नहीं है। हम इतना ही कह सकते हैं कि वे दोनों इतिहास में कई स्थानों पर एक साथ रही हैं। इसी तरह जनतन्त्र और नौकर शाही भी एक साथ रह सकती हैं। मनुष्यों के प्रत्येक कार्य में परस्पर विरोधी तत्व अपेक्षित हैं, यदि केवल एक ही तत्व का बहुत दूर तक अनुसरण किया जाय, तब मानवीय कार्य ठीक नहीं हो सकते। नौकरशाही वह कार्य नहीं कर सकती जो कि स्वतन्त्र शासन कर सकता है। और स्वतन्त्र शासन वह कार्य नहीं कर सकता जो कि नौकर शाही कर सकती है। अतः पूर्णता के लिए दोनों का मेल अपेक्षित हैं। यदि जन तन्त्र में शासकों की विशेष योग्यता के लिये प्रयत्न न किया जायगा, तब शासन कार्य सम्यक् तया कभी नहीं चल सकता। शासन को दलबन्दी का रूप देना और दलबन्दी के आधार पर शासकों का बदल देना अवश्य ही बुराई है। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका इस बुराई का फल चख चुका है, अतः उसे भी बाधित होकर सरकारी नौकरियों के लिए परीक्षा निश्चित करनी पड़ी है। अतः नौकर शाही तत्व जनतन्त्र में स्वीकृत कर लेना बहुत ही आवश्यक है, परन्तु इस नौकर शाही में प्रवेश का अधिकार और अवसर प्रत्येक नागरिक को समान रूप से मिलना चाहिये, और खुली परीक्षाओं के आधार पर ही किसी भी व्यक्ति को नौकर शाही में प्रविष्ट करना चाहिये।

जनतन्त्र शासन में जनता व प्रतिनिधि सभा का प्रभुत्व अवश्य है, पर राष्ट्र के हित की दृष्टि से जनता हो को अपने प्रभुत्व की सीमा को नियमित करना चाहिये। वास्तविक शासकों को पर्याप्त अधिकार और स्वतन्त्रता होनी चाहिये। राष्ट्रप्रतिनिधियों को नीति को ही निर्दिष्ट करना चाहिये, अधिक नहीं। तभी शासन सम्यक् रूप से हो सकेगा और जनतंत्र एक बड़ी बुराई से बच सकेगा।

अब हम इस दोष के द्वितीय भाग पर आते हैं, वह शासन दूषित होगा जिस में कि शासक वर्ग का हित और जनता का हित एक न होगा या शासक वर्ग सार्वजनिक हित के सिवाय अन्य अपने या अपनी श्रेणि के या किसी विशेष श्रेणि के हितों की पर्वाह करेगा।

यह प्रायः सभी मानते हैं कि यह दोष एकतन्त्र और श्रेणितन्त्र शासनों में बहुत होता है। एक या श्रेणि सार्वजनिक हितों की पर्वाह नहीं करती पर अपने ही हितों पर ध्यान देती है। उदाहरण के रूप में कुछ बातों को लीजिये। शासक वर्ग का हित इस में है कि कर बहुत अधिक लगाये जावें, पर जनता का हित कम से कम कर लगाये जाने में है। एक-शासक व श्रेणि-शासकों

का हित इस में है कि जनता पर अधिक से अधिक हमारा अधिकार हो पर जनता का हित इस में है कि सरकार का कम से कम अधिकार हो। शासक वर्ग के पास केवल इतनी शक्ति हो, जितनी कि शासन के सु संचालन के लिये अनिवार्य है। एक तन्त्र व श्रेणि तन्त्र में शासक अपना हित इस में समझते हैं कि उनके कार्यों पर आलोचना वा निरीक्षण करने वाला कोई न हो, परन्तु जनता का हित इस से प्रतिकूल है। इस प्रकार के अन्य भी अनेक उदाहरण लिये जा सकते हैं, जिन से कि यह स्पष्ट है कि एक तन्त्र और श्रेणितन्त्र में शासक और शासितों के हित एक नहीं होते। अपितु परस्पर विरोधी होते हैं।

समझा यह जाता है कि यह दोष जन तंत्र शासन प्रणाली में नहीं होता व नही होसकता। पर यह बात ठीक नहीं है। जनतंत्र में भी इस दोष की वहुत सम्भावना है। जन तंत्र में सारी जनता तो शासन कर ही नहीं सकती, और न सब नियम सब की सम्मति से बन सकते हैं। जन तंत्रों में अन्तिम स्वामित्व बहुमत के पास ही तो होता है। जो बहुमत की राय होती है, वही जनता की राय समझी जाती है। अब यदि बहुमत किसी श्रेणि विशेष का हो, तो अल्पमत के लोगों पर घोर अत्याचार होने की सम्भावना बनी रहती है। कल्पना कीजिये कि एक राष्ट्र में श्वेत और कृष्ण वर्ण की जातियाँ रहती हैं, अब यदि बहु मत श्वेत वर्ण के लोगों का है, तब वे कृष्ण वर्ण के लोगों पर अत्यचार करेंगे या उनके हित कृष्ण वर्ण के लोगों के हितों के समान न होंगे, इस की स्पष्ट सम्भावना की जासकती है। भारत वर्ष में ही देखिये—जहां पर कि स्थानीय स्वशासन में जातिगत प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के अनुसार कार्य होता है, हिन्दू अपने हितों की पर्वाह करते हैं, और मुसलमान अपने हितों की। इन दोनों जातियों के हित परस्पर टकराते हैं, और जहां हिन्दूओं की प्रधानता होती है, वहां मुसलमानों के प्रतिकूल नियम स्वीकृत होते हैं। इसी प्रकार मुसलमानों की संख्या में प्रधानता होने पर हिन्दूओं के विरुद्ध नियम स्वीकृत होते है। इसी प्रकार अब तक प्रायः सभी जन तंत्र राष्ट्रों में शासक-धनी श्रेणियों में से रहे हैं, इस कारण गरीबों पर अत्याचार होते रहे हैं। श्रमी श्रेणियों के प्रतिकूल ही शासन होता रहा है। अब जब कि सार्वजनिक मताधिकार होने के कारण आस्ट्रेलिया आदि देशों में शासन श्रमी लोगों के हाथ में जा रहा है, यह सम्भावना का जासकता है—और यह सम्भावना सर्वथा निर्मूल भी नहीं है—कि शासन धनी श्रेणियों के अनुकूल न हो। जिन देशों में साम्यवादी लोगों के हाथ में शासन है, वहां तो यह बात सिद्ध हो ही गई है।

यह कहा जासकता है कि यदि वास्तविक हित की दृष्टि से देखा जाय, तो सब श्रेणियों के—अल्पमत और बहुमत के हित परस्पर विरोधी नहीं हो सकते। यदि वे अपने सम्पा-यिक हित का विचार न करें, दूर दृष्टि से विचार करें, तो उन के हित परस्पर बाधक न होंगे। उदाहरण के लिये भारत सरकार को लीजिये,

भारत सरकार ने इस्तमरारी बन्दोबस्त बङ्गाल के सिवाय अन्य स्थानों पर नहीं किया हुआ। अर्थशास्त्र वेत्ता बताते हैं कि यदि सरकार सब भारत में इस्तमरारी बन्दोबस्त करदे तो में उस का भी लाभ होगा, किसानों का तो लाभ होगा ही। किसानों के फलने फूलने से सरकार के भूमि कर में भी वृद्धि होगी, और व्यवसाय व्यापार की उन्नति होने के कारण अन्य स्रोतों से भी आय होगी।

यह सब ठीक है। परन्तु इस युक्ति को देते हुवे हमें मानवी प्रकृति को न भुला देना चाहिये। मनुष्य प्रकृति इतनी दूर देखने वाली नहीं है। मनुष्य औरों के हित में अपने हित की कल्पना प्रायः नहीं कर सकते। अतः जनतन्त्र शासन में भी यह दोष है ही। अब इस का उपाय क्या किया जाय?

हमारी सम्मति में मनुष्य प्रकृति पर इतना अविश्वास उचित नहीं। मनुष्य केवल अपने स्वार्थ के लिये ही प्रयत्न नहीं करता, उस में परोपकार या परार्थ के लिये भी प्रवृत्ति होती है। सब में नहीं, पर कुछ लोगों में यह प्रकृति अवश्य होती है। निस्सन्देह आजकल बहुत से जन तंत्रों में शासन ऐसे नररत्नों के पास नहीं है। पर यदि जनतंत्र कोई ऐसा उपाय कर सके, जिस से कि शासन ऐसे लोगों के हाथ में आजाय तो यह दोष अवश्य दूर हो सकेगा।

इसके सिवाय प्रतिनिधि निर्वाचन के सम्बन्ध में भी इस प्रकार के उपाय प्रयुक्त किये जासकते हैं, जिन से कि अल्प मत के हित सुरक्षित रह सकें। विविध देशों में इस के लिए अनेक विध परीक्षण भी किये गये हैं। बहुमत के अत्याचारों से अल्पमतों की रक्षा करना एक कठिन प्रश्न जरूर है, पर इसका हल करना सर्वथा असम्भव भी नहीं है। इस के लिये विचारकों ने जो उपाय बताये हैं, उनका जिक्र इस छोटे से लेख में कर सकना बहुत कठिन है।

सम्पादकीय

कानपुर-कांग्रेस.

कानपुर में स्वराजिस्टों के कार्यक्रम को देश ने अपना लिया। अब स्वराज्य-पार्टी के प्रोग्राम के पीछे कांग्रेस का बल होगा। स्वराज्य-पार्टी के सदस्य असेम्बली तथा कौन्सिलों में अपनी माँगें पेश करेंगे और वे देश की माँगें समझी जायँगी। उन का तिरस्कार देश का तिरस्कार समझा जायगा। अब तक यद्यपि ये देश द्वारा ही चुने हुए थे, देश के प्रतिनिधि थे तथापि उन्हें कांग्रेस से बागी समझा जाता था और देश तथा सरकार दोनों के सामने वे कमजोर थे। अब कांग्रेस ने उन्हें अपना लिया है, इसलिये, अपनी दृष्टि में, वे देश तथा सरकार दोनों के सन्मुख, अधिक शक्तिशाली हो गये हैं और अपनी आवाज़ में पहले की अपेक्षा अधिक बल समझने लगे हैं।

कांग्रेस स्वराज्य-पार्टी के कब्ज़े में आ गई है, इस का अभिप्राय क्या है?

कईयों का मत है कि इस प्रकार कांग्रेस की आवाज़, अब स्वराज्य-पार्टी द्वारा, सरकार के सन्मुख रखी जायगी तब सरकार थर्र-थर्र काँपने लगेगी और मुंह-माँगा दे कर अपनी जान बचाने की कोशिश करेगी। अब तक सरकार स्वराज्य-पार्टी को कुछ गिनती ही नहीं थी, अब स्वराज्य-पार्टी को कांग्रेस-पार्टी ही समझ कर उस की माँगों का एकदम तिरस्कार नहीं करेगी। ऐसे हवाई किले बनाने वाले शेखचिल्लियों को कौन समझाये? राजनीति का एक अक्षर समझने वाले को भी यह बात गाँठ में बान्ध लेनी चाहिये कि दुनियाँ-भर में कोई भी सरकार गीदड़-भभकियों से डरा नहीं करती। इस के विपरीत, अत्याचार पीड़ित व्यक्ति मुख से जितनी झाग बहाते हैं, जितना फेफड़ो को खाली करते हैं, उतना ही अत्याचार करने वाले खुश होते हैं, क्योंकि वे समझ लेते हैं कि इन का जोश ज़बान से काफ़ी निकल चुका है, अब ये कुछ कर न पाँयगे। स्वतन्त्रता लेना, स्वतन्त्रता छीनने से आसान काम नहीं है। किसी देश की आज़ादी अपहरण करने में जितनी कुर्बानी करनी पड़ती है, हम ने अभी तक उतनी भी नहीं की, तो फिर हम कैसे आशा कर सकते हैं कि कौन्सिलों में आज़ादी मांगने से सरकार, कुर्बानियां कर के हासिल की हुई वस्तु को, हमें सहज में देने के लिये तैयार हो जायगी। यह भूल है। इसलिये कांग्रेस के स्वराज्य पार्टी के हांथ में चले जाने का यह अभिप्राय नहीं समझना चाहिये कि किसी को भी कौन्सिलों से स्वराज्य मिलने की आशा होने लगी है।

कुछ-एक का विचार है कि कानपुर में कांग्रेस ने जो निर्णय किया है वह प्रतियोगी-सहयोग (Responsive Co-operation) की दिशा की तरफ़ ही कदम उठाया है। म० केलकर का कथन है कि जैसे असहयोग को छोड़ कर कानपुर में स्वराजिस्ट-कार्य-क्रम स्वीकृत किया गया है वैसे ही अगले साल के भीतर ही भीतर इस कार्य—क्रम को छोड़ कर प्रतियोगी—सहयोग का कार्य-क्रम स्वीकृत किया जायगा। कांग्रेस असहयोग की कट्टरपन की नीति को दोषयुक्त समझ कर उसे धीरे २ छोड़ रही है और थोड़े ही दिनों में उसे अपनी नीति में सहयोग की तरफ़ कदम उठाते हुए और परिवर्तन करना पड़ेगा। हमारा विचार है कि कांग्रेस को ऐसा नहीं करना पड़ेगा। यदि कुछ देर के लिये मान भी लिया जाय कि कांग्रेस इस प्रकार के सहयोग के लिये तैयार हो जाय तो भी हमारी समझ में नहीं आता कि इस प्रकार का प्रतियोगी-सहयोग मौडरेट लोगों के कार्य-क्रम से किस प्रकार भिन्न होगा? प्रतियोगी—सहयोग-वादी जो कुछ कहते हैं, मौडरेट—लोग ठीक वही कुछ कहते हैं। हमारा विचार है कि देश में इतनी जागृति आ चुकी है कि वह बीस साल पीछे के वायु—मण्डल में फिर से सांस नहीं ले सकता। उस वायु-मण्डल में उस का गला घुटता है, दम फूलने लगता है। इस में सन्देह नहीं कि असहयोग के आन्दोलन के बाद स्वराज्य-वादियों के कार्य-क्रम को अपना लेना स्वराज्य के संग्राम में एक कदम

पीछे रखना ही है परन्तु इस का यह अभिप्राय नहीं हो सकता कि देश इतना निकम्मा हो गया है कि इस प्रकार वह एक के बाद दूसरा कदम पीछे रखता ही चला जायगा और वर्तमान-जागृति का सर्वथा प्राण संहार कर के ही छोड़ेगा। हमारी सम्मति में यदि कोई ऐसी अशुभ घड़ी उपस्थित होने की सम्भावना भी होने लगे तो म० केलकर जैसे देशभक्तों का काम कन्धा लगा कर देश की डूबती नैय्या को बचाना ही होना चाहिये, डूबती नौका पर अन्तिम पत्थर फेंक कर उसे रसातल में पहुंचा देना नहीं।

तो फिर कांग्रेस के स्वराज्य-पार्टी के हाथ में चले जाने का असली अभिप्राय क्या है? इस का अभिप्राय यह है कि देश ने स्वराज्य-प्राप्ति के लिये जान पर खेल जाने का जो चार साल पहिले उद्योग किया था उस के लिये फिर तैयारी होगी, दूसरा धावा बोला जायगा और अब 'समानता' तथा 'स्वतन्त्रता' के लिये जो युद्ध छिड़ेगा वह पहले से कहीं भयंकर होगा। कौन नहीं जानता कि कौन्सिलों से कुछ नहीं मिलेगा। परन्तु 'जानने' तथा 'अनुभव' करने में भेद है। हम सब जानते हैं कि इन आडम्बरों से कुछ न बनेगा परन्तु इस जानने का हमारे जीवनों पर वह असर नहीं है जो किसी बात को अनुभव कर लेने से होता है। हम जानते थे कि भीख मांगने से कुछ न बनेगा परन्तु उस का अनुभव नहीं हुआ था। भीख मांगना शुरू किया गया। जब फल कुछ न निकला तब कुछ लोग तो आदत से मजबूर होकर भीख मांगते ही रहे परन्तु अधिक संख्या के लोगों के दिलों में बात गड़ गई और उन्होंने असन्तोष प्रकट करना शुरू किया। यह असन्तोष उस सत्य को अनुभव करने के बाद उत्पन्न हुआ था जिसे पहले भी सब जानते थे। केवल किसी बात को जान लेने से कुछ नहीं बन सकता। 'जानना' इस सीमा तक पहुंच जाना चाहिये जहां वह कार्य में परिणत हुए बगैर रह ही न सके। इस समय भी देश में उस असन्तोष को जिसे सब जानते हैं, अनुभव की सीमा तक पहुंचाने के लिये देश की प्रतिनिधि सभा की तरफ़ से सरकार के सन्मुख जनता की मांग का रखा जाना ज़रूरी है। हम जानते हैं कि उस मांग का निरादर होगा परन्तु उस निरादर को प्रत्येक व्यक्ति के 'अनुभव' के क्षेत्र में पहुँचाने के लिये उस को आंखों के सन्मुख ला दिखाना भी आवश्यक है। हमारा विचार है कि केवल इस दृष्टि से कांग्रेस ने पं० मोतीलाल जी के प्रस्ताव को स्वीकृत किया है, कौन्सिलों से किसी प्रकार की आशा रखते हुए नहीं। महात्मा गान्धी इस बात को भली प्रकार समझ रहे हैं। उन्होंने एक वर्ष तक सेनापति से सिपाही का रूप धारण किया है। उन का यही विचार है कि देश को चार साल पहले की हालत पर फिर से लाने का यही एक उपाय है। नवीन-सुधारों से कुछ नहीं बनेगा यह 'जानने' मात्र से देश में जो जागृति उत्पन्न हुई थी, उस से, वह जागृति कहीं अधिक महान् होगी जो इसी बात को 'अनुभव' करने के बाद उत्पन्न होगी!

भारत का अपमान

दक्षिण आफ्रीका में भारत-वासियों के साथ जो पाशविक व्यवहार हो रहा है उस का आंखों देखा चित्र बिशप फ़िशर महोदय ने यूं खींचा है:—

"ट्रान्सवाल शहर में बिना लाईसेन्स लिये कोई हिन्दुस्तानी रेल गाड़ी पर भी नहीं चढ़ सकता। यह लाइसेन्स देना एक गोरे आदमी के हाथ में है। उसे यह भी अधिकार होता है कि जिस हिन्दुस्तानी की दुकान को चाहे शहर के एक हिस्से से उठवा कर दूसरे हिस्से में ले जाने का हुक्म दे दे। वहां हिन्दुस्तानी पक्का मकान नहीं बनवा सकते क्योंकि उन्हें जब कभी जगह छोड़ने को कहा जा सकता है। ट्रान्सवाल के एक गन्दे हिस्से में सब भारतीयों के लिये अलग स्थान कर दिया गया है। उन्हें वहीं रहना होगा परन्तु वहां पर भी उन्हें स्थिर जायदाद बनाने का कोई अधिकार न होगा। यदि कोई वहां पर भी पक्का मकान बना लेगा तो उसे दो वर्ष बाद भी जगह छोड़ने पर बाधित किया जा सकता है। प्राचीन रूस में जो हालत यहूदियों की थी वही हालत आज ट्रान्सवाल में भारतवासियों की है। ट्राम गाड़ी में जाते हुए भी इसी प्रकार के अमानुषिक नियम दिखाई देते हैं। सारी ट्राम गाड़ी में केवल तीन हिन्दुस्तानी बैठ सकते हैं। भारत की देवियें गोद में बच्चा लिये ट्राम पर चढ़ कर यदि देखें कि उन तीन स्थानों में से कोई खाली नहीं है तो सारी ट्राम के सुनसान पड़े रहने पर भी वे गाड़ी में बैठ नहीं सकतीं, उन्हें नीचे उतर जाना पड़ता है। सब हिन्दुस्तानी 'कुली' कहाते हैं। स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में साफ़ साफ़ लिखा है कि सब हिन्दुस्तानी 'कुली' हैं। केम्ब्रिज में पढ़ा हुआ भारतीय जब ट्राम में चढ़ा जा रहा होता है तो निरक्षर, मूर्ख गोरा उसे 'कुली' कह कर पुकारता है। हिन्दुस्तानी लोग नाटकों में नहीं जा सकते, जिन पुस्तकालयों तथा वाचनालयों के लिये उन्हों ने चन्दा दिया होता है उन में भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। होटलों में वे खानसामों की हैसीयत में ही जा सकते हैं। जिस होटल में मैं ठहरा हुआ था उस में कुछ हिन्दुस्तानी मुझे मिलने आये। वे इंगलैण्ड के विश्वविद्यालयों के ग्रेजुएट थे, धनी थे, मोटरें तक रखते थे, परन्तु वे मुझे मिलने होटल के अन्दर न आ सकते थे; उन्हें मिलने के लिये मुझे होटल के बाहर जाना पड़ा। आफ्रीका के गोरे साफ़ शब्दों में कहते हैं कि हिन्दुस्तानी हम से दिमाग़ में बढ़ कर हैं, आचार में ऊंचे हैं परन्तु इन बातों के होते हुए भी आफ्रीका में हिन्दुस्तानी अछूत बने हुए हैं।"

'अछूत' ईसाई क्यों बनते हैं?

जिस प्रकार हम धर्म को अपनी जद्दी जायदाद समझते हैं, अछूतों तथा अब्राह्मणों को सब अधिकारों से वञ्चित करते हैं, उस से यदि हमारे ही भाई हमें छोड़ कर विधर्मियों की शरण ग्रहण करने लगें तो आश्चर्य नहीं। हमारी कमज़ोरी को ईसाई लोग खूब अच्छी तरह समझते हैं। ११ दिसम्बर १९०२ को मद्रास के बिशप ने अपनी वक्तृता में कहा था:—

"The Pariah has been kept for centuries by the Hindu religion in a state of hopeless degradation. He knows the contempt with which he is treated and the hardships he endures are the direct and necessary result of the religion of his forefathers. He finds for the first time a religion which treats him with the true

dignity of his human nature, sweeps away the barriers which separate him from his kind and proclaims to him that he is in common, with the Englishman and the Brahman, a son of God and an inheritor of the kingdom of heaven. That I believe is the simple explanation of the mass movements that have taken place in the past 20 years and are taking place still among the Pariahs of South India towards Christianity.'

"शताब्दियों से हिन्दुओं ने अछूतों को पांव तले रौंद रखा है। अछूत लोग समझने लगे हैं कि उन पर जो अत्याचार हो रहे हैं वे उन के पूर्वजों के धर्म के ही अवश्यम्भावी परिणाम हैं। जब उनके सन्मुख ईसाईयत के भ्रातृभाव के विचार रखे जाते हैं तो उन्हें पहले पहल मालूम होता है कि उन में भी मनुष्यता है, वे भी अंग्रेज़ तथा ब्राह्मण—दोनों के सदृश ही अधिकारों का रखने वाले हैं, उन्हें ईश्वरीय राज्य में नीचा स्थान नहीं है। दक्षिणी भारत में पिछले बीस सालों से जो अछूत लोग ईसाइयत स्वीकार करते चले जा रहे हैं, इसका यही मुख्य कारण है।"

अपनी इस कमज़ोरी को हम समझ रहे हैं, हमारे शत्रु समझ रहे हैं, सारा संसार समझ रहा है, परन्तु धन्य हैं हम कि इस सब कुछ के होते भी मन्दिर की एक ख़ास गली पर चलने वाले, अछूतों के मान-मर्दन के लिये प्राण तक न्योछावर करने को तैयार हो जाते हैं !!

गुरुकुल-समाचार

ऋतु—आज कल गुरुकुल में ऋतु उत्तम है। कुछ दिनों से आकाश बादलों से घिरा रहता है। दो एक दिन अच्छी तरह वर्षा भी हुई है। चिकित्सालय रोगियों से खाली है। गुरुकुल काँगड़ी में कोई भी ब्रह्मचारी रोगी नहीं। सब का स्वास्थ्य अच्छा है। मायापुर में एक ब्रह्मचारी को नमूनिया हो गया था, परन्तु ईश्वर की कृपा से अब उसको आराम है। आशा है कि शीघ्र ही वह पूरी तरह स्वस्थ हो कर अध्ययन में लग सकेगा।

पिछले मास की तरह इस मास भी आसपास के गांवों में इन्फ्लुएन्ज़ा और मलेरिया का प्रकोप रहा। अनेक रोगी गुरुकुल के चिकित्सालय में आये। श्री० पंडित कविराज धर्मदत्त जी विद्यालंकार वैद्यभूषण उपाध्यक्ष आयुर्वेद विद्यालय ने इन का बड़े प्रेम और उत्साह के साथ इलाज किया। उन के ही प्रयत्न का फल था कि जो भी कोई रोगी गुरुकुल में आया, आराम पाकर ही लौटा। उन्होंने जाति, धर्म आदि किसी बात का ख्याल न करके सब की प्रेम के साथ चिकित्सा की। इस के लिये उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, कम है।

स्काउटिंग—गुरुकुल में बालचर शिक्षण का कार्य नियम पूर्वक हो रहा है। सप्ताह में दो दिन व्याख्यान होते हैं, और एक दिन ड्रिल कराई जाती है।

विद्यार्थी फरिड्यों, लैम्पों और सीटियों के साथ बात चीत करना सीख गये हैं। पिछले दिनों स्काउटिंग के प्रसिद्ध प्रचारक व आफिसर श्री० पं० श्रीराम जी वाजपेयी गुरुकुल पधारे। यहां के स्काउट्स को देख कर वे बहुत प्रसन्न हुवे। सायंकाल आप का व्याख्यान भी हुवा। आपने 'स्कउटिंग' के सिद्धान्तों और नियमों की बहुत ही सुन्दर व्याख्या की। गुरुकुल की शिक्षा प्रणाली पर आपने बहुत सन्तोष प्रगट किया। सम्मति पुस्तक पर आपने निम्नलिखित शब्द लिखेः-

"मैं अपने को अहोभाग्य समझता हूं कि मुझे आज गुरुकुल कांगड़ी देखने का अवसर मिला। मैंने जितनी प्रशंसा यहां की सुनी थी उस से कहीं ज्यादा प्रशंसनीय कामों को मैंने अपनी आंखों से देखा। Plain Living and High Thinking की यह संस्था एक जीती जागती मिसाल है। वे धन्य हैं जो यहां पर काम कर रहे हैं अथवा काम सीख रहे हैं। मैं प्रार्थी हूं कि परमेश्वर इस संस्था को सफलता देता रहे।"

प्रतिष्ठित यात्री—श्री० पं० श्रीराम जी वाजपेयी के सिवाय इस मास अन्य भी अनेक प्रतिष्ठित यात्री गुरुकुल पधारे। लखनऊ क्रिश्चियन कालेज में व्यापार के अध्यापक श्री० प्रो० इ. एम. मौफेत १६ दिसम्बर को गुरुकुल में आये। सब विभागों के कार्य को आपने ध्यानपूर्वक देखा। जाने से पूर्व आप का 'अमेरिकन शिक्षा प्रणाली' पर एक भाव पूर्ण व्याख्यान भी हुआ। गुरुकुल का आप पर क्या प्रभाव पड़ा, यह बात सम्मति पुस्तक पर लिखे हुवे उनके इन शब्दों से प्रगट होती है—

"मैंने आज गुरुकुल का अवलोकन किया। इस की प्रणाली और कार्य को देख कर मैं बहुत प्रभावित हुवा हूं। यह बहुत ही सादी परन्तु साथ ही बहुत ही समर्थ संस्था है। विद्यार्थियों के भाव अत्युत्तम हैं। अध्यापक बहुत सहृदय और आत्म त्यागी हैं। आचार्य जी बड़े आदर्श वादी हैं, परन्तु साथ ही उन में क्रियात्मक निपुणता भी बहुत अधिक है। इस संस्था का भविष्य बहुत उज्ज्वल है।"

कांग्रेस से लौटते हुए अनेक स्नातक भाई भी इस मास गुरुकुल पधारे। इन में सत्यवादी-सम्पादक प्रो० भीमसेन जी विद्यालंकार तथा राष्ट्र भाषा के उत्साही प्रचारक पं० जयचन्द्र जी विद्यालंकार के नाम उल्लेखनीय हैं। इनके राजनीतिक अनुभवों से कुलवासियों ने बहुत लाभ उठाया।

परीक्षायें—गुरुकुल की वार्षिक परीक्षायें बहुत समीप आगई हैं। यद्यपि अन्तिम रूप से परीक्षाओं की तिथियां अभी नियत नहीं की गईं, परन्तु यह निश्चित सा है कि अन्तिम स्नातक परीक्षा २२ फरवरी से प्रारम्भ होगी। अन्य परीक्षायें ७ मार्च से शुरु की जावेंगी। प्रवेश परीक्षा की तिथि २ फरवरी नियत कर दी गई है। ब्रह्मचारियों ने ज़ोरशोर के साथ परीक्षा की तैय्यारी शुरु कर

की है। सब ध्यानपूर्वक अध्ययन में लगे हुवे हैं। अध्यापक लोग कोर्स को स-माप्त कर रहे हैं ताकि विद्यार्थियों को तैय्यारी का काफी समय मिल सके।

वार्षिकोत्सव—गुरुकुल का वार्षिकोत्सव ईस्टर की छुट्टियों में मनाया जावेगा। एक एप्रिल से वार्षिकोत्सव की धूम धाम शुरू हो जावेगी। जलसे का स्थान मायापुर वाटिका ही नियत हुवा है। इससे दर्शकों को अधिक सु-विधा रहेगी। गुरुकुल प्रेमियों को अभी से उत्सव की तैय्यारियां शुरु कर देनी चाहियें। गुरुकुल का डेपुटेशन जलसे से पहले अनेक स्थानों पर भिक्षा के लिये जावेगा। परन्तु हमारे पास आदमी इतने कम हैं, कि सब स्थानों पर डेपुटेशन नहीं पहुंच सकेंगे। इस लिये सब आर्य भाइयों का कर्तव्य है कि वे टोलियां बना कर चन्दा एकत्रित करना शुरू करदें। गुरुकुल से पुरुषार्थी निधि की र-सीदें मंगवालें और अभी से कार्य प्रारम्भ करदें। पिछले साल बाढ के कारण गुरुकुल को जो नुकसान पहुंचा है उसकी पूर्ति बिना विशेष प्रयत्न के नहीं हो सकती।

सभायें—परीक्षा समीप होने के कारण गुरुकुलीय सभाओं ने अपने साधारण अधिवेशन स्थगित कर दिये है फिर भी साहित्य परिषद् की ओर से पं० देवशर्मा जी तथा पं० देवराज जी ने वेद विषयक निबन्ध पढ़े। वाग्वर्धिनी सभा का पं० आङ्गिरादेव जी विद्यालंकार, तिलक स्कूल आफ पालिटिक्स, लाहौर के सभापतित्व मे जन्मोत्सव हुआ और उन्हीं की अध्यक्षता में राष्ट्रीय महासभा का अधिवेशन किया गया।

साहित्य–वाटिका

पाठक एण्ड कम्पनी, १२।१ चोर बागान लेन, कलकत्ता, द्वारा प्राप्त हुई 'दाम्पत्य-विज्ञान' एवं 'जनन-विज्ञान' नामक दो ग्रन्थों की आलोचना "अलंकार" के पिछले अंक में प्रकाशित हो चुकी है। निम्न पुस्तकें भी उपरोक्त कम्पनी द्वारा प्राप्त हुई हैं।

भक्त प्रह्लाद—ले० श्री रामशंकर त्रिपाठी। पाठक कम्पनी द्वारा हिन्दी में बाल-साहित्य प्रकाशित करने के लिये 'बालबन्धुमाला' नामक ग्रन्थावली प्रकाशित हो रही है। प्रस्तुत पुस्तक उसी ग्रन्थावली की है। इस में भक्त-प्रवर प्रह्लाद का जीवन बहुत सुन्दर भाषा में वर्णित है, चित्रों के होने से पुस्तक अधिक सुन्दर बन गई है। छपाई और कागज बढ़िया है। मूल्य ॥=)

सती पद्मिनी—ले० श्री देवबली सिंह। यह भी उपरोक्त ग्रन्थमाला की ही पुस्तक है। इस में सती पद्मिनी का चरित्र सरल एवं मनोरंजक भाषा में वर्णित है। कतिपय मनोरम चित्र भी हैं। बालकों एवं कन्याओं के लिये शिक्षाप्रद है—मूल्य ॥=)

श्रीमद्भगवद्गीता—टीकाकार श्री ईश्वरीप्रसाद शर्मा । प्रकाशक, वर्म्मन प्रेस, कलकत्ता । सर्व साधारण में अल्प मूल्य में बाँटने के लिये इस का प्रणयन किया गया है । टीका सरल भाषा में है तथा सुबोध है । पुस्तक हिन्दू मात्र के घर में रखने योग्य है । मूल्य केवल दो आना ।

महावीर गेरीवाल्डी—लेखक श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति । प्रकाशक-साहित्य परिषद्, गुरुकुल काँगड़ी । लेखक द्वारा लिखी गई 'नेपोलियन' और 'बिस्मार्क' नामक पुस्तकों से हिन्दीजगत् सुपरिचित है । यह पुस्तक भी बड़ी रोचक एवं शिक्षाप्रद है । पढ़ने में उपन्यास का सा आनन्द आता है । भाषा परिमार्जित एवं मुहावरेदार है । सचित्र होने से पुस्तक अधिक चित्ताकर्षक हो गई है । छपाई एवं कागज़ सुन्दर; मूल्य १।), प्रकाशक से प्राप्य ।

बिखरे हुए फूल—ले० पं० बुद्धदेव जी विद्यालंकार । प्रकाशक-साहित्य-परिषद, गुरुकुल काँगड़ी । प्रस्तुत पुस्तक में लेखक की फुटकर कविताओं का संग्रह है । हिन्दी प्रेमियों के लिए ये कविताएँ नवीन वस्तु हैं, इन में भावपूर्णता, गाम्भीर्य एवं नवीनता है । काव्य प्रेमियों के काम की वस्तु है । मूल्य ।≤)

मानवी आयुष्य—ले० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर । प्रकाशक—गुरुकुल काँगडी का साहित्य परिषद् । प्रस्तुत पुस्तक में वैदिक एवं शास्त्रीय प्रमाणों से बतलाया गया है कि मनुष्य का आयु १०० वर्ष की है और यदि मानवीय-धर्मों का नियम पूर्वक पालन किया जाय तो १०० वर्ष से भी अधिक हो सकती है । पुस्तक अच्छी है—मूल्य ≤)

आर्यकुमार-गीता—संकलनकर्त्ता-श्री ईश्वरदत्त भिषगाचार्य, दयानन्द राष्ट्रीयविद्यालय, कानपुर । इस लघु पुस्तक में कुमारों के लिये गीता के उद्बोधनात्मक भावपूर्ण श्लोकों का संग्रह है । कुमारों के प्रतिदिन के स्वाध्याय के लिए अत्यन्त उत्तम है । उपनिषदों का निचोड़ गीता और गीता का निचोड़ यह 'आर्य-कुमार गीता' है—मूल्य ।)

चाँद (प्रवासी अङ्क)—"चाँद" हिन्दी साहित्य में अपना विशेष स्थान रखता है । यह अपने विशेषाङ्कों के लिये प्रख्यात है । प्रस्तुत अङ्क प्रवासी अङ्क है । इस में प्रवासी भारतीयों से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से उत्तमोत्तम लेख, कविताएँ एवं सुन्दर चित्र हैं । कतिपय मननीय लेख अंग्रेज़ी में भी हैं । इस अङ्क का संपादन श्री पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने किया है । अङ्क पठनीय एवं संग्रह के योग्य है । चाँद जैसे उत्तम पत्र का घाटे पर चलना हिन्दी प्रेमियों के लिए दुर्भाग्य की बात है । विशेषाङ्क का मूल्य है । पता चांद कार्यालय, इलाहबाद ।

महारथी—इस नाम का एक सचित्र मासिक पत्र दीपावली से राजधानी दिल्ली से प्रकाशित होना आरम्भ हुआ है । इस में नवयुवकोपयोगी लेखों एवं कविताओं का अच्छा संग्रह रहता है । सर्व साधारण के लिए भी पर्याप्त सामग्री रहती है । वार्षिक मूल्य ४॥), महारथी आफिस, चाँदनीचौक, दिल्ली से प्राप्त हो सकता है ।

जीवन-रहस्य —ले० प्रो० गिरधरलाल गोविन्द जी मेहता। मूल्य ७)। मिलने का पता, गिरधरलाल मेहता, नं० १५१, बाज़ार गेट स्ट्रीट, फ़ोर्ट, बम्बई।

यह पुस्तक गुजराती में है परन्तु सर्वथा मौलिक है। इस में ११ प्रकरण हैं। (१) जीवन का मुख्य-आधार शरीर-यन्त्र, (२) मस्तक तथा मन, (३) जीवन पर प्रेम का प्रभाव, (४) सौन्दर्य तथा उस का उद्देश्य, (५) विवाह में चुनना, (६) परिशीलन (Courtship), (७) जननेन्द्रिय के अवयव, (८) विवाह के योग्य आयु, (९) गर्भाधान संस्कार इत्यादि। पुस्तक में इसी सम्बन्ध में अनेक चित्र भी हैं। पृष्ठ संख्या ४०० के लगभग है। सुन्दर जिल्द, सुन्दर काग़ज़ और सुन्दर छपाई है। पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय अत्यन्त आवश्यक तथा हृदयग्राही है। हमारे जो गुजराती के पाठक हैं उन से हमारा अनुरोध है कि यदि वे किसी पुस्तक पर भी सात रुपया ख़र्च करना चाहते हैं तो सब से पहले इस पुस्तक को मंगवा कर पढ़ें क्योंकि इस में जीवन-विद्या के रहस्यों को खोल कर दर्शाया गया है। इस पुस्तक के लेखक मस्तक विद्या (Phrenology) के एक मात्र पण्डित हैं। हमारा उन से वैय्यक्तिक परिचय भी है और हम उस के आधार पर कह सकते हैं कि इस विषय का उन का ज्ञान उथला नहीं परन्तु गहरा है। इस पुस्तक को लिखते हुए उन्हों ने मस्तक-विद्या का भी पर्याप्त सहारा लिया तथा दिग्दर्शन कराया है। सफ़ाई आदि में पुस्तक अंग्रेज़ी पुस्तकों की टक्कर की है। हम प्रो० गिरधर लाल गोविन्द जी मेहता को गुजराती साहित्य में इस प्रकार की अपूर्व पुस्तक लिखने के कारण बधाई देते हैं और उन से आशा करते हैं कि वे शीघ्र ही इस पुस्तक का हिन्दी में अनुवाद करने अथवा कराने का प्रबन्ध कर हिन्दी जानने वालों का उपकार करने का भी यश लेंगे।

सूचनायें

१. मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी सूचित करते हैं कि गुरुकुल में प्रविष्ट होने वाले ब्रह्मचारियों के प्रार्थना पत्र ३१ जनवरी १९२९ तक कार्यालय में पहुंच जाने चाहियें।

२. स्नातक-मण्डल के मन्त्रि सूचित करते हैं कि गुरुकुल के महोत्सव पर स्नातक-मण्डल का अधिवेशन होगा जिस में कई आवश्यक प्रश्नों पर विचार किया जायगा। स्नातक अधिक संख्या में दर्शन दें। साथ ही जो भाई अपने प्रस्ताव "मण्डल" में विचारार्थ रखा चाहते हों वे एक महीने पहले ही सूचना दें ताकि उन पर पहले कार्यकारिणी में विचार किया जा सके।

सदाक़त खुद ब खुद कर देती है शोहरत ज़माने में।
मुनाफ़ा इस क़दर रखिये नमक जितना हो खाने में॥

(१) गंगाविष्णु नैनामृताञ्जनः—यह सफ़ेद सुरमा शिरीष की जड़ में ६ महीने रख कर तथा अन्य वैज्ञानिक तरीकों से शुद्ध करके २ साल की लगातार मेहनत के पश्चात् तय्यार किया गया है। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि यह सुरमा आंखों की निम्न बीमारियों में अकसीर साबित हो चुका है—

नेत्रों में खारिश का उठना, रतौंधी, दूर अथवा समीप की वस्तु का साफ़ २ नज़र न आना, धूप में जाते ही आंखों का गरमी से चौंधिया जाना, देर तक किसी वस्तु अथवा पुस्तक की ओर नज़र का न टिकना, आंखों से पानी का गिरना, नज़ले की वजह से आंखों की कमज़ोरी और विशेष करके आजकल के नवयुवकों तथा वृद्धों के लिये यह सुरमा अकसीर साबित हो चुका है। कीमत २) तोला रखी गई है। ३ माशा ॥), ६ माशा १), १ तोला २)

(२) कुक्करों का शर्तिया इलाजः—एक आश्चर्य जनक औषधि। यह कोई शास्त्रीय नुस्खा नहीं है। परन्तु किसी अनुभवी वृद्ध सन्यासी का जादू है। देखने में बिलकुल मामूली खाली बत्तियें नज़र आती हैं परन्तु इसके ४, ५ दिन के इस्तेमाल से ही आपको निहायत फ़ायदेमन्द साबित होंगी—

यह बत्तियाँ आंखों के पुराने से पुराने रोहें, सुर्खी तथा पड़वाल और पानी के झर २ गिरने के लिये अकसीर है। फ़ायदे इसके अन्य भी हैं परन्तु आप इसकी एक बार परीक्षा करके हमेशा के लिये इसको अपने पास रखना चाहेंगे। सेवन विधि दवाई के साथ भेजी जाती है।

(३) मस्तिष्क पौष्टिकः—विद्यार्थी, अध्यापक, वकील, क्लर्क और व्याख्याता आदि जिन्हें काम करके काफ़ी देर के लिये आराम की ज़रूरत पड़ती है, उनकी दिमाग़ी ताकत को स्थिर रखनेके लिये यह दवाई अद्वितीय है। कम से कम १५ दिन या १ महीना इसके सेवन करने से आश्चर्यजनक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इससे आप अपने काम को दिल से कर सकेंगे तथा दिमाग़ी ताकत को ज्यादा नहीं खर्च करना पड़ेगा। विद्यार्थियों के लिये अमृत है। केवल एक बार परीक्षा की ज़रूरत है। १ शीशी १५ दिन के लिये २)

(४) केशाञ्जन खिज़ावः—जहां अन्य खिज़ाबों के लगाने से काली चमड़ी होने के सिवाय बालों की जड़ें कमज़ोर होकर झड़ने लग जाती हैं, वहां इस के सेवन से बाल काफ़ी अरसेके लिये काले तथा खास चमकीले मालूम देते हैं। यह दो चीज़ें हैं-एक खुश्क, दूसरी तर। दोनोंको उचित मात्रामें मिला कर ब्रशसे इस्तेमाल करने से बालोंमें खास चमक आती है। १ शीशी १)

पता—पं० विष्णुदत्त विद्यालंकार, अलंकार आयुर्वेदिक फार्मेसी, कूचा लालूमल, लुधियाना।

वर्ष २, अङ्क १२ Registered No A 1310

चैत्र १९८२] [मार्च १९२६

ओ३म्

गुरुकुल समाचार

[स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र]

मुख्य संपादक
प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय सूची

विदेश से ६ शि० एक प्रति का ।-) वार्षिक मूल्य ३)

ग्राहकों से क्षमा--याचना

गुरुकुल के अत्यावश्यक कार्याधिक्य से प्रेस के घिरे रहने से इस बार 'अलङ्कार' कुछ विलम्ब से निकल रहा है। आशा है ग्राहक सज्जन उस के लिये हमें क्षमा करेंगे।

प्रबन्धकर्ता 'अलङ्कार'

अलङ्कार में विज्ञापन का दर

	एक पृ०	आधा पृ०	चौथाई पृ०
१ वर्ष के लिये	६) मास	३॥) मास	२) मास
६ मास के लिये	७) मास	४) मास	[illegible] मास
३ मास के लिये	८) मास	४॥) मास	२॥) मास
१ मास के लिये	९) मास	५॥) मास	३॥) मास

विज्ञापन का मूल्य पहले लिया जावेगा।

प्रो० सत्यव्रत जी प्रिन्टर तथा पब्लिशर के लिये गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में छपा

वर्ष २, अङ्क १०] मास, चैत्र [पूर्ण संख्या २२

अलंकार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः।
हविष्मन्तो अलंकृतः॥ ऋ० १. १४. ५।

* विश्वप्रेम *

[श्री प० श्रीहरि जी आचार्य हिन्दी विद्यापीठ प्रयाग]

शेष महेश रमेश सुरेश विरञ्चि सभी इक प्रेम के चित्र हैं।
योग वियोग सुभोग अनेक सभी प्रिय प्रेम के चारु चरित्र हैं॥
राग विराग सुभाग सुयाग सभी इक प्रेमस्वरूप पवित्र हैं।
"श्री हरि" पुत्र कलत्र सुमित्र अमित्र हू प्रेम के खेल विचित्र हैं॥१॥

* * *

प्रेम ही जीवन, प्रेम ही मृत्यु है, प्रेम ही है विष घूंट अमी को।
प्रेम ही ब्रह्म है, प्रेम ही जीव है, प्रेम ही वासर रूप तमी को॥
प्रेम ही भुक्ति है, प्रेम ही मुक्ति है, प्रेम ही योग की युक्ति शमी को।
"श्री हरि" प्रेम ही चन्द्र की चन्द्रिका, प्रेम ही है मम जीवन जी को॥२॥

बौद्ध धर्म का विदेशों में विस्तार

(ले० प्रो० सत्यकेतु जी विद्यालंकार)

[२]

४. लङ्का में महेन्द्र का प्रचार

'मोग्गलि पुत्त तिस्स' की अध्यक्षता में बौद्ध धर्म की जो तीसरी महासभा हुई, उस में विविध देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये अनेक 'मिशन' तैयार किये गये। लंका को जो प्रचारक-मण्डल भेजा गया, उस का नेता सम्राट् अशोक का पुत्र महेन्द्र था। महेन्द्र के साथ कम से कम चार और भिक्षु थे। इन प्रचारकों ने किस प्रकार लंका में बौद्ध धर्म का प्रचार किया, यह वृत्तान्त महावंश, दीपवंश, दिव्यावदान, अशोकावदान और ह्यून्सांग के यात्रा-विवरण में उल्लिखित है। इन्हीं प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर महेन्द्र के प्रचार का संक्षिप्त वर्णन हम यहां उल्लिखित करेंगे। महावंश और दीपवंश के अनुसार यह वृत्तान्त इसप्रकार है-

जब कि सम्राट् विन्दुसार अभी जीवित थे, तब राजकुमार अशोक अवन्तिदेश के 'कुमार'[1] थे। उन की राजधानी उज्जैन थी। उस समय उन का सेट्ठी जाति की एक कन्या के साथ सम्बन्ध होगया। इस कन्या का नाम देवी था और यह 'वेदिस गिरि'[2] की रहने वाली थी। इस का राजकुमार के साथ विवाह हो गया। और बुद्ध की मृत्यु के २०४ वर्ष बाद[3] उन से एक पुत्र उत्पन्न हुवा, जिस का नाम महेन्द्र रखा गया। दो वर्ष बाद सङ्घमित्रा नाम की एक लड़की भी उत्पन्न हुई। जिस समय अशोक ने अपने भाइयों का घात कर[4] साम्राज्य को हस्तगत कर लिया, उस समय 'देवी' वेदिस गिरि में

---

१. मौर्यकाल में 'कुमार' शब्द का व्यवहार प्रान्तों के शासकों के लिये भी होता था। सम्पूर्ण मौर्य साम्राज्य पांच बड़े प्रान्तों में विभक्त था। इन पर शासन करने के लिये प्रायः राजघराने के व्यक्ति नियत किये जाते थे। ये शासक 'कुमार' या 'आर्यपुत्र' कहलाते थे। अशोक के शिलालेखों में इन्हें इन शब्दों से ही कहा गया है। यथा—
"देवानं पियस्स वचनेन तोसलियं कुमाले महामाता च वतविय अँ किं छि" इत्यादि (धौली का शिला लेख)। और भी देखिये—Bhandarkhar-Asoka अ० २

२. भीलसा के समीप वेस नगर। इस के वर्णन के लिये देखिये Cunningham-Bhilratopes

३. द्वे वस्ससतानि होन्ति चतुवस्सं दन उत्तरि
सम्बुद्धे परिनिब्बुते(?) सो जातो महेन्दो असोकत्रजो। (Oldenburg-Dipvanso अ० ६. श्लो. २०)

४. जेसतिको भातरो सो हन्त्वा एकूनकं सतं, सकले जम्बुदीपस्मिं एकरज्जमपापुणि
(महावंश-पञ्चम परिच्छेद श्लोक २०)
दीपवंश के अनुसार—हन्त्वा एकसतं भाते वसं कत्वान एकतो
महिन्द पुत्रसमे(?) यस्से असोकं अभिसिञ्चुम। (अ० ६. श्लो. २२)

ही रही, परन्तु दोनों सन्तान अपने पिता के साथ राजधानी में चले गये। सङ्घमित्रा का विवाह 'अग्नि ब्रह्मा' नाम के एक ब्राह्मण से किया गया। इन के एक पुत्र हुआ जिस का नाम सुमन रखा गया।

अशोक के राज्याभिषेक के चार वर्ष बाद युवराज तिष्य, जो कि उस का भाई था, अग्निब्रह्मा और सुमन ने बौद्ध धर्म की दीक्षा ली। इस समय सम्राट् अशोक 'धर्म्म' के प्रचार में पूर्ण रूप से तत्पर था। उस द्वारा अभिवाञ्छित ८४ हजार स्तूप बन कर तैय्यार हो चुके थे[५]। इस ही समय बौद्ध भिक्षुओं और भिक्षुणिओं की एक बड़ी भारी सभा की गई, इस में लाखों भिक्षु सम्मिलित हुवे। अशोक पूर्ण समारोह के साथ सभा के मध्य में अपने उच्च मञ्च पर विराजमान हुवा। इस समय अशोक के सब अपराध और दोष धुल कर दूर हो चुके थे और वह अब चण्डाशोक के स्थान पर 'धम्मासोक' बन चुका था। क्यों कि इस समय युवराज तिष्य पूर्ण रूप से अपने नवीन धर्म की सेवा में तत्पर था, अतः अशोक ने विचार किया कि युवराज के पद पर तिष्य के स्थान पर कुमार महेन्द्र को नियुक्त कर दिया जाय। परन्तु महेन्द्र का धर्मगुरु 'मोद्गलिपुत्त तिस्स' इस से सहमत न हुवा[६]। उस ने महेन्द्र और संघमित्रा–दोनों को भिक्षुव्रत देना निश्चय किया हुआ था। अतः सम्राट् से उस ने महेन्द्र को युवराज न बनाने के लिये निवेदन किया। सम्राट् तैय्यार हो गया और महेन्द्र तथा संघमित्रा को भिक्षु धर्म की दीक्षा दी गई। कुमार महेन्द्र की आयु २० वर्ष की हो चुकी थी, अतः उसे एक दम संघ में ले लिया गया। संघमित्रा की आयु अभी दो वर्ष कम थी, इस लिये उसे दो वर्ष और प्रतीक्षा करनी पड़ी। महेन्द्र ने सम्राट् अशोक के राज्याभिषेक के ६ वर्ष बाद भिक्षुव्रत ग्रहण किया। सम्राट् के राज्याभिषेक के आठ वर्ष बाद बौद्ध–संघ से अव्यवस्था को दूर करने के लिये बौद्धधर्म की तीसरी महासभा हुई। इस का सभापति सम्राट अशोक का धर्मगुरु 'मोद्गलि पुत्र तिष्य' बना। इस महासभा में 'कथा वत्थु' नामक प्रबन्ध की रचना की गई और संघ के अन्दर व्यवस्था स्थापित करने

---

५. पुरेसु चतुरासीति सहस्सेसु महीतले ।
तत्थ तत्थेव राजूहि विहारे आरभापयि ॥　　(महावंश ५, ८१–८२)
इसीतरह दिव्यावदान–"चतुरशीतिधर्मराजिका सहस्त्रं प्रतिष्ठापितं सर्वत्र च "शतसहस्राणि दत्तानि जातौ बोधौ धर्मचक्रे परिनिर्वाणे च ॥
(Cowel and Neil–Divyavadan. P. 429)
इसी तरह ह्यूनसांग के यात्रा–विवरण में वर्णित है।

६. 'उपज्झायो कुमारस्स अहु मोग्गलिसव्हयो।' (महावंश ५, २०७)
संघमित्रा की उपाध्याया का नाम धर्मपाला दिया गया है। यथा—
'संघमित्तायुपज्झाया धम्मपाला' ति विस्सुता, आचरिया आयुपाली काले सासी अनासवा।
(महावंश– ५, २०९–२१०)

के लिये महान् उद्योग किया गया। साथ ही बौद्ध धर्म का देश देशान्तरों में प्रचार करने के लिये अनेक 'प्रचारक-मण्डल' तैयार किये गये। इसी समय लङ्का के राजा 'देवानाम्प्रिय तिस्स' (देवानां प्रियतिष्य) ने भारत वर्ष को एक प्रतिनिधि-मण्डल भेजा। 'तिस्स' इसी वर्ष लङ्का की राजगद्दी पर आरूढ़ हुवा था। यह अशोक का बहुत ही घनिष्ठ मित्र और सहायक था। अपने शक्तिशाली मित्र के प्रति अपना सम्मान प्रदर्शित करने के लिये ही यह 'मण्डल' भेजा गया था। इस का प्रधान था, तिस्स का भतीजा 'महा-अरिट्ठ'। उस समय में लङ्का पर भी सम्राट् अशोक का बड़ा प्रभाव था। यद्यपि भारत के दक्षिण में स्थित यह द्वीप मौर्य साम्राज्य के अन्तर्गत नहीं था, तथापि वहां पर भी अशोक ने अपनी धर्म विजय प्राप्त की थी। इसी लिये अशोक उचित अभिमान के साथ लिखता है कि "और उन्होंने (देवताओं के प्रिय अशोक ने) अपने राज्य के नीचे (दक्षिण में) चोल, पांड्य तथा ताम्रपर्णी में भी अपनी धर्मविजय प्राप्त की है[७]।" ताम्रपर्णी लंका का ही दूसरा नाम है। इस धर्मविजय के कारण लंका पर अशोक का बहुत अधिक प्रभाव था। वहां का राजा और प्रजा, दोनों उस को अपना उपकर्त्ता मानते थे। इसीलिये इस 'धर्म विजय' से प्रभावित हुए हुए 'देवानाम्प्रिय तिस्स' ने अपनी श्रद्धा और सम्मान का उपहार दूत-मण्डल द्वारा अशोक के पास भेजा। दीपवंश के अनुसार, तिस्स ने अपने राज्य में उत्पन्न होने वाले अमूल्य और आश्चर्यकर रत्नों को दिखा कर कहा कि 'निस्सन्देह इन उपहारों के लिये मेरे मित्र धम्मासोक के सिवाय अन्य कोई योग्य नहीं है।' इन अमूल्य उपहारों को लेकर 'महा अरिट्ठ' का प्रतिनिधि-मण्डल लंका से चल कर सात दिन में ताम्रलिप्ति[८] के बन्दरगाह पर पहुँचा। वहां से राजधानी पाटलिपुत्र तक पहुंचने में और सात दिन लगे। सम्राट् अशोक ने इस दूत-मण्डल का राजकीय रीति से बड़े समारोह के साथ स्वागत किया। लङ्काधिपति के अमूल्य उपहारों के बदले में अशोक ने भी समान मूल्य के अन्य उपहार 'देवानाम्प्रिय तिस्स' के पास भेजे। ५ मास तक लंका का प्रतिनिधि-मण्डल पाटलीपुत्र में रहा। इसके बाद वह जिस मार्ग से आया था, उसी मार्ग से वापिस चला गया। प्रतिनिधियों को विदा करते हुवे अशोक ने यह सन्देश तिस्स के लिये दिया— "मैं बुद्ध की शरण में चला गया हूँ। मैं धर्म की शरण में चला गया हूं। मैं संघ की शरण में चला गया हूँ। मैंने शाक्य पुत्र के धर्म का सामान्य शिष्य होने की प्रतिज्ञा कर ली है। तुम भी इसी बुद्ध, धर्म और संघ के त्रिवाद का आश्रय लेने के लिये अपने मन को तैयार करो। जिन के उच्चतम धर्म का आश्रय लो, गुरु बुद्ध की शरण में आने का निश्चय करो।"

७. अशोक के चतुर्दश शिलालेख।

८. वर्तमान 'तामलुक' नगर।

इधर तो अशोक का यह सन्देश लेकर 'महाअरिट्ठ' लङ्का वापिस जा रहा था, उधर बौद्ध धर्म की तृतीय महासभा की परिसमाप्ति पर 'मोग्गलिपुत्त तिस्स'[९] अन्य विविध देशों की तरह लङ्का में भी बौद्ध धर्म का प्रचार करने की योजना तैयार कर रहा था। लङ्का में जो मिशन भेजा गया, उसका प्रधान, सम्राट अशोक का पुत्र महेन्द्र था। उसके साथ में अन्य पांच प्रसिद्ध भिक्षु भी थे।[१०] इन भिक्षुओं में अशोक का दौहित्र व संघमित्रा का पुत्र सुमन भी एक था। महेन्द्र ने सम्राट की अनुमति से लङ्का जाने से पूर्व अपनी माता तथा अन्य सम्बन्धियों से मिलने का विचार किया। इस कार्य में उसे छः मास लगे। महेन्द्र की माता 'देवी' वेदिसगिरि में ही रहती थी। वह अपने पुत्र से मिल कर बहुत प्रसन्न हुई। यहां महेन्द्र को 'देवी' ने स्वनिर्मित एक अत्युत्तम विहार में ठहराया। श्री वी. ए. स्मिथ के अनुसार सम्भवतः यहां बेस नगर से दक्षिण पश्चिम में ५ मील के लग भग दूर स्थित सांची की भव्य इमारतों की ओर निर्देश है[११]। यहां पर भी महेन्द्र निरन्तर बौद्ध धर्म का प्रचार करता रहा और उसने अपनी माता के भतीजे के पुत्र (भन्दु) को बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। 'भन्दु' भी भिक्षु बन कर महेन्द्र के साथ हो लिया और लंका में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये साथ चल पड़ा।

अब यह प्रचारक-मण्डल सीधा लंका की ओर चल पड़ता है। दक्षिण भारत के विविध देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के लिये अन्य अनेक प्रचारक भेजे गये थे। यथा महीश-मण्डल (माइसूर) में महादेव, और महारट्ठ (महाराष्ट्र) में महाधर्मरक्खित। इस लिये महेन्द्र का प्रचारक-मण्डल सीधा लङ्का के लिये प्रस्थान करता है और लङ्का के 'मिस्स' पर्वत पर आ पहुंचता है। अशोक के संदेश के कारण "देवानांप्पिय तिस्स" पहले ही इस मिशन का स्वागत करने के लिये तैय्यार था। वह ४० हजार मनुष्यों के साथ एक हिरण का शिकार कर रहा था। कथा आती है कि हिरण का रूप धारण कर के एक देवता आया हुआ था और वह मिस्स पर्वत की ओर 'तिस्स' को लेजा रहा था[१२]। यह कथा ठीक हो या न हो, यह निश्चित है कि जब तिस्स ने इन पीतवस्त्रधारी भिक्षुओं को देखा, तो उस के हर्ष की कोई सीमा न रही। एकत्रित हुवे तिस्स के साथियों और तिस्स को महेन्द्र ने उपदेश दिया।

---

९. दिव्यादान में इस आचार्य्य का नाम 'उपगुप्त' लिखा है।

१०. लङ्कादीपवरं गन्त्वा महिन्दो अत्तपञ्चमो।
सासनं थावरं कत्वा मोचेसि बन्धना बहु॥　　　Oldenburg—दीपवंसो ८। १२

11. V.A. Smith—Asoka (2 nd edition) Page 213

12. Coplerton—Buddhism, Past and Present in India and Ceylon Page 317

पहले ही उपदेश का यह असर हुवा कि तिस्स ने बौद्धधर्म को स्वीकारकर लिया। उस के ४० हजार साथियों ने भी इसी समय में बौद्धधर्म को स्वीकृत किया। राजकुमारी अनुला ने भी अपनी पांच सौ अनुयायी स्त्रियों के साथ बौद्धधर्म में दीक्षा लेने की इच्छा प्रकट की। परन्तु उसे निराश होना पड़ा। उसे बताया गया कि पुरुष-प्रचारकों को स्त्रियों को दीक्षा देने का अधिकार नहीं है। स्त्रियों को स्त्रियां ही दीक्षा देसकती हैं। कुमारी संघमित्रा, निसन्देह, अनुला को बौद्धधर्म में दीक्षित कर सकती है। इसी के अनुसार विचार के अनन्तर, राजा तिस्स ने 'महा अरिट्ठ' के नेतृत्व में फिर एक प्रतिनिधि-मण्डल सम्राट अशोक के पास भेजा। यह मण्डल सङ्घमित्रा को भी बौद्धधर्म के प्रचार के लिये आमन्त्रित करने तथा बोधि वृक्ष की एक शाखा को लेने के लिये भेजा गया था। यद्यपि अशोक अपनी प्रिय पुत्री से विदा नहीं होना चाहता था, परन्तु बौद्धधर्म के प्रचार के लिये उस ने अपनी पुत्री को खुशी के साथ लङ्का जाने की अनुमति दे दी। इसी तरह बोधिवृक्ष की शाखा को भेजने का भी उपक्रम किया गया। बड़े समारम्भ के साथ सुवर्ण के कुठार से बोधिवृक्ष की शाखा काटी गई। उसे बड़े प्रयत्न से लङ्का तक सुरक्षित पहुंचाने का आयोजन किया गया। इस शाखा के लङ्का तक पहुंचने का वर्णन बड़ी सुन्दरता के साथ बौद्ध ग्रन्थों में किया गया है। वहां इस का स्वागत करने के लिये पहले से ही तैय्यारियां हुई थीं। बड़े सम्मान के साथ बोधिवृक्ष की शाखा का आरोपण किया गया। सङ्घमित्रा के लङ्का पहुंचने पर अनुला ने अपनी सहेलियों के साथ बौद्धधर्म की दीक्षा ली।

राजा तिस्स ने सङ्घमित्रा के निवास के लिये एक स्त्री-विहार बनवा दिया, वहां भिक्षुणी बनने के ५६ वर्ष बाद, अर्थात् ७६ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु हुई। इस समय लङ्का के राजा तिस्स की भी मृत्यु हो चुकी थी। और उस के उत्तराधिकारी राजा 'उत्तिय' को राज्य करते हुवे ६ वर्ष व्यतीत हो चुके थे। महेन्द्र की भी इस से एक वर्ष पहले मृत्यु हो गई थी। मृत्यु के समय उस की आयु ८० वर्ष की थी।

महेन्द्र के निवास के लिये भी लङ्काधिपति तिस्स ने एक विहार का निर्माण कराया था। इस का नाम 'महाविहार' रखा गया था। लङ्का में यह पहला विहार था। इस के बाद 'चैत्यगिरि' आदि बहुत से विहार बने। इस प्रकार लङ्का में निरन्तर बौद्धधर्म का विस्तार होने लगा और धीरे धीरे सम्पूर्ण लङ्का-निवासियों ने बौद्धधर्म को अपना लिया। महावंश में इस समय बुद्ध के दन्त आदि अनेक अवशेषों और बौद्ध भिक्षुओं के विविध चमत्कारों का वर्णन है, जिन्हें देख कर लोग धड़ाधड़ बौद्ध धर्म को अपनाने लगे। इन चमत्कारों की बात चाहे सत्य हो, चाहे मिथ्या, इतना निश्चित है कि महेन्द्र के 'प्रचारक मण्डल' के प्रयत्नों का यह परिमाण हुवा कि धीरे धीरे सारा लङ्का द्वीप बौद्ध धर्म की शरण में आगया।

अब तक लङ्का द्वीप में बौद्धधर्म के विस्तार का जो वर्णन किया गया है, वह महावंश और दीपवंश के आधार पर है। दिव्यावदान और ह्यूनसांग का वर्णन कुछ भिन्न है। दिव्यावदान में महेन्द्र को अशोक का भाई कहा गया है। ह्यूनसांग भी महेन्द्र को अशोक का छोटा ही भाई ही लिखता है।[13] इन ग्रन्थों का लंका के इतिवृत्त से दूसरा भेद यह है कि इस के अनुसार महेन्द्र, दक्षिण भारत में प्रचार करता हुवा लंका गया था। दिव्यवादान के अनुसार महेन्द्र कावेरी नदी के तटवर्ती प्रदेश में भी पहुँचा था, और वहां उसने एक विहार का भी निर्माण कराया था। सातवीं सदी ई. प. (ईस्वी सन् के पश्चात्) जब ह्यूनसांग ने भरत की यात्रा की थी, तब उस ने इस विहार को भग्नावस्था में देखा भी था। वह लिखता है-"इस शहर (मालकूट) के पूर्व में कुछ दूरी पर एक प्राचीन संघाराम है, इस का मुख्य भवन और आंगन जंगली घास से ढका हुवा है, केवल आधार की दीवारें ही बची हुई हैं। इस को अशोक राजा के छोटे भाई महेन्द्र ने बनवाया था।[14]

प्रो० ऑल्डनबर्ग के अनुसार भी लङ्का में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिये भिक्षुगण पाटलीपुत्र से सीधे ही नहीं गये थे। पहले बौद्ध धर्म का प्रचार दक्षिणीय भारत में किया गया और वहां से धीरे धीरे यह धर्म लङ्का में गया।[15]

इस थोड़े से भेदों के सिवाय सब प्राचीन ग्रन्थ लङ्का में बौद्ध धर्म के विस्तार के सम्बन्ध में एकमत हैं। पहले लेख में इन इतिवृत्तों की प्रामाणिकता कुछ उत्कीर्ण लेखों के आधार पर सिद्ध की जा चुकी है, अतः इस सम्बन्ध में यहां किसी विचार की आवश्यकता नहीं। (क्रमशः)

13. Beal-Buddhist Records of the Western world. II P. 249
14. Beal-Buddhist Records of the western world II. H. 231
15. Oldenburg-Preface to the Viney Texts

पुनर्जन्म के सिद्धान्त की प्राचीनता

(ले० श्री प्रो० नन्दलाल जी खन्ना एम. ए.)

पुनर्जन्म एक बहुत पुराना सिद्धान्त है। प्राचीन संसार में सर्वत्र माना जाता था। वेदों में इस की शिक्षा पायी जाती है। मनु आदि स्मृतियों में इस का वर्णन है। छहों आस्तिक दर्शन इसका समर्थन करते हैं या इसे मान कर चलते हैं। बौद्ध और जैन विचारकों के नास्तिकवाद में भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। भारत में प्रारम्भ से अब तक सब प्रकार के लोग इसे हार्दिक तौर से मानते रहे हैं। यह न केवल एक दार्शनिक विचार है परन्तु

प्रत्येक मनुष्य के जीवन का भाग है। आत्मा मरती नहीं, जिस्म को चाहे मारो—इस पर न केवल हकीकत राय को, परन्तु प्रत्येक हिन्दु को पूरा विश्वास है। दार्शनिक पैरी फ़री, जो ईसा से भी पूर्व हुआ और मिस्र विचारों से सम्बन्ध रखता था, अपने समय के भारत के ब्राह्मणों के विषय में लिखता है कि ये लोग कपड़े, दौलत और स्त्रियों के बिना रहते हैं, लोग इन का बड़ा सन्मान करते हैं, राजा भी प्रायः इन से सलाह लेते हैं। मृत्यु के विषय में ये समझते हैं कि जीवन तो प्रकृति की दासता है और आत्मा को शीघ्र ही इस से मुक्त करना चाहते हैं। स्वास्थ्य अच्छा होने पर भी अपने हाथों शरीर का अन्त कर डालते हैं और इस बात की पहले से ही घोषणा कर छोड़ते हैं। कोई इन्हें रोकता नहीं। सब इन्हें भाग्यशाली समझते हैं। आत्मा के भविष्य-जीवन में इन्हें इतना पक्का विश्वास है कि वे लोग आग में कूद पड़ते हैं ताकि आत्मा शुद्ध रूप में शरीर से पृथक् हो जाय और मन्त्र गाते हुए शान्त हो जाते हैं। जब सिकन्दर बादशाह भारत में आया तब उस ने इन लोगों को आग में कूदते देखा। सतीप्रथा चाहे कितनी ही हानिकारक हो, इस की तह में यह विश्वास काम कर रहा था कि मृत्यु जीवन का अन्त नहीं है, परन्तु एक जीवन छोड़ कर दूसरा जीवन प्राप्त किया जा सकता है। प्राचीन मिस्री लोग भी इस सिद्धान्त को मानते थे। यूनानी ऐतिहासिक हैरोडोटस लिखता है कि सब से पूर्व मिस्री लोगों ने इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि मनुष्य का आत्मा अमर है। जब किसी का शरीर मर जाता है तो आत्मा किसी दूसरे शरीर में चला जाता है जो इस के लिये तैयार हो। और जब आत्मा सब प्राणिओं की योनियों में से गुज़र चुकता है तो फिर मनुष्य के शरीर में आता है। यह चक्कर तीन हज़ार वर्ष में पूरा होता है। उन का यह भी विश्वास था कि जब तक मनुष्य-शरीर नष्ट न हो जाय, आत्मा उस से सम्बन्ध रखता है और इस लिये आत्मा को पशु-योनि में जाने से रोकने के लिये वे मृत-शरीर को मसाला लगाकर ऐसी तरह रख छोड़ते थे कि हज़ारों वर्षों में भी ख़राब न हो। हैरोडोटस का यह विचार अशुद्ध है कि पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रचार पहले पहल मिस्र लोगों ने किया। इस का आरम्भ निस्सन्देह भारत से ही हुआ। परन्तु इतनी बात अवश्य ठीक है कि मिस्र लोग इस सिद्धान्त को मानते थे। प्राचीन कैल्डियन भी इसे मानते थे। पारसी और कैल्डियन रहस्य-वेत्ता जो मैजाई के नाम से विख्यात थे मानते थे कि आत्मा के कई हिस्से होते हैं। मृत्यु के बाद कुछ हिस्से नष्ट हो जाते हैं और कुछ बच जाते हैं जो कई जीवनों में से गुज़रते हैं। अन्त में आत्मा शुद्ध और पवित्र हो जाता है। इसे कोई जीवन धारण करने की आवश्यकता नहीं रहती, सदा अवर्णनीय आनन्द की अवस्था में रहता है। इस अवस्था में जाने से पहले आत्मा अपने सारे जन्मों को देख सकता है जिस से इसे बुद्धि तथा अनुभव का भण्डार प्राप्त

होता है और आगामी वंशों को लाभ पहुंचाता है। पुराने चीन में भी पुनर्जन्म माना जाता था। यद्यपि यह रहस्य प्रत्येक को नहीं बताया जाता था किन्तु उन थोड़े लोगों के लिये था जिन्हों ने विशेष सीमा तक आध्यात्मिक उन्नति कर ली हो। लुटज़े इस की शिक्षा देता था और चुआंग्ज़े कहा करता था कि मृत्यु एक नये जीवन का आरम्भ है। टौइज़्म् के अनुयायी मानते थे कि इस जन्म के अच्छे और बुरे काम अगले जन्म में फल देते हैं। कई चीनी दार्शनिक मानते थे कि आत्मा के तीन हिस्से होते हैं। पहला, Kuei (कुई) जो पेट में रहता है और शरीर के साथ ही मर जाता है; दूसरा Ling (लिङ्ग) जिस का स्थान हृदय है जो मृत्यु के बाद कुछ काल तक रहता है; तीसरा Huen (ह्यून) जो दिमाग़ में रहता है और मृत्यु के पीछे अन्य जीवनों में से गुज़रता है। प्राचीन ब्रिटन में जिसे आज कल इंग्लैण्ड कहते हैं और प्राचीन काल में जो आज कल फ्रांस और जर्मनी का इलाका है, पुरोहितों को ड्रूइड कहते थे जो पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते थे। जूलियस सीज़र जिसे करीबन दो हज़ार साल हो गये हैं, लिखता है कि गॉल के लोगों का विश्वास है कि मृत्यु पर आत्मा नहीं मरता परन्तु किसी अन्य शरीर में चला जाता है। इसी लिये ये लोग मौत की परवाह नहीं करते और वीर हैं। डा० पास्कल अपनी पुस्तक Reincarnation में लिखता है कि कुछ साल पहले तक ब्रिटिनी के कुछ हिस्सों में जो वर्तमान सभ्यता के प्रभाव से बचे हुये थे पुनर्जन्म पर विश्वास किया जाता था और इंग्लैण्ड और फ्रांस दोनों में ड्रूइड लोग मौजूद थे, यद्यपि वे बहुत हीनावस्था में थे। आगे चल कर यही डा. पास्कल लिखता है कि प्राचीन काल में भारत के लोग धर्म प्रचार के लिये सब तरफ़ जाया करते थे। जो ब्रिटेन और गाल में बस गये उन का नाम ड्रूइड पड़ गया। ये अपने को सांप कहा करते थे और भारत में भी सांप देवता का चिन्ह माना जाता था। सीज़र कहता है कि एक ड्रूइड बनने के लिये ३० वर्ष तक पढ़ने की आवश्यकता समझी जाती थी। एट्किन्सन लिखता है कि इन में कथायें प्रचलित थीं जिन से इन का सम्बन्ध आर्य-धर्म के साथ स्पष्ट प्रतीत होता है। कहानियाँ मशहूर हैं कि पिथागुरस इन का गुरू था और उस का भारत से बहुत सा सम्बन्ध था। यह सब कुछ ठीक हो या न हो इस में सन्देह नहीं कि ये लोग पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते थे। यहां तक कि हर अपराधी को जिसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था, मारने से पहले ५ साल का अवकाश दिया जाता था ताकि वह ज्ञान, ध्यान द्वारा भविष्य जीवन की तय्यारी करले और एक दूषित आत्मा नये जन्म में न चला जाय। इंग्लैण्ड और आयर्लैण्ड में कुछ कहानियाँ प्रचलित हैं कि कुछ बच्चे ऐसे पैदा होते हैं जिन्हें पूर्व-जन्म की स्मृति होती है। ख्याल किया जाता है कि ये कहानियां प्राचीन काल से चली आती हैं। पुराने यूनान में भी यह सिद्धान्त माना जाता था। इन लोगों का एक धार्मिक मन्त्र (orphic hymn) इसप्रकार था "जब तुम

जीवन की यात्रा करो तो उस का अन्त याद रखो। आत्मा जब पृथिवी पर रह कर प्रकाश में वापिस आते हैं तो उन पर पाप के चिन्ह होते हैं जिन्हें धोने के लिये वे फिर पृथ्वी पर जाते हैं परन्तु पवित्र आत्मा सीधे सूर्य की ओर चले जाते हैं।" पाइथोगोरस एक प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिक था। वह और उस के अनुयायी पुनर्जन्म को मानते थे। कहते हैं कि पाइथोगोरस भारत में भी आया था। यह अपने अनुयायियों को कठिन तपस्या की शिक्षा देता था जो बिल्कुल भारत के तपस्वियों के ढंग की थी। इसे अपने पहले कई जन्मों की स्मृति थी। उसने बताया कि मैं पहले और गोनौस्स के समय में ऐथेलाइटिस था। उस के बाद यूफ़ोरबस था जो ट्राय के घेरे में मैनिलास के हाथ से मारा गया। फिर मैं क्रेज़ोमिनी का रहने वाला हारमोटिमस बना जिसने आरगस में जूनों के मन्दिर में उस ढाल को पहचान लिया था जो उस के हाथ में थी जब वह यूफोर्बस के रूप में मैनिलस से मारा गया और जो मैनीलस ने देवी के मन्दिर पर चढ़ा दी थी। फिर मैं डीलास में तिरहस नामी एक मछुआ बना और फिर पाइथोगोरस बना। यूनान के एक प्रसिद्ध दार्शनिक एम्पीडोक्लीज़ को अपना पहला जन्म याद था जिस में वह एक स्त्री था। प्लेटो भी पुनर्जन्म मानता था। वह लिखता है कि मुर्दों की आत्माएँ लौट कर ज़मीन पर आती हैं जहां उन्हें अपने कर्मों का फल मिलता है और इस तरह आत्मा अनुभव से उपयोग लेकर क्रमशः परमात्मा के निकट पहुंचता जाता है। बहुत सा ज्ञान वास्तव में स्मृति है जो पूर्वजन्म के अनुभव से प्राप्त हुआ है। प्रायः पहले जन्म की स्मृति नहीं होती, परन्तु कभी २ अचानक कुछ बातें याद आ भी सकती हैं। प्लेटो आत्मा के तीन भाग मानता था। एक वह जिसका स्थान जिगर है और जिस का गुण भोगों की इच्छा है। दूसरा वह जिसका स्थान हृदय है और जिसका गुण उद्वेग (passion) है। तीसरा वह जिस का स्थान दिमाग़ है और जिस का गुण बुद्धि है। तीसरा भाग वास्तव में आत्मा है और यही अमर है। प्लेटो के अनुयायी न्युओ-प्लेटोनिष्ट लोग भी पुनर्जन्म को मानते थे। यहूदी विचारक भी बहुत कुछ प्लेटो के अनुयायी थे और उनका वह सम्प्रदाय जिसे एसेनीज़ कहते थे, पुनर्जन्म को मानता था। आरम्भ में ईसाईयत पर इन लोगों का बहुत प्रभाव पड़ा। पुराने रोम में सिसरो और ओविड जैसे विद्वान् मौजूद थे जो आत्मा को अमर मानते थे परन्तु सर्वसाधारण में इस सिद्धान्त का प्रचार नहीं था। पुराने यहूदी लोगों के गुप्त सिद्धान्तों में से पुनर्जन्म का सिद्धान्त भी एक था। कैबाला के जानने वाले कहते हैं कि इस में इस का ज़िक्र है। आरम्भ में ईसायत में भी एक गुप्त शिक्षा दी जाती थी जिस में पुनर्जन्म भी शामिल था। पाल और क्रिश्चियन फ़ादर्स की पुस्तकों में इस की ओर इशारा है। ओरिजन ने स्पष्ट रूप से इस का वर्णन किया है। जॉन दी बैप्टिस्ट के विषय में आम

ख्याल था कि वह पहले जन्म में ईलियास था। नौस्टिसिस्म जो ईसायत का एक फिर्का था, खुले रूप में इस सिद्धान्त को मानता था। इस लिये अन्य ईसाई सम्प्रदाय इन्हें बुरा भला कहते थे। जस्टिनमार्टर लिखता है कि आत्मा एक दूसरे के पीछे कई शरीरों में रहता है और पहले जन्मों की स्मृति नहीं रहती। तीसरी शताब्दी के अन्त में लैक्टीनस कहा करता था कि आत्मा के अमर होने का यह परिणाम होगा कि इस जन्म से पहिले भी इस की सत्ता अवश्यमेव होगी। सन् ४१५ में सेन्ट आगस्टाइन ने लिखा कि मैं अपनी माता के गर्भ में आने से पहले एक और शरीर में रहता था। कहते हैं कि एक दिन ईसा मसीह और उस के शागिर्द जा रहे थे। इतने में उन्हें एक जन्म का अन्धा मिला। शागिर्दों ने पूछा कि, गुरो! क्या इस ने पाप किया है या इस के माँ बाप ने, जिस के कारण यह अन्धा है? अब जन्म के अन्धेपन का कारण इस जन्म के पाप नहीं हो सकते, इसलिये स्पष्ट है कि शागिर्द किसी और जन्म के पापों की ओर इशारा कर रहे थे। छटी शताब्दी में चर्च की कौंसिल में कई-एक सिद्धान्तों को मानना, जिन में पुनर्जन्म भी एक था, पाप माना गया था, और बादशाह जूलियन ने इन का मानना आज्ञा देकर बन्द कर दिया था। परन्तु विद्वानों ने पुनर्जन्म को मानना छोड़ा नहीं। वीरता इन असूलों को फैलाने का साधन बनी और उन के मानने वालों ने एक दूसरे को पहचानने के लिये सांकेतिक शब्द बनाये हुए थे। कवि लोग जिन्हें ट्राउबेडौर कहते थे, उन के संदेशहर होते थे, जो इन असूलों को कविता में छिपा कर जगह २ बताते फिरते थे। मध्य काल में जान स्काटस, अरोजिना और थोड़े से और आदमी इस असूल के समर्थक थे। इन्कीज़िशन ने ट्राउबेडर्स का भी अन्त कर दिया। कहते हैं, पहले अरबी लोग भी इस सिद्धान्त के आनुयायी थे। लेकिन पीछे हज़रत मुहम्मद साहब ने इस का मानना मना कर दिया कईयों का विचार है कि मुसल्मानों के कुछ गुप्त असूल भी है जिन में से एक यह भी है। कहा जाता है कि भारत के बौरे मुसलमान भी इस मसले को मानते हैं और मांस भी नहीं खाते। इस से पता लगता है कि प्राचीन काल में यह सिद्धान्त सर्वत्र प्रचलित था।

अवश्य पढ़ें।

अफ्रीका के निम्न ग्राहकों ने अभी तक 'अलङ्कार' का चन्दा नहीं भेजा। कृपया इसे पढ़ते ही ६ शि० शीघ्र भेज दें— २६६ माधव जा विश्राम, २६८ आर्यसमाज दरेसलाम, २६६ कृष्णदेव जी कपिल, ३०१ लाहौरीरामजी, ३०२ डी. एस. पटेल, ३१४ डाह्यापञ्जा जी, ३१६ कल्याण जी प्रभुभाई, ३३२ गुरुदासराम जी, ३७० आर्यसमाज जन्भोवार, ३७१ तिलक लायब्रेरी, ३६२ रामसुभग जी।

उस कर्ता से डरते रहियो

उस कर्ता से डरते रहियो, करता लावे घड़ी न पल
पल में सूखी नदियां दीखें, पल में करदे जल औ थल
पल में सखियां सीस गुधावें, पल में केसू पड़ गये गल
पल में पन्नी चुगदे देखे, पल में आन कटाये गल
पल में देखीं हरी२ खेतियां, पल में ऊपर चल गये हल
पल में दरिया मौजे मारें, पल में बन गये रेत के थल
थल में नगर चैन से बसते, पल में होगये जल औ थल
उस कर्ता से०

* * *

पल में देखे कूद फांदते, पल में गिर गये घुटनों बल
पल में नीले अम्बर देखे, पल में मेंह आंधी के दल
पल में धूप औ सूखी धरती, पल में कीच हुआ दल दल
पल में खेलें बाल बचों में, पल में मौत ने घूटा गल
पल में राजा राजगद्दी पर, पल में झोली पड़ गई गल
उस कर्ता से०

* * *

पल में पोधे जंग मारते, पल में गिर गये सिर के बल
पल में चेहरे भरे जवानी, पल में पड़ गये सौ २ बल
पल में देखे मुल्क के हाकिम, पल में संगल पड़ गये गल
पल में हाथी घोड़े पालकी, पल में चले हैं घुटनों बल
पल में सो रहे फूल-सेज पर, पल में सोये चिता में चल
उस कर्ता से०

* * *

पल में राज की थी तैयारी, पल में राम चले जंगल
पल में सीता थी महारानी, पल में रोई हाथ दे गल
पल में लछमन फिरे नाचते, पल में हो गया चल भाई चल
पल को गोविन्ददास न खो तू, पल में छोड़ दुनियां दे चल
उस कर्ता से०

हम क्या खायें ?

(ले० पंडित देवशर्मा जी विद्यालंकार)

यदि एक विदेशी कपड़े के व्यापारी को समझाया जाता है कि उस का यह पेशा पापमय है तो वह सच पूछता है **'फिर हम क्या खायें ?'** । विदेशी सरकार के कर्मचारियों को असहयोग का धर्म समझाया जाता है तो वे पूछते है 'हम सरकारी नौकरी छोड़दें तो **क्या खायें?'** । यहां तक कि भारत के नवयुवकों को देश के लिये जीवन बिताने को कहा जाता है तो वे भी घबरा कर पूछते हैं कि यदि हम देशसेवा में ही लग जायें तो **हम खायेंगे कहां से** । यह खाने का सवाल ही हमें खाये जारहा है ।

यह बात नहीं कि इस सवाल का कुछ हल नहीं । असल में इसका हल बड़ा ही आसान है । 'हम क्या खायें' इस प्रश्न का उत्तर है **'यज्ञशेष'** ! यज्ञ से जो कुछ बचे उसे खाओ और तृप्त होवो । लो, खाने का सवाल हल हो गया ।

पर यज्ञ का शेष क्या होता है ? । अपनी यज्ञीय (यज्ञ-प्राप्त) कमाई में से यज्ञ को उसका हिस्सा दे लेने पर जो कुछ बचे वह यज्ञशेष है । यज्ञ (जैसे राष्ट्रयज्ञ) हमारे वैयक्तिक जीवनों का भी जीवन होता है । अतः यज्ञ के लिये उस का भाग न छोड़ कर यज्ञ को भूखा मारना तो स्वयं पहिले मरना है । और इसके विपरीत यज्ञशेष खाने द्वारा यज्ञ को जीवित रखना, स्वयं सदा जीना है-अमर होना है । इसी लिये यज्ञशेष को अमृत कहा जाता है । जैसे 'यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्' यहां यज्ञशिष्ट को अमृत कहा है ।

यह यज्ञशेष खाना पुण्य है । और इस के विपरीत यज्ञ का भाग भी न देना और उसे अपने लिये जोड़ कर भोगना बड़ा पाप है । इस सत्य को सदा स्मरण रखने के लिये भगवद् गीता के निम्न दो सुवर्णीय वाक्यों का एक श्लोक तो हमें कण्ठस्थ कर लेना चाहिये ।

(१) यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो
मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः ।

अर्थात् 'यज्ञशेष' खाने वाले होते हुवे (मनुष्य) सब पापों से छूट जाते हैं' ।

(२) भुंजते ते त्वघं पापा
ये पचन्त्यात्मकारणात् ।

'वे पापी तो पाप (अघ) ही खाते हैं जो कि अपने लिये पकाते हैं (अपना ही पेट भरते हैं)' ।

जहां यज्ञ के शेष में सब पापों से मुक्त कराने की शक्ति है वहां यज्ञ का ध्यान न करके अपना ही पेट भरने वाला पाप खाने वाला ही होता है । ऋग्वेद में और भी स्पष्ट कहा है—

'केवलाघो भवति केवलादी'

अकेला खाने वाला केवल पाप खाता है । यह वाक्य ऋ० १०--११७--७ का अन्तिम पाद है । परन्तु यज्ञभाग को भी भोगने वाले सेठ साहेब या बाबू साहेब को भोजन खाते देख कर आज यह कौन मानेगा कि यह भोजन नहीं खा रहा है, पाप खा रहा है । हम लोगों को तो यही दिखलायी देता है कि वह पूरी पकवान और मेवे खा रहा है । इस बात पर हमारी श्रद्धा जमे या न जमे पर इतना तो सत्य है ही कि किसी भी चीज़ को निगल जाने का नाम 'भोजन खाना' नहीं है । यदि कोई कंकर मिट्टी और राख को भोजन की तरह निगल जाये, तो निश्चय है कि इस से उसका शरीर-पोषण नहीं होगा, और ये वस्तुयें भोजन नहीं कहलायेंगी । इसीतरह पाप की कमाई से प्राप्त भोजनाकार वस्तुयें भी भोजन नहीं है, क्योंकि उनसे भी पोषण नहीं प्राप्त होता । यह मान भी लिया जाय कि इस से शरीरवृद्धि हो जाती है, तो भी क्योंकि आत्मा कमज़ोर और निस्तेज होती जाती है, अतः यह शरीर (स्थूलभाग) बढ़ने की बीमारी है, पुष्टि नहीं है । जैसे शरीर में केवल पेट बढ़ जाना बीमारी है, उसी तरह

मनुष्य में केवल स्थूल शरीर का अन्दर के शरीरों की अपेक्षा से बड़ा हुआ होना बीमारी है। अतः ऐसा भोजन यद्यपि खाया जाता है तो भी यह भोजन नहीं है, यह पाप है। और इस से बना शरीर भी 'पाप का ढेर' है। क्योंकि इसका असर शरीर पर हुवे बिना नहीं रह सकता।

हमारे देश में एक राष्ट्रयज्ञ चल रहा है (इसे स्वराज्य आन्दोलन रूप में देखें या राष्ट्र-निर्माण कहें या कुछ और) जो कि हमारे ज़िन्दा रहने के लिये आवश्यक है। इस कार्य में सहायक जो जो संगठन हैं वे भी यज्ञ हैं। सच्चे धर्म को जीवनों में लाने वाली और प्रचार करने वाली सब संस्थाएं यज्ञ हैं। इन यज्ञों को खिला कर खाना—इनके लिये सब कुछ देकर फिर जो अपने हिस्से में बचे उसे खाना, यज्ञशेष खाने का धर्म है जो कि प्रत्येक भारतवासी को पालना चाहिये। हमें पाप खाने वाले 'चोर' नहीं बनना चाहिये। जो लोग यज्ञ को भुलाकर, अन्य लोगों का विचार छोड़ कर अपने को ही देखते हैं और इस लिये अन्यों का हिस्सा भी खाजाते हैं, उन्हें गीता में 'चोर' भी कहा है।

तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो
यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।

अर्थात् उन (यज्ञदेवों) से दिये हुवे (पदार्थों को) उन्हें बिना दिये जो भोगता है वह चोर ही है। चोर ही नहीं, किन्तु यदि और गहराई में जाकर देखें तो भगवान् हमें ऋग्वेद द्वारा कहते हैं।

'सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य'
(ऋ० १०. ११७.६)

'सत्य कहता हूं कि वह (धन) उस (त्याग न करने वाले) का मृत्यु है'। परन्तु सब बात तो यही है कि हम लोग यज्ञभाग के न त्यागने को अपनी मृत्यु कहां समझते हैं, हम तो इसे चोरी भी कहां समझते हैं। मनुष्य को ऊपर से देखने पर यह बात सच नहीं प्रतीत होती है कि मेरा पाप-धन मेरा वध (मृत्यु) है, इसी लिये तो वेद को भी कहना पड़ा है 'सत्यं ब्रवीमि'। मैं सच कहता हूं, इसे सच मान। यद्यपि यह तुम्हारी भोग-सामग्री ही दिखायी देती है, पर सच यह है कि यह तुम्हारी मौत है।

तो क्या अब समझ में आया कि हम भारतवासियों को क्या खाना चाहिये? यज्ञ की चोरी करके खाना चाहिए? क्या हमें पाप खाना चाहिये? क्या हमें मृत्यु बुलानी चाहिये अथवा 'अमृत' खाना चाहिये? पर वे कहते हैं **'इस से खाने का सवाल तो हल नहीं हुवा। इन Idealistic बालों से तो पेट नहीं भरेगा। पेट भरने के लिये तो कहीं से खाना होगा। भूख की चिन्ता जब लगी होती है तब पाप और पुण्य की सुध कुछ नहीं रह सकती।** यों कहना चाहिये कि खाने का सवाल तो हल हुवा हुआ ही है, परन्तु आवश्यकता से अधिक खाने का सवाल बेशक हल नहीं हुआ है, और न हो सकता है और न होना चाहिये। हमारी बहुत सी अस्वाभाविक भूखें बढ़ी हुई हैं। हमें भूख प्रतीत होने का रोग होगया है। यज्ञशेष के थोड़े से भोजन से हमारी ये अस्वाभाविक भूखें पूरी नहीं होंगी। यही असल में डर है जो कि हमें सता रहा है, सच्ची भूख हमें ऐसी नहीं सता रही है। और ये आदर्शवाद की (Idealistic) बातें हमारे हृदय तक नहीं पहुंची है इसी लिये हमें ये वास्तविक (Realistic) नहीं जंचती हैं। परन्तु जब ये बातें हमें समझ में आवेंगी, हमारे हृदय में अनुभूत होगीं, तब हमारे मन इतने स्वस्थ होजायंगे कि हम से ये हमारी झूठी भूखें स्वयमेव हट जायंगी और असली स्वाभाविक भूख चमकेगी। हम अपने को भारतवासी समझ कर **स्वेच्छा से गरीबी का जीवन व्यतीत करते हुवे** बादशाह की तरह रहने को उद्यत होंगे। यही स्वाभाविक भूख का लक्षण है।

परन्तु सब बात तो यहां खटकती है कि ये Idealistic बातें समझ में कैसे आवें! इन्हें मैं और किस तरह समझाऊं? वेद और गीता के क्रान्तदर्शी वचनों को सुनाने से बढ़ कर मुझ पामर के पास और क्या शक्ति है जिस से कि इसे समझा सकूं? मैं तो बोल सकता हूं, चिल्लाता हूं, और चिल्ला २ कर कहता हूं कि यज्ञशेष से अतिरिक्त खाना पाप है, चोरी है, अपना नाश है।

कहते हैं कि गुरु नानकदेव के पास एक बार दो मनुष्य भोजन लेकर आये। उन में से एक बड़ा साहूकार धनाढ्य था जो कि बड़ा बढ़िया हलवा पूरी का भोजन लाया था, और दूसरा एक ग़रीब था जो कि अपनी रूखी सूखी मोटी रोटियां लाया था। परन्तु नानकदेव ने इस ग़रीब का भोजन ही स्वीकार किया। विनती करने पर उस अमीर को उत्तर दिया कि तेरा भोजन खून से भरा हुआ है। आगे कहानी है कि अन्त में गुरु साहिब ने दोनों का भोजन मुट्ठी में ले कर निचोड़ा तो उस अमीर के भोजन में से खून चुआ और उस ग़रीब के भोजन में से दूध निकला।

हे भारतवासियो! क्या वर्त्तमान काल के सन्तों ने तुम्हें निचोड़ कर नहीं दिखला दिया है कि खूनभरी कमाई कौनसी है और अमृतभरी कमाई कौन सी है और कितनी है? अब क्या प्रतीक्षा है?। यदि मैं अशक्त निचोड़ कर नहीं दिखला सकता हूं तो क्या यह समझ लोगे कि हमारी पापकमाइयां 'खूनसनी' नहीं हैं। ज़रा देखो सन्तों ने एक वार नहीं कई वार निचोड़ निचोड़ कर साक्षात् करा दिया है कि विदेशी वस्त्र बेच कर कीगई कमाई, शराब बेच कर की गई कमाई, गरीबों से धन चूस कर की गई कमाई, अर्थात् राष्ट्रयज्ञ का घात कर के की गई प्रत्येक कमाई लहुसनी है, पाप है, मृत्यु का द्वार है?।

क्या ये बातें अब भी वास्तविक (Realistic) नहीं हुई हैं? क्या दादाभाई, दत्त, गोखले, तिलक और महात्मा गांधी आदि सन्तों ने तरह २ से यह स्पष्ट नहीं दिखा दिया है कि भारतवर्ष का देह बहुत से वर्षों से एक यन्त्रकला (Machinery) द्वारा चूसा जा रहा है। यह तो इतना स्पष्ट दिखलाया गया है कि बहुत से निष्पक्ष विदेशी भी (अंग्रेज़ भी) खून निचुड़ता हुआ देख रहे हैं। तो क्या उस यन्त्रकला के कारण होने वाली कमाई 'खूनसनी' कमाई नहीं है। एक देश के खून को इस से अधिक प्रत्यक्ष रूप में और क्या दिखलाया जासकता है।

यदि यज्ञभाग चुराने की दृष्टि से देखें तो हर कोई जानता है कि हमारे देश में अपने धन को यज्ञ से बचाने वाले 'स्तेन' कितने अधिक हैं और यज्ञशिष्टामृतभोगी कितने विरले हैं। इस प्रकार जो हम (यज्ञ के) सब की सामुदायिक संपत्ति को न बढ़ाकर एक दूसरे की संपत्ति चुराने में लगे हुवे हैं क्या यही कारण नहीं है कि हमारे देश का सब जीवनरस चुपके २ चुराये जाने का बड़ा पाप बड़ी आसानी से हो रहा है। पाप को इस से अधिक आंखों के सामने प्रत्यक्ष क्या दिखलाया जासकता है।

और हम मरते जाते हुवे (यहां के लोगों के शरीर नष्ट हो रहे हैं, मन की शक्तियां बिगड़ गयी हैं और आत्मिक शक्ति का भी दिनों दिन ह्रास होता गया है) देश को देख कर क्या यह समझने के लिये कि यह यज्ञभाग को भी खा खा कर बुलायी गयी मृत्यु का लक्षण है, किसी ऋषि के उतरने की ज़रूरत है? और क्या अब भी अपने देश की निस्तेज निश्चेष्ट और मुर्दों की सी अवस्था देखकर स्वयमेव ही कानों में गूंजने लग पड़ने वाला यह वेदवचन 'सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य' अपने अर्थ को वास्तव में वास्तविक (Realistict) करने में असमर्थ रहता है?।

इस लिये इन बातों को तो आदर्शवाद (Idealism) कह कर टालना उचित नहीं है, अपनी अस्वाभाविक झूठी भूखों को हटा देना ही उचित है।

यह भी समझ लेना चाहिये कि इन झूठी भूखों की पूर्त्ति हम इस समय यदि करना चाहें तो भी नहीं कर सकते हैं। क्या तुम्हें मालूम है कि हमारे देश की औसत आमदनी क्या है। उदारता से हिसाब करें तो भी ४) माहवार पड़ती है। यह भारतवासियों की आमदनी की औसत है। ४) से कम कमाने वाले भी करोड़ों आदमी है। तो जब तक यह औसत आमदनी नहीं बढ़ती तब तक (सिवाय इसके कि हम आपस में ही एक दूसरे की चोरी करें ४) से अधिक कहां से खा सकते हैं। ४) में हम क्या क्या करेंगे। तो भूख बढ़ाने से क्या लाभ। सच पूछो तो इस दृष्टि से प्रत्येक भारतवासी का यज्ञशेष ४) से अधिक नहीं है। एक अस्तेयव्रत का पालने वाला यदि आज ईमानदारी से कमाकर ४) माहवार से अधिक प्राप्त करता है तो वह सब अधिक धन उसे देश के कार्य में ही लगा देना चाहिए और ४) में अपना गुज़ारा करना चाहिये। फिर जो बेईमानी से खूनसनी कमाई करते हैं उन का क्या कहना है। अपनी दशा जानने वाला कितना दुःखी होता है जब कि भारत के नवयुवक (कुछ लोगों को ज्यादा भोगते देख कर) स्वयं अपने लिये २०) २५) ४०) तक व्यय करते हुवे भी अपने को ग़रीब समझते हैं। भाई! इस हतभाग्य देश में तो ग़रीब वह है जो कि ४) माहवार से भी कम आमदनी कर पाता है। इसलिये भारतपुत्रों को चाहिये कि वे अधिक भोगने वालों का विचार न करें, उन की रक्तरंजित पापकमाई पर दृष्टिपात न करें, किन्तु अपने सीधे सादे आवश्यकीय भोजन को अमृत समझ कर खायें, तभी यह देश बच से बच सकता है। इसी लिये देशभक्त तो अपने आप (अपने तन मन धन से) देश के लिये ही बिक जाते हैं और फिर जो कुछ शरीरधारण के लियें माता से मिलता है उसे खाकर काम करने के लिये जीते हैं। इसके सिवाय इस समय इस देश में धर्मपूर्वक जीने का और कुछ उपाय नहीं है, और कुछ उपाय नहीं हैं।

भारतदेश के जीवनरस को चूसने वाली 'विदेशी राज्य' के रूप में जो एक बड़ी मैशीनरी चल रही है, उस में साधारणतया थोड़े बहुत सहायक तो शायद सभी भारतवासी कहे जासकते हैं, परन्तु विशेषतया विदेशी कपड़ों के व्यापारी और पहिनने वाले, मुकद्दमेबाज़ और वकील, सरकारी नौकर और वकील, सरकारी नौकर और बड़े २ तालुकेदार आदि जाने अनजाने इस रक्तशोषक यन्त्र के अङ्ग बने हुवे हैं। यन्त्र के अङ्गभूत ये हमारे भाई अपने खाने का सवाल हल करने के लिये ही नीचे के लोगों का खून चूसते हैं, और उस में से कुछ अपना भाग पाकर इस चूस को ऊपर पहुंचा देते हैं। इस प्रकार दिनरात यह यन्त्र चल रहा है और इस देश-देह के कोने कोने से रुधिर खिच २ कर बहिर्गत हो रहा है। इस शोषण से यहां के लोगों का केवल धन नहीं छिन रहा है किन्तु इस के साथ २ भारतपुत्रों के वैयक्तिक शरीर दुबले होरहे हैं, मन निर्वीय और दास होते जा रहे हैं तथा आत्मिक धन भी दिनों दिन लुप्त होता गया है। इस शोषणप्रक्रिया को देख कर हृदय स्तब्ध हो जाता है और जी चाहता है कि इससे तो इस देश का एकदम मर जाना अच्छा है। पर न तो यह शोषणचक्र बन्द होता है और न इस शरीर की समाप्ति होती है। इस चक्र को चलता देख कर भी क्या कोई इस वास्तविकता से इनकार कर सकता है कि इस देश के हज़ारों लाखों आदमी पाप ही खा रहे हैं भोजन नहीं खा रहे हैं। यह पापभोजन ही तो कारण है कि जिससे यह पापचक्र अभी तक शान के साथ सिर ऊंचा किये चलता जा रहा है।

परन्तु आखिर संसार पर 'दीनों की आहें सुनने वाले' का राज्य है। इस लिये इस देश में कुछ ऐसे धीर पुरुष भी हैं जो कि इस जटिल और अदम्य प्रतीत होने वाले पापचक्र के मुकाबिले में अपना यज्ञ संगठित कर रहे हैं, और इसे अपना सर्वस्व अर्पण कर

चला रहे हैं। यह दृश्य एक बार प्रत्येक भारतवासी को दीख जाना चाहिये कि किस तरह एक तरफ़ अमृत-भोगी थोड़े से लोग अपने जीवनप्रद यज्ञ से भारत को जीवित करने पर तुले हुवे हैं, जब कि शेष सब लोग यज्ञ को छोड़ उस पापचक्र के आधीन 'अघायु' और 'इन्द्रियाराम' जीवन वाले इस देश-शरीर का मृतभाग बन कर पड़े हुवे हैं और आकाश में कोई गीता की वाणी में बोल रहा है—

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति॥ गी. ३—१६

इस प्रकार चलाये हुवे इस यज्ञ-चक्र को जो (यज्ञभाग देने द्वारा) नहीं चलाता रखता है, वह अघायु अर्थात् जिसका कि जीना ही पाप है और इन्द्रियों में रमने वाला मनुष्य, हे अर्जुन! व्यर्थ ही जीता है"।

जिनका कि जीना व्यर्थ है ऐसे हम अर्धमृत लोगों की प्रकृति अधिक देर तक भूमि का भार नहीं रहने देगी। इसलिये इस श्लोक का मतलब वही है जो कि 'वध इत् स तस्य' यह वेदवचन बतलाता है। हम मृत्यु की तरफ़ क्यों न जायें जब कि हमारा जीना ही पाप हो गया हो, हम अघायु हो गये हों। निश्चय से हम गुलामों का जीना ही पाप है। जितनी देर जी रहे हैं संसार में पाप बढ़ा रहे हैं। हम गुलाम हैं और जी रहे हैं, इसीलिये हिन्दुस्तानी सिपाहियों ने चीन के विद्यार्थियों पर गोली चलायी है या चलानी पड़ी है। अन्य कई देशों को पराधीन रखने या हक छिनाने में हमारी गुलामी साधन होती रही है। हमारा इस गुलामी में जिन्दा रहना संसार में इतना पाप का कारण हो रहा है कि बहुत से पीड़ित लोग कह उठते होंगे 'यह व्यर्थ ही जी रहा है' और हमारी मृत्यु मनाते होंगे।

परन्तु हम अघायु इस लिये हो गये हैं क्योंकि हम 'इन्द्रियाराम' हैं। इन्द्रियों की भूखें हमें सता रही हैं अतः यज्ञशेष के शुद्ध सात्त्विक भोजन पर हमारा गुज़ारा नहीं होता और हम यज्ञभाग खाने के पाप में प्रवृत्त हो जाते हैं। इस लिये खाने के सवाल का हल यह है कि इन्द्रियों में रमना छोड़दो, अस्वाभाविक भूखों को मिटादो। फिर शेष स्वाभाविक भूख की निवृत्ति तो बड़ी आसान है। यह सर्वथा सत्य है कि जो पशु पक्षियों को रोज खाने को देता है (जो भारत के ही लाखों नरकङ्कालों को जीवित रखता है) वह तुम्हारा पेट भी भरेगा। इसी लिये मैं कहता हूं कि खाने के सवाल का हल बड़ा आसान है। केवल पेचीदगी यह है कि हमें इन्द्रियों की भूखें लगी होती हैं। ये ही भूखें हैं, जो कि इस इतने आसान सवाल को कठिन बना देती हैं।

और इन अस्वाभाविक भूखों को तो एक संकल्प से, एक हार्दिक अनुभव से हटाया जा सकता है। यही समझ में आना कठिन है कि हम भारतवासियों को इस समय अस्वाभाविक भूखें लग कहां से सकती हैं। जिस देश में कि अपने लाखों भाइयों को एक वक्त ही खाना नसीब होता हो, जहां कि लाखों भाई चार पैसे रोज़ पर गुज़र करते हों और एक दुष्काल आने पर मृत्यु के ग्रास हो जाते हों, उस देश के लोगों को क्या अतिरिक्त भोजन की सूझेगी? तुम कहते हो कि इन Idealistic बातों से पेट नहीं भर सकता, पर मैं पूछता हूं कि दौर्भाग्य से तुम्हारे किसी प्रिय का कभी अचानक देहान्त हो जाता है, तब तुम्हारी भूख कहां चली जाती है? तब तुम्हारा पेट किस तरह से भर जाता है। रिवाज तो यह है कि जब तक मोहल्ले में लाश पड़ी रहती है तब तक किसी के घर चूल्हा नहीं चढ़ता। तो आज इस श्मशान बने हुवे अपने भारत देश में हमारे लिये भूख लगाने वाली चीज़ कौनसी है? क्या अपनी वर्तमान दशा का स्मरण हमारी भूख रोकने को पर्याप्त नहीं है? ज़रा अपनी स्वदेशमाता का सच्चा स्वरूप देखो। गुलामी की हालत, सदा पैरों तले रौंदे जाने की हालत, इस समय क्या भोगों की इच्छा पैदा होगी? क्या इस समय तुम इन्द्रियाराम बन सकोगे?

यह भी एक बड़ा भ्रम है कि जीने के लिये खाना सदा आवश्यक है। कई बार तो भोजन विष होता है। महात्मा गांधी ने २१ दिन वाला उपवास करके बतला दिया कि ज़िन्दा रहने के लिये भी खाना छोड़ा जाता है। उन्होंने उपवास के बाद कहा 'यदि मैं यह उपवास न कर लेता तो मैं ज़िन्दा न रह सकता'। यह कुछ विचित्र बात नहीं है। ऐसे बहुत लोग मिल जायेंगे जिन्हें कि उपवास ने मरने से बचाया है। इस लिये इस समय भारत का जीवन भी भोग-त्याग में ही है, यह जान कर एक झटके में ही सब झूठी भूखों का बहिष्कार कर दो।

हे भारत के नवयुवको! (विशेषतया राष्ट्रीय विद्यालयों के स्नातक भारतपुत्रो!) अब देर लगाने का समय नहीं है। अपनी आवश्यकतायें कम करके यज्ञ में लग जाओ। इस प्रवर्त्तित यज्ञचक्र को चलाते चलोगे तभी यह भारी पापचक्र बन्द हो सकेगा। यह तुह्मारा काम है। इस लिये लहुसने देश को मृत्यु की तरफ़ ले जाने वाले पापभोगों की तरफ़ कभी दृष्टि न उठाओ। यदि कभी उधर दृष्टि चली जाय तो देश की दशा का चिन्तन करलो। अपनी दुखिया माता के रक्तशोषण का ध्यान आते ही सब झूठी भूखें मिट जाया करेंगी। यह याद रक्खो कि विदेशी शासन के इस पापचक्र का उद्घोषित उद्देश्य है कि एक एक भारतवासी को ग़रीब बनाते बनाते हमें 'लकड़हारे और पानी भरने वालों की क़ौम' बना कर नाश कर दिया जाय। इसका स्पष्ट एक ही इलाज है कि हम स्वेच्छा से बने हुवे ग़रीब बन कर इस देश को ज़िन्दा कर दें। स्वेच्छा से करने में ही सब भेद है। संसार से ज़बरदस्ती छुड़ाया जाना मृत्यु है, किन्तु संसार को स्वेच्छा से छोड़ना 'सन्यासी' पद प्राप्त करना है। जब ज़बरदस्ती ग़रीब बनाये जाकर मरना है तो स्वेच्छा से ग़रीब बन कर जिन्दा क्यों नहीं बन जाते। पापचक्र द्वारा ग़रीब तो सब बनाये ही जारहे हैं (जो आज नहीं है कल हो जायेंगे) तो पापविरोधी पुण्य यज्ञचक्र को चलाने के लिये अवश्य ग़रीबी को ही क्यों न स्वेच्छा से स्वीकार कर लिया जाय।

इस लिये अब यह मत पूछो कि हम क्या खायेंगे। इस से निश्चिन्त होकर पापनाशक यज्ञ में लग जाओ। शेष के रूप में जो कुछ रूखा सूखा मिले, चनाचबेना मिले उसे अमृत समझ कर खाओ। यह पवित्र भोजन तुम में बल वीर्य और ओज पैदा करेगा। और यदि कभी यज्ञशेष कुछ भी न मिल सके ऐसा हो, तो भी कुछ परवाह नहीं है। उस अवस्था में बेशक भूखे मर जाना, पर इस पवित्र यज्ञ को न मरने देना और लहुसनी कमाई का ख्याल तक न करना। परन्तु अब तो तुम्हें भूखे मरने का सौभाग्य कहां मिल सकेगा। अब वह अशुभ ज़माना तो बीत चुका। नींव की खाई में अपने आप को भरने वाले भर कर माता की गोद प्राप्त कर चुके। वह प्रारम्भ करने का ज़माना था, वीरों का ज़माना था, बिना जाने हुवे चुपचाप बलिदान होने का ज़माना था। वह प्रायः बीत चुका। अब तो यज्ञ इतना बढ़ चुका है—इतना वितत हो चुका है कि लोग तुम्हें ज़रा भी देश का सेवक देखेंगे तो तुह्मारी प्रतिष्ठा करेंगे, तुम अपनी आवश्यकतायें नहीं बतलाओगे तो वे उन्हें जानकर पूरा करेंगे। तो भी ऐसे क्षेत्र अब भी हैं जहां कि नींवें भरने की आवश्यकता है। यदि बहादुर हो तो उन क्षेत्रों में जाकर अपने 'अमृतभोजन' का बल दिखलाओ और अपना भारतजन्म सफल करो। इस देश के उद्धार के सभी कार्यों के चलाने के लिये आवश्यक है कि यहां के नवयुवकों की एक भारी फौज इतनी कम आवश्यकताओं वाली बन सके कि उसके सामने खाने का सवाल कभी न ठहर सके। यह देश की एक भारी आवश्ययकता है जिसको कि बिना पूरा किये आगे बढ़ना असंभव है और यह एक सत्य है जिसके कि सामने तुम्हें अवश्य अवश्य झुकना पड़ेगा।

महाकवि कालिदास

(ले०—प्रो० वागीश्वर जी विद्यालंकार)

पुराकवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकाऽधिष्ठितकालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका साऽर्थवती बभूव ॥

यह सूक्ति-मुक्ता न मालूम कितने वर्ष पूर्व किसी सहृदय की हृदय-शुक्ति से प्रकट हुई थी, परन्तु इस की नवीनता तथा सत्यता आज भी वैसी ही बनी हुई है । अनामिका अभी तक अनामिका ही है । 'न जाने भोक्तारं कमिह समुपस्थास्यति विधिः' के अनुसार कालिदास के समकक्ष कवि होने की ख्याति का भोक्ता बना कर विधाता कब किस महानुभाव को उपस्थित करेगा, यह कौन कहासकता है ? अस्तु, इस में सन्देह नहीं कि जो स्थान पर्वतों में हिमाचल को, ज्योतियों में सूर्य को, वृक्षों में कल्पवृक्ष को, तथा कुसुमों में कमल को प्राप्त है, वही संसार के कवियों में कालिदास को उपलब्ध है । प्रसन्नराघव के प्रणेता जयदेव कवि के लिखे 'भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः' को देखकर उनकी कलम चूम लेने को जी चाहता है । कालिदास की कीर्त्ति-रूपी अँगूठी में 'कविकुलगुरु' रूपी नग जड़ कर जयदेव कवि सचमुच जौहरी कहलाने योग्य हैं । धन्य हो कालिदास ! तुम्हारे गुण गाकर भी लोग गुणी कहलाने के अधिकारी बनते हैं । दिल्ली के पुराने खण्डरों में कुतुब मीनार की तरह भारत के पुराने साहित्य में तुम्हारी ख्याति आज भी अटल खड़ी है ।

किन्तु काल के कौतुक भी निराले हैं । महाराज पृथिवीराज ने जिस यमुनास्तम्भ को अपनी किसी विशेष विजय की स्मृति के लिये निर्माण किया था, आज वह स्मृति उस से पृथक् होगई है । अब वह चौहान वीर की पराजय तथा कुतुबुद्दीन की विजय का चिन्ह माना जा रहा है । ऐतिहासिकों में मतभेद उपस्थित है । कुछ निर्णय नहीं होता । स्मृति-चिन्ह उपस्थित है, परन्तु किसका स्मृतिचिन्ह, यह नहीं कहा जा सकता । यह भी आश्चर्य है ।

ठीक यही घटना आज हमारे कविकुलगुरु के साथ भी घटित होरही है । प्रतिदिन खोज पर खोज होती है, परन्तु यही फैसला नहीं होने पाता कि कालिदास कितने हुवे, कब २ हुवे, और कहां २ हुवे । उनके माता पिता कौन थे, तथा उन्हों ने कौन २ से ग्रन्थ निर्माण किये । 'ज्यों ज्यों ही सुरझन चहत त्यों त्यों उरझो जात' के अनुसार मामला उलझता ही जाता है । कोई उन्हें प्रसिद्ध संवत्-प्रवर्त्तक उज्जयिनीश्वर विक्रमादित्य के समसामयिक स्वीकार करता है, तो दूसरा उन्हें ईसा की छठी शताब्दी में वर्तमान मानता है । मतलब यह कि 'जितने मुंह उतनी बात' वाली कहावत चरितार्थ हो रही है ।

हमने कितनी ही बार यह संकल्प किया कि इस विषय पर हम भी अपने विचार प्रकट करें। परन्तु अभी तक ऐसा सुयोग प्राप्त न हो सका। यह भी अच्छा ही हुवा 'धीमे पके सो मीठा होय' के अनुसार विचार के लिये अधिकाधिक समय मिलता रहा। कितनी ही नई कल्पनायें देखने में आई, तथा कितनी ही पुरानी शंकाओं का समाधान होगया। हम नहीं कह सकते कि हमारे विचार कहां तक यथार्थ हैं, इसका निर्णय बुद्धिमान पाठक स्वयं करेंगे। प्रारम्भ में हम श्री पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी, मिश्रबन्धु तथा श्री सेठ कन्हैय्यालाल पोद्दार के प्रति कृतज्ञता प्रकाश किये बिना नहीं रह सकते। कालनिर्णय के विषय में हम उक्त महानुभावों के अत्यन्त ऋणी हैं। कालिदास के जन्मस्थान के विषय में हमारी कल्पना स्वतन्त्र है। यह लेख चार भागों में विभक्त होगा, जिन में हम क्रमशः निम्ननिर्दिष्ट विषयों पर विचार करेंगेः—

(१) कालिदास कब हुवे?
(२) कालिदास कहां हुवे?
(३) कालिदास का वैयक्तिक जीवन।
(४) कालिदास की कविता।

कालिदास कब हुवे?

भारतवर्ष में यह किंवदन्ती अत्यन्त प्रसिद्ध है कि आज से १९८२ वर्ष पूर्व परमप्रतापी सम्राट् विक्रमादित्य उज्जयिनी में राज्य करते थे। उन्होंने शक नामक विदेशी आक्रमणकारियों को परास्त कर यहां से निकाल दिया था। उनकी सभा के नवरत्नों में अन्यतम कालिदास भी थे जिन्होंने अभिज्ञानशाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय तथा मालविकाग्निमित्र, ये तीन नाटक, रघुवंश, कुमारसंभव तथा मेघदूत, ये तीन काव्य, और संभवतः ऋतुसंहार तथा श्रुतबोध नामक पुस्तक भी बनाये हैं। परन्तु ऐतिहासिक खोज करने वाले कतिपय पाश्चात्य तथा भारतीय विद्वानों ने इन दोनों ही बातों को झमेले में डाल दिया है। उनका कहना है कि आज से १९८२ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य नाम का कोई राजा हुआ ही नहीं और इसी लिये उसके आश्रित कालिदास भी उस समय नहीं हो सकते। उनकी यह धारणा कहां तक साधार है यह विचार कर हम अपना विचार पश्चात् स्थिर करेंगे।

कुछ एक मत।

कितने ही विचारशील सज्जनों का कथन है कि कालिदास गुप्तवंशीय राजा (विक्रमादित्य) द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय अर्थात् ३०२–४१३ ई० में वर्त्तमान थे, क्योंकि उन्होंने अपने काव्य रघुवंश में स्थान स्थान पर गुप्तवंशीय राजाओं का गुप्त रूप से नामोल्लेख किया है। उदाहरणार्थ देखिये–'आसमुद्रक्षितीशानाम्' 'इन्दुं क्षीरनिधाविव' 'हरेः कुमारोऽपि कुमारविक्रमः' 'स्कन्देन साक्षादिव देवसेनाम्' इत्यादि। इसके अतिरिक्त रघुवंश के चतुर्थसर्ग में रघु की दिग्विजय-यात्रा का जो वर्णन किया गया है, वह उनकी सम्मति में समुद्रगुप्त की दिग्विजय-यात्रा का पूर्ण प्रतिबिम्ब है। संभवतः कवि ने अपने आश्रयदाता द्वितीय चन्द्रगुप्त के पिता समुद्रगुप्त की विजय को दृष्टि

में रखकर ही वह लिखा है । इसलिये कालिदास का समय पाँचवी शताब्दी होना चाहिये ।

(ख) कालिदास के काव्यों में यत्र तत्र राशिचक्र आदि का उल्लेख है । कहते हैं कि ज्योतिषशास्त्र में 'जामित्र' गुण तथा राशि (मीन, मेष आदि) का सिद्धान्त आर्यों ने ग्रीक लोगों से ग्रहण किया था । ज्योतिष ग्रन्थ सूर्यसिद्धान्त ३०० ईस्वी के लगभग का है । उस में राशिचक्र का वर्णन उपलब्ध नहीं होता । किन्तु ४७८ ईस्वी में वर्त्तमान आर्यभट्ट ने अपने ग्रन्थ में राशिचक्र का वर्णन किया है । अतः कालिदास ३०० ईस्वी के पश्चात् ही उत्पन्न हुवे माने जाने चाहियें ।

(ग) इसी से मिलता जुलता मत संस्कृतसाहित्य के सुप्रसिद्ध पण्डित मैकडानल महोदय का है । वे कहते हैं कि 'वत्सभट्टि' की बनाई हुई एक कविता एक शिलालेख पर खुदी हुई है । उस पर मालव संवत् ५२६ अर्थात् ४७३ ईस्वी खुदा हुवा है । इस कविता की शैली कालिदास की कविता-शैली से बहुत मेल खाती है । इस लिये कालिदास का उपस्थितिकाल ४७३ ईस्वी के लगभग अर्थात् आर्यभट्ट के आस पास ही होना चाहिये ।

(घ) चौथा मत यह है कि उक्त प्रसिद्ध किंवदन्ती के अनुसार विक्रमीय सम्वत् आज से १९८२ वर्ष पूर्व प्रचलित नहीं हुवा । प्रत्युत ५४४ ईस्वी के लगभग सम्राट हर्षवर्धन ने हूण नरेश मिहिरकुल को युद्ध में परास्त कर अपना नाम 'शकारि विक्रमादित्य' रक्खा तथा पुराने 'मालवगण स्थित्यब्द' या मालव संवत् को बदल कर विक्रमीय संवत् बना दिया । डा० कीलहार्न पुराने शिलालेखों के आधार पर यह सिद्ध करते हैं कि सातवें शतक से पूर्व यही विक्रमीय संवत् 'मालवगण स्थित्यब्द' या मालव संवत् के नाम से प्रयुक्त होता था । हर्षवर्धन ने अपने संवत् का गौरव बढ़ाने के लिये उसे पुराना बनाना चाहा, अतः अपनी विजय से ६०० वर्ष पूर्व का बना कर विक्रम संवत् के नाम से प्रसिद्ध कर दिया । डाक्टर भाऊदाजी कहते हैं कि इसी सम्राट हर्ष विक्रमादित्य ने काश्मीर का शासक बनाकर जिस ब्राह्मण मातृगुप्त को भेजा था, वही संभवतः कालिदास है ।

(ङ) एक और भी पक्ष है । वह यह है कि लगभग २२०० वर्ष पूर्व शंकराचार्य का जन्म हुवा था । शंकराचार्य जब काशी आये, तब उनकी भेंट कुमारिल भट्ट से हुई थी । उस समय कुमारिल भट्ट तुषानल में बैठ कर अपने गुरुद्रोह रूप पाप का कठिन प्रायश्चित कर रहे थे । कुमारिल ने अपने बनाये श्लोकवार्त्तिक में 'कवीन्द्र' कहकर कालिदास को स्मरण करते हुवे उनके नाटक शाकुन्तल के 'सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणस्य वृत्तयः' इस पद्यार्थ को उद्धृत किया है । इस लिये कालिदास का समय कुमारिल भट्ट से पूर्व अर्थात् २२०० वर्ष से भी पूर्व होना चाहिये । किन्तु साथ ही रघुवंश में गुप्तवंशीय रा-

जाओं का संकेत मिलता है। अतः रघुवंश का निर्माणकाल पांचवी शताब्दी से पहिले नहीं जा सकता। ऐसी अवस्था में यह आवश्यक प्रतीत होता है कि नाटकों के बनाने वाले कालिदास तथा काव्यों के बनाने वाले कालिदास जुदा २ माने जावें। यह कल्पना इस बात से भी पुष्ट होती है कि राशिचक्र तथा जामित्र गुण का वर्णन केवल काव्यों में ही पाया जाता है तथा (ख) मत के अनुसार राशिचक्र का वर्णन ३०० ईस्वी के पश्चात् का ही होना चाहिये। इसलिये रघुवंश, कुमारसम्भव आदि काव्यों के प्रणेता पांचवी सदी में ही ठहरे। कालिदास अनेक हुवे इस में राजशेखर का निम्न पद्य भी प्रमाण है—

"एकोऽपि जीयते हन्त
कालिदासो न केनचित्।
शृङ्गारे ललितोद्गारे
कालिदासत्रयी किमु॥"

अर्थात्, सुन्दर शृङ्गारमयी कविता के प्रवाह करने में एक ही कालिदास को कोई जीत नहीं सकता, फिर तीन का तो कहना ही क्या है।

अभिनन्द कवि ने रामचरित में लिखा है—

'हालेनोत्तम पूजया कवि-
वृषश्रीपालितो लालितः।
ख्यातिं कामपि कालिदास-
कवयो नीताः शकारातिना॥
श्रीहर्षो विततार गद्य-
कवये बाणाय वाणीफलं।
सद्यः सत्क्रिययाऽभिनन्द-
मपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत्॥

इस पद्य में 'कालिदासकवयः' ऐसा बहुवचनान्त प्रयोग है। अतः अभिनन्द कवि से पहिले कम से कम तीन कालिदास अवश्य हो चुके थे, यह सिद्ध होता है। उक्त बहुवचन का प्रयोग आदरार्थक नहीं हो सकता, क्यों कि फिर तो शेष सब नामों के साथ बहुवचन ही होना चाहिये था, क्यों कि वे कवि भी कोई साधारण कोटि के नहीं हैं। यह बहुवचन श्लोक बनाने के लिये विवश होकर भी नहीं रक्खा गया, क्यों कि अभिनन्द बड़ा योग्य कवि है। यह संभव नहीं कि उसे अपनी इच्छा के विरुद्ध यह लिखना पड़ा हो, क्यों कि एकवचन का रूप रख कर भी "ख्यातिं कामपि कालिदास सुकविर्नीतः शकारातिना" इस प्रकार सुगमता से ही श्लोक बन सकता था। अतः कालिदास अवश्य ही अनेक हुए, यह पक्ष सिद्ध होगया।

आंसू

(ले० श्रीयुत गुप्त)

[१]

स्वर्ग लोक भर में बुद्ध देवता हंसी और मखौल के पात्र बने हुए थे। उनके छोटे कद और चौड़ी डील डौल के कारण जो देवता उन्हें देखता था वह उन पर कोई न कोई आलोचना करने के लोभ का संवरण न कर सकता था। खास कर देवराज इन्द्र की सभा में उनके प्रवेश करते ही सदस्यों के हास्य का

फव्वारा छूट पड़ता था। जब वह सभा में प्रवेश करते थे तब सारी सभा खिलखिला कर हंस उठती थी। प्रतिदिन देवराज इन्द्र स्वयं बुद्ध से विचित्र विचित्र प्रश्न कर के उन्हें खूब परेशान किया करते थे। इस प्रश्नोत्तरी में जब बुद्ध तंग आकर खिज उठते थे तब उन का चेहरा और उन के हाथ भाव देखने लायक हो जाते थे। देवताओं को बुद्ध का खिजना बहुत पसन्द था, इन्द्र प्रायः उन की इस इच्छा को पूरा किया करते थे।

बुद्ध शान्त स्वभाव चन्द्रमा के पुत्र थे। चन्द्रदेव को अपने एक मात्र पुत्र की यह दशा बहुत अखरती थी, परन्तु वह लाचार थे; देवराज इन्द्र के सामने भला वह क्या कर सकते थे। इस लिये वह मन मार कर चुप चाप अपने पुत्र के इस भयंकर अपमान को सहन किया करते थे। अस्तु;

एक दिन देवराज इन्द्र मात्रा से अधिक सुरा-पान कर गए। प्याले पर प्याला चढ़ाते चढ़ाते वह बिल्कुल ज्ञानशून्य हो गए। इस अवस्था में उन्हों ने सुरापात्र को उछाल कर दूर फेंक दिया। बुद्ध उन के सामने ही बैठा था; देव राज ने बड़ी कर्कश स्वर में उस से कहा—"ओ बुद्धू ! जा, सुरापात्र उठा ला।" एक देवता को इस प्रकार की आज्ञा देना उस का घोर अपमान करना था, अतः बुद्ध अपने स्थान से हिले नहीं।

बुद्ध के पिता चन्द्र भी पास ही बैठे थे, वह अपने पुत्र का यह भयंकर अपमान न सह सके। उन्होंने बिगड़ कर कहा—"इन्द्र ! होश संभाल कर बात करो।" चन्द्रदेव जोश में आकर यह बात कह तो बैठे परन्तु दूसरे ही क्षण दुस्साहस के परिणाम को सोच कर उन का हृदय कांप गया। इतने में ही कुपित देवराज ने गरज कर कहा—"क्या बकता है छोकरे ! अभी पतित हो कर मर्त्य लोक में जन्म ले।" चन्द्र देव के मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं। इतनी छोटी सी अवज्ञा का इतना भयङ्कर दण्ड !

सारी सभा में सन्नाटा छा गया। सब देवता यह दण्ड सुन कर कांप गए, परन्तु देवराज से कुछ कहने की हिम्मत किसी को न हुई। केवल गुरु बृहस्पति ही इस अवस्था में भी ज़रा न घबराए। उन्हों ने खूब गम्भीर होकर देवराज इन्द्र को उपदेश देना प्रारम्भ किया। बृहस्पति की बादल की गरज के समान गम्भीर वाणी के प्रभाव से शीघ्र ही देवराज का नशा उतर गया। चेतनावस्था में आकर उन्हें अपने कार्य का अनौचित्य स्पष्ट दीख पड़ने लगा। थोड़ी देर में खूब शान्त होकर उन्होंने कहा—"जाओ चन्द्रदेव ! मेरा शाप टल नहीं सकेगा। मर्त्यलोक में जाओ और वहां की सर्वोत्कृष्ट वस्तु लाकर मुझे दो; उस वस्तु में स्वर्ग लोक की मधुरता हो, पापियों को वह कंपा देने की शक्ति रखती हो; वह सब से अधिक करुणापूर्ण और पवित्र हो, वह आदर्श प्रेम का उज्वल और मधुरतम स्वरूप हो। जाओ चन्द्र, मर्त्यलोक में जाकर मेरे लिये शीघ्र ही ऐसा उपहार ढूंढ लाओ !" चन्द्र देव अभी तक थर थर कांप रहे थे।

[२]

खूब तपी हुई बालुका पर वह गौरवर्ण देवदूत बिल्कुल नंगा हो कर बैठा था। गरम लू चल रही थी; कहीं हरियावल का नाम भी न था। दूर पर श्यामल वर्ण के कुछ वृक्ष अस्पष्ट रूप में दिखाई पड़ रहे थे। देवदूत-निर्वासित देवदूत—इस दशा में अत्यन्त कष्ट अनुभव कर कहा था। जिस मर्त्यलोक को वह अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना से प्रतिदिन शीतल किया करता था, वह लोक इतना गरम, नीरस और शून्य होगा इस को उसे कल्पना भी न थी। देव दूत का शरीर जल रहा था, उस के कच्चे दूध के समान श्वेत पंख झुलसने लगे थे; परन्तु वह देव लोक का था, उस में मनुष्यों की अपेक्षा बहुत अधिक सहनशक्ति थी अतः वह ऊपर, अनन्त नील आकाश की ओर आंखे किये हुए पड़ा रहा। शायद वह तृषणनेत्रों से स्वर्ग की ओर ताक रहा था।

सहसा देवदूत को अपना कर्तव्य याद आया; वह एक दम उठ खड़ा हुवा। वह सोचने लगा कि इस नीरस निर्जन मर्त्यलोक में से मैं देवराज का वांछित उपहार कहां प्राप्त कर सकूंगा। परन्तु उसे प्राप्त किये बिना भी तो काम नहीं चल सकता, अतः वह दूर पर दीखने वाले वृक्षों के झुरमुट की ओर चला।

वहां पहुँच कर उस ने देखा कि वृक्षों के पास ही मटियाले रंग के विविध प्रकार के सैकड़ों स्तूप से बने हुए हैं। देवदूत पहले पहल तो यह निर्धारित न कर सका कि ये क्या हैं; परन्तु थोड़ी देर बाद जब वह अपना कौतूहल शान्त करने के लिये एक स्तूप के पास गया तब उसे मालूम हुवा कि इस अभागे लोक के निवासी इन्हीं हीन घरों में रहते हैं। चन्द्रदेव बिना किसी प्रकार की झिझक के एक मकान में प्रविष्ट हो गए।

मकान के दलान की बांयी ओर एक बरामदा था। इस बरामदे में तीन चारपाइयां बिछी हुई थीं। एक चारपाई पर बिछे हुए मैले कुचैले कपड़ों पर एक छः बरस का बालक लेटा हुवा था; शेष दो पर एक वृद्ध स्त्री और एक वृद्ध पुरुष लेटे हुए थे। ये सब प्राणी सर्वथा क्षीण, दीन और दुर्बल थे। बालक की शैया बीच में थी और वृद्धा तथा वृद्ध उसके दोनों ओर लेटे हुए थे। बालक बड़ी करुणा पूर्ण स्वर में "हाय, हाय" कर रहा था। दोनों वृद्ध व्यक्तियां बड़ी व्यथा से उस की ओर देख रही थीं; विचित्र दृश्य था। चन्द्रदेव बहुत ही दुःख और आश्चर्य में पड़ गए, ओह! इस लोक के निवासी इतने हीन, क्षीण और शक्ति रहित होते हैं। थोड़ी देर में बालक रोती हुई आवाज में चिल्ला कर कह उठा—"पानी, पानी।" दोनों वृद्ध व्यक्तियों ने मानो बालक की आवाज़ को प्रतिध्वनित करते हुए क्षीण स्वर में धीरे से कहा—"पानी, पानी।"

देवदूत को अब पूरी बात समझने में देर न लगी। वह स्वर्गलोक में कई बार मर्त्यलोक के भयङ्कर अकालों का वर्णन सुन चुका था। परन्तु इन कष्टों की

इतनी भीषणता की उसे कल्पना भी न थी। बात यह थी कि इस वर्ष फारस देश में भयङ्कर दुर्भिक्ष पड़ा हुआ था। अन्न तो क्या कहीं पानी का भी नामो-निशां नहीं था। ये तीनों अभागे प्राणी इस दुर्भिक्ष के ही शिकार थे; तीनों प्यासे थे, तथापि दोनों वृद्ध व्यक्तियों को अपनी अपेक्षा पुत्र की प्यास बुझाने की अधिक चिन्ता थी; परन्तु वे लाचार थे, कुछ हो ही नहीं सकता था। चन्द्रदेव हृदय थाम कर इस करुण-दृश्य को देखते रहे, उन्हें मर्त्यलोक में किसी जीव की सहायता करने का अधिकार नहीं था।

थोड़ी देर बाद बालक फिर चिल्लाया—"पानी, पानी।" परन्तु इस बार उस का स्वर पहले की अपेक्षा बहुत क्षीण था। शायद बालक की निष्पाप आखों ने उस की मांग पूरी करने का यत्न किया; उस की आंखों के दोनों गढ़े आंसुओं से भर गए। थोड़ी ही देर में बालक को एक हिचकी आई, और इस के बाद उस की देह प्राणशून्य हो गई। दोनों वृद्ध पति-पत्नि अनिमेष नेत्रों से अपने प्राणाधिक पुत्र की ओर देखते रह गए!

देवदूत एक दम प्रफुल्लित हो उठा; मालूम नहीं इस प्रसन्नता का क्या कारण था; उस ने शीघ्रता से बालक की आंसुओं का संग्रह कर लिया और इस के बाद वह अपने शुभ पंखों की सहायता से स्वर्गलोक को चला गया।

*　　　*　　　*

देवराज इन्द्र प्रातःध्यान समाप्त करने के अनन्तर सभाभवन की ओर जा ही रहे थे कि चन्द्रदेव ने आकर उन्हें प्रणाम किया; चन्द्र के हाथ में क्या चीज़ है—यह देखते ही देवराज उस की सारी कथा जान गये। उन्होंने धीरे से कहा "यह मर्त्यलोक का सर्वोत्कृष्ट उपहार नहीं है। जाओ!" चन्द्रदेव मन मार कर रह गये।

[२]

ऊंची अट्टालिका की छत पर से ही चन्द्रदेव उन प्रेमी और प्रेमिका की बातें सुनने लगे। प्रेमिका ने अपनी आवाज़ को स्थिर कर के धीरे से कहा—"प्रियतम, मातृ-भूमि शत्रुओं से घिरी हुई है।" "सो मैं जानता हूँ" कह कर वह अपनी प्रेमिका के मुंह की ओर देखने लगा।

युवती कुछ कहना चाहती थी परन्तु लज्जावश वह उसे कहते २ रुक जाती थी। उस का अन्तरात्मा बार बार जिस बात को उस के गले तक लाता था, उस का हृदय उसे मुंह से बाहर निकलने का अवकाश न देता था। दोनों थोड़ी देर तक चुप चाप बैठे रहे। इस के बाद प्रेमिका ने बड़े यत्न से कहा—प्रियतम हेरिस, कल शायद हमारी मातृभूमि की स्वतन्त्रता का अन्तिम दिन है; इस के बाद पराधीनता का घना अन्धकार हमारी मातृभूमि फ्रान्स को सदा के लिये आच्छादित कर लेगा।"

नव युवक हेरिस इस पर भी कुछ न बोला । उस ने एक बार अपनी प्रेमिका की ओर देख कर ठण्डा श्वास लिया। मानो वह कह रहा था—प्रिये, अभी तो हमें परस्पर मिले थोड़े ही दिन हुए हैं। क्या इतनी शीघ्र इस स्नेह-बन्धन में विच्छेद कर देना पड़ेगा।

थोड़ी देर और चुप रहने के बाद प्रेमिका ने फिर कहा—"प्रिय हेरिस, मैं चाहती हूं कि मैं भी तुम्हारे साथ मातृ-भूमि के शत्रुओं का मुकाबला करने चलूं।" यह वाक्य कहते हुए उस का स्वर कांप रहा था । नवयुवक हेरिस डरपोक नहीं था। अपनी प्रेमिका की अन्तिम बात सुन कर उस की अस्थिरता दूर हो गई। उसने शीघ्रता से अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया । इस के बाद दोनों प्रेमी एक दूसरे के गले में हाथ डाल कर प्रेमभरी बातें करते रहे । चन्द्र देव उन सब बातों को सुन रहे थे ।

सारी रात दोनों प्रेमी बिल्कुल नहीं सोये। उन की बातों का कभी समाप्त न होने वाला अक्षय कोश प्रातः काल के नवीन सूर्य की नरम किरणों ने बीच में ही बन्द कर दिया। नवयुवक हेरिस की बिदाई का समय आगया।

अन्त में वीर-स्वभाव हेरिस ने एक ठण्डी आह भर कर अनिश्चित काल के लिये बिदाई लेली। जब तक वह गली में दीखता रहा, प्रेमिका दरवाज़े पर खड़ी होकर अनिमेष नेत्रों से उसे निहारती रही। इस के बाद युवती ऊपर की छत पर जाकर नगर के राजमार्ग पर जाते हुए हेरिस के साथ रूमाल हिला २ कर प्रेमालाप करती रही।

जब नवयुवक हेरिस बहुत दूर जाकर, प्रातः काल की स्वाभाविक धुंध में लीन होकर प्रेमिका की आंखों से ओझल होगया; तब उस देवी ने दूर पर धुंधले परन्तु शून्य आकाश की ओर देखते रह कर एक ठण्डी आह भरी, इस के साथ ही उस की बड़ी बड़ी आंखों से दो बूंद आंसू टपक कर उस के गुलाबी चेहरे पर से लुड़कते हुए नीचे की ओर खिसक गये । चन्द्र देव अभी तक शान्त होकर इस दृश्य को देख रहे थे, उन्होंने अदृश्य रूप से पास आकर पवित्र प्रेम की पुण्यस्मृति स्वरूप उन आंसुओं को चुरा लिया। इस के बाद वह अपने पंखों की सहायता से स्वर्ग की ओर उड़ गये।

देवराज इन्द्र बड़ी गम्भीरता से गुरु बृहस्पति का प्रातःकालीन उपदेश सुन रहे थे इतने में चन्द्रदेव वहां आ पहुँचे। उन्हों ने बड़ी नम्रता से देवराज को नमस्कार किया। परन्तु देवराज ने एक बार चन्द्र की ओर देख कर बड़ी शान्ति से केवल इतना ही कहा—"चन्द्र ! तुम्हारा यह उपहार बहुत उत्कृष्ट है, तथापि यह मर्त्यलोक की सर्वोत्कृष्ट वस्तु नहीं है।" चन्द्र देव का दिल टूट गया। वह मर्त्यलोक के भयंकर चित्र की कल्पना कर के कांप उठे।

(४)

एक सुन्दर बाग़ में सोने का एक पिंजरा टंगा हुवा था। चारों ओर विविध रंगों के बडे बड़े फूल खिले हुए थे। ठण्डी हवा चल रही थी; हरे हरे वृक्षों के पत्तों से मधुर शब्द उत्पन्न हो रहा था। पिंजरे के अन्दर किशमिश, अंगूर, अनार आदि कई प्रकार के फल पड़े हुए थे; इस पिंजरे में एक काबुली तोता, जिस के गले पर लाल रंग की कुण्डली बनी हुई थी, सिर नीचा किये बैठा था।

मगध के साम्राट् समुद्रगुप्त ने अपनी कन्या अपराजिता के लिये खास काबुल से इस तोते को मंगवाया था। अपराजिता इस तोते को बहुत प्यार करती थी; उसे सब प्रकार से सुखी करने का यत्न करती थी परन्तु वह कभी प्रसन्न न होता था। अपराजिता के प्रेम के प्रभाव से वह उस के रटाए हुए वाक्य तो अवश्य सुना देता था परन्तु उस का मन सदैव उदास रहता था। इस बात को राजकुमारी अपराजिता भी जानती थी कि यह काबुली तोता इस रमणीक उद्यान को कन्धार की सूखी पहाड़ियों के सामने कुछ भी मूल्य वाला नहीं समझता।

सायंकाल का समय था; लता कुञ्जों में लटके हुए पिंजरे में वह काबुली तोता सिर नीचा किये बैठा था। इसी समय चन्द्रदेवता उस के पास आकर खड़े होगये। आज सम्राट् समुद्र गुप्त के इस सुन्दर उद्यान को देख कर उन की यह धारणा कि मर्त्यलोक सर्वथा नीरस है,-नष्ट होगई थी। सहसा कुञ्जों की घनी छाया के नीचे पिंजरे में बैठे हुए तोते पर उनकी नज़र पड़ी। पहली नज़र में उस की शोकमग्नता उन से छिपी न रही। वे चुपचाप खड़े होकर उस की ओर देखने लगे।

ठीक इसी समय पश्चिम दिशा से एक और तोता आकर पिंजरे के पास वाले मौलसरी के पेड़ पर बैठ गया। इस तोते के गले पर भी लाल रंग का कुण्डल बना हुआ था। वृक्ष पर बैठते ही वह तोता चिल्ला उठा-"टीं टीं" पिंजरे में बैठे हुए तोते को मानो सहसा नींद टूट गई। वह झुकी हुई गर्दन को उठा कर बैठ गया और सामने मौलसरी के पेड़ पर बैठे हुए अपने देशबन्धु की ओर ओर देख कर कातर स्वर से वह भी पुकार उठा—"टीं, टीं" इस के साथ ही साथ उस की आंखों से दो बून्द आंसू टपक पड़े। चन्द्रदेव शेष दृश्य को देखने की प्रतीक्षा न करके शीघ्रता से उन आंसूओं के जल से भीगी हुई मिट्टी को उठा कर स्वर्गलोक की ओर कूच कर गये।

देवराज इन्द्र उस समय स्वर्ग की अप्सराओं का नाच देख रहे थे; इतने में चन्द्र ने आकर, मरकत मणि से बनी हुई हलके नीले रंग की थाली में रक्खी हुई वह अश्रु-जलसिंचित मिट्टी उन्हें भेंट की। देवराज ने प्रसन्न होकर कहा—"चन्द्र देव, तुम शापमुक्त हुए। यह मर्त्यलोक का सचमुच सर्वोत्कृष्ट उपहार है।"

आगे आगे

(श्री पं० वंशीधर जी विद्यालंकार)

तुझे पथिक ! बनना होगा,
आगे आगे चलना होगा ॥

(१)

अपना कौन-कौन बेगाना ?
कहां ठहरना-कहां ठिकाना ।
परिचय-हीन विश्व में तुझ को आगे आगे चलना होगा ॥

(२)

साथी सङ्गी इस दुनिया के,
वहीं छूटते जहां बनाए ।
तोड़ जाल माया ममता के आगे आगे चलना होगा ॥

(३)

अपनी गठरी आप उठा कर,
कहीं नहीं टिकते हो पल भर ।
उन की तरह तुझे भी प्यारे ! आगे आगे चलना होगा ॥

(४)

भय क्या तब इकला जाने में,
जब न किया इकला आने में ।
अब भी इकले-सदा अकेले आगे आगे चलना होगा ॥

सम्पादकीय

प्राचीन भारत में शिल्प

पाश्चात्य शिक्षा में अन्धाधुन्ध बहे हुए भारतीय नवयुवक स्वदेशाभिमान की अवहेलना करते हुए प्रायः कहा करते हैं कि प्राचीन भारत में उत्तम कोटि के शिल्प का अभाव था। उन के लिये एक यंत्रहस्ती का वर्णन ही, उनकी आंखें खोलने के लिये पर्याप्त होगा।

'धम्मपदट्ठकथा' के वासुलदत्ता वत्थु में ६८पृष्ठ पर लिखा है कि गौतम बुद्ध के समय उज्जयिनी का राजा चण्ड प्रद्योत था और उसका समकालिक कौशाम्बी का राजा उदयन था। उदयन बड़ा ऐश्वर्यशाली और समृद्ध था। प्रद्योत उस के ऐश्वर्य को देख कर बड़ी ईर्ष्या करता था, और उसे जीतना चाहता था। परन्तु उदयन हस्तिकान्त शिल्प जानता था जिस के द्वारा वह वीणा-वादन से भयङ्कर से भयङ्कर हाथी को भगा भी सकता था और वश में भी कर सकता था। इस लिये उसे युद्ध में जीतना सुगम कार्य न था। हस्तिविद्या जानने के कारण वह दुर्दम हाथियों को पकड़ने का बड़ा प्यारा था। प्रद्योत ने एक चाल चली। उसने एक बृहत्काय काष्ठ का श्वेत हाथी बनवाया, जो कि कलायन्त्र से चलता फिरता था (दारुमयं यंत्रहत्थिं) उस के ऊपर हाथी की न्याईं ऐसी चित्रकारी की गई कि वह कृत्रिम हस्ती वास्तविक जीवनधारी हस्ती प्रतीत होता था। उस कृत्रिम हस्ती के अन्दर ६० योद्धा बैठलाये गये। तदनन्तर उस कृत्रिम हाथी को अपने राष्ट्र के समीपवर्ती उदयन सम्बन्धी विजित राष्ट्र के सघन वन में घूमने छोड़ दिया। उदयन को पता लगा कि उसके राज्य में बड़ा सुन्दर, विशालकाय हाथी आया हुआ है। वह सेना-पुरुषों को साथ लेकर हाथी पकड़ने के लिये चल पड़ा। जिस ओर हाथी घूम रहा था उस ओर लेण्ड भी गिरा दिये जिस से उदयन को पूर्ण निश्चय होसके। जब उदयन उस निबिड़ कानन में पहुंच गया, तब प्रद्योत ने दोनों ओर से अपनी सेना का घेरा डाल कर उसे घेरे में ले लिया। उदयन हाथी को पकड़ने के लिये वीणा बजाने लगा। अन्तःस्थित मनुष्यों ने यंत्र द्वारा हाथी की गति और भी अधिक तेज करदी। तब उदयन अपने हाथी से उतर कर शीघ्रगामी घोड़े पर सवार हुआ, और उसका पीछा करने लगा। शीघ्र भागने से उदयन के सेना-पुरुष पीछे रहगये। इस समय प्रद्योत की सेना ने उदयन को पकड़ लिया, और वह कारागार में डाल दिया गया।

उपर्युक्त कथा महाकवि भास निर्मित प्रतिज्ञायौगन्धरायण नाटक में भी पाई जाती है। इस से यन्त्र द्वारा चलाये जाने वाले कृत्रिम हस्ती का निर्माण स्पष्टतया ज्ञात होता है, और उस की रचना में यहां तक कौशल्य था कि वास्तविक हाथी ही प्रतीत देता था। साथ ही इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि

उस समय हस्तकान्त शिल्प द्वारा उन्मत्त हाथी को सुगमतया वश में किया जा सकता था। आज कल के सभ्य राष्ट्रों को इस विद्या का परिज्ञान अभी तक नहीं। उन्हें हाथी पकड़ने के लिये बड़े कष्ट झेलने पड़ते हैं और अनेक प्रपञ्च रचने पड़ते हैं।

जापान और भारत

फ़र्वरी मास के मॉडर्न रिव्यू में 'यङ्ग ईस्ट' पत्र से निम्न उद्धरण दिया गया है जिस से सिद्ध होता है कि जापान में पहले-पहल रूई भारत से पहुँची। घटना का वर्णन एक जापानी लेखक जे० टकाकुसु ने 'निरोनको-की' नामक जापानी सरकारी पुस्तक के आठवें खण्ड में से दिया है। घटना इस प्रकार है:—

"जापान के प्रामाणिक इतिहास से ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में भारत तथा जापान के सम्बन्ध से एक विचित्र घटना द्वारा रूई का जापान में प्रवेश हुआ। जुलाई ७९९ में एक अजनबी जापान के मिकावा प्रान्त के दक्षिणी किनारे पर कहीं से अपनी छोटी सी किश्ती पर आ लगा। उस के शरीर पर कुछ न था। साधारण से घास के बने टुकड़ों से शरीर को ढका हुआ था। बांयें कन्धे पर नीले रंग के कपड़े का एक टुकड़ा पड़ा हुआ था जो बौद्धों के चोले से मिलता-जुलता था। वह बीस बरस का युवक प्रतीत होता था। ५ फ़ीट ५ इञ्च लम्बा था, कान छिदे हुए थे। उस की भाषा को कोई समझ नहीं सकता था इस लिये पहले किसी को पता ही न चला कि वह किस जाति का पुरुष था। एक चीनी ने, जिसने उसे देखा, कहा कि वह मलय-प्रान्त के कीन-लून का रहने वाला प्रतीत होता है। पीछे जब वह जापानी सीख गया तो उसने स्वीकार किया कि वह 'टैन-जिकू' का रहने वाला है। उस समय भारत वर्ष को जापानी लोग 'टैन-जिकू' कहा करते थे। वह अपनी एक तार की वीणा पर गाया करता था और उस के गीत बड़े करुणा-जनक होते थे। उस के सामान में अनेक वस्तुएँ पायी गईं जिन में से कुछ बीज थे जो रूई के पौधे के थे। उस भारतवासी ने जापानी लोगों से प्रार्थना की कि उसे वहां के 'कवारा-देरा' नामक मन्दिर में रहने दिया जाय और उस की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया गया। वहां उस ने अपने सामान को बेच-बाच दिया और 'नारा' नामक विशाल नगर के पश्चिम की तरफ़ घर बना कर रहने लगा। वह व्यक्ति परदेसियों और यात्रियों को अपने यहां ठहराता था और उन्हें पूरा आराम देता था। पीछे से वह 'ओमी' प्रान्त के 'कोकुयुन-जी' नामक मन्दिर के पास चला गया और वहीं रहने लगा।"

ज्यों २ प्राचीन इतिहास की खोज होती जा रही है त्यों २ यह सिद्ध होता चला जा रहा है कि भारत न केवल धर्म में ही अपि तु व्यापार, कला, कौशल आदि सभी में संसार का गुरु रह चुका है। जिन लोगों का भूत इतना उज्वल था उन के वर्तमान को कालिमा-पूर्ण देख कर आँखों में आँसू भर आते हैं परन्तु उन्हीं आँसुओं के आवरण में से भविष्य की किरणों का प्रकाश भी कभी २ चमक उठता है। संसार अपनी सभ्यता के लिये भारत का ऋणी है,—क्या वे दिन न फिरेंगे जब इन्हीं वाक्यों को गौरव के साथ फिर दोहराया जा सकेगा!

स्नातक--मण्डल का वार्षिक अधिवेशन

गुरुकुल कांगड़ी के उत्सव पर मायापुर में ३ और ४ एप्रिल को स्नातक-मण्डल का वार्षिक अधिवेशन होगा। उसमें निम्नलिखित विषय पेश होंगे:—

(१) गतवर्ष की कार्यवाही तथा नये वर्ष के लिये अधिकारियों का चुनाव।
(२) अलङ्कार-हाकीदल के बारे में मंत्री सार्वदेशिक सभा से किये गये पत्र-व्यवहार पर विचार।
(३) गुरुकुलपचीसी मनाने पर विचार।
(४) आर्यसमाज विषयक स्ना० गुरुदत्त जी का प्रस्ताव।
(५) स्नातकमण्डल के संगठन पर विचार।

आशा है इन प्रस्तावों के महत्त्व को समझते हुए स्नातक भाई अधिक संख्या में आवेंगे।

चन्द्रमणि
मंत्री स्नातकमण्डल

गुरुकुल--समाचार

ऋतुराज वसन्त का सुमनोहर रूप सदा ही यहां बड़ा सुहावना हुआ करता है। परन्तु इस वर्ष विशेष रमणीय है। एक ओर टेसू और शाल्मलि बहुत अधिक खिल खिल कर कुल-भूमि को सजा रहे हैं तो दूसरी ओर आमों के मौर और शहतूतों के हरे भरे पत्ते और फल भूमि की शोभा को सहस्र-गुणित कर रहे हैं। जिधर देखिए उधर हरियाली ही दृष्टिगोचर होती है। कुलपति जी की कुटिया के चरणों में बहती हुई गङ्गा अपने नीलवर्ण सुप्रसन्न और स्वच्छ जल से कुलवासिओं के हृदय को शान्ति दे रही है। ऐसी सर्वोत्तम ऋतु में कुल में किसी रोग-पिशाच का आना कठिन ही है। द्वादश श्रेणी के एक ब्रह्मचारी को साधारण सी चेचक निकली थी, वह भी अब दूर भाग गयी है।

(२) महाविद्यालय की वार्षिक परीक्षा समाप्त हो चुकी है, अधिकारि-परीक्षा अभी होरही है, वह भी पांच दिनों में समाप्त हो जावेगी। इस वर्ष विशेष यत्न किया जारहा है कि सब परीक्षा-परिणाम शीघ्र प्रकाशित हो सकें। स्नातक-परीक्षा का परिणाम अभी प्रकाशित नहीं हुआ, संभवतः इस उत्सव पर १३ स्नातक कुल से दीक्षा प्राप्त करेंगे। इन में से एक स्नातक आयुर्वेद-विभाग का होगा।

(३) कुछ दिन हुए वर्तमान काश्मीर नरेश ने दो घोड़ियें गुरुकुल को दान में दी थीं। कुछ एक ब्रह्मचारी अब नियम पूर्वक घुड़सवारी का अभ्यास करते हैं। इसके अतिरिक्त एक बैण्ड भी ले लिया गया है, महाविद्यालय के ब्रह्मचारी उसकी शिक्षा भी प्राप्त कर रहे हैं। अभी २० ही दिन बैण्ड का अभ्यास किया है, परन्तु आशातीत उन्नति करली है। गुरुकुलोत्सव पर यही ब्रह्मचारी बैण्डदल का कार्य करेंगे।

(४) गुरुकुलोत्सव २, ३, ४, ५, एप्रिल को बड़ी धूम धाम से मनाया जावेगा। उसकी तय्यारियें बड़े समारोह के साथ मायापुर में हो रही हैं। गतवर्ष टीन की झोपड़ियों में यात्रियों को गर्मी के कारण कुछ कष्ट हुआ था। इस वर्ष उन के स्थान पर यथापूर्व फूस की ही झोंपड़ियें बनवायी गयी हैं। कुछ तम्बादियों का भी प्रबन्ध किया गया है। गुरुकुल के प्रायः सब उपाध्याय धन-संचय के लिये बाहर गये हुए हैं। १ एप्रिल को महात्मा गांधी जी ने मन्सूरी जाना है। वहां वे कुछ काल स्वास्थ्यलाभ के लिए निवास करेंगे। विशेष यत्न किया जा रहा है और बहुत अधिक आशा भी है कि वे गुरुकुलोत्सव में भी पधारेंगे।

इन के अतिरिक्त श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी, श्री स्वामी सत्यानन्द जी, श्री स्वामी नारायण जी आदि प्रसिद्ध सन्यासी और अन्य अनेक विद्वान् अपने चित्ताकर्षक उपदेशों और व्याख्यानों से धर्मपिपासुओं की पिपासा को शान्त करेंगे। गुरुकुल-शिक्षा के प्रेमी सब नर नारी इस पुण्य अवसर पर पहुंच कर लाभ उठाएंगें, ऐसी पूर्ण आशा है।

(५) दो मार्च १६०२ को आर्यजनता के एक मात्र प्रिय कुल की मङ्गलमयी स्थापना हुई थी। तदनुसार २ मार्च को ही कुल-जन्मोत्सव के मनाने से कई स्नातक भाई उस में सम्मिलित होकर अपने को सौभाग्यशाली बनाने से वंचित रह जाते थे, क्योंकि इस जन्मोत्सव और गुरुकुलोत्सव पर दो बार आने में बड़ी असुविधा रहती थी। इसलिये अब यह निश्चय किया गया है कि गुरुकुलोत्सव से दो चार दिन पूर्व ही जन्मोत्सव मनाया जावे। तदनुसार इस वर्ष २७ मार्च को प्यारे कुल का जन्मोत्सव बड़ी धूम धाम से मनाया जावेगा और बैण्ड-वादन से यह मङ्गलोत्सव प्रारम्भ किया जावेगा। कुलपति श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज २६ मार्च को ही अपने कुलपुत्रों की प्रार्थनानुसार पहुंच जावेंगें।

(६) कुलप्रेमियों को यह सुनकर प्रसन्नता होगी कि गंगा के पार ज्वालापुर स्टेशन से परे पर्वत-माला की उपत्यका में कुछ भूमि मिल गयी है, तथा और भूमि भी शीघ्र ही मिलने वाली है। गुरुकुलोत्सव के पश्चात् उस भूमि पर कुल की इमारतें बनाने का कार्य प्रारम्भ हो जावेगा।

(७) गुरुकुल के वेदोपाध्याय श्री पं० चन्द्रमणि जी विद्यालङ्कार, पालीरत्न ने गतवर्ष वेदार्थ करने के मुख्य आधार यास्कमुनि के प्रसिद्ध निरुक्त का 'वेदार्थ-दीपक' नामी अत्युत्तम हिन्दीभाष्य का पूर्वार्द्ध प्रकाशित किया था। उस ग्रन्थरत्न को आर्यसमाज तथा भारत के अन्य प्रसिद्ध विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उस का उत्तरार्द्ध भी अब प्रकाशित हो गया है, जो कि गुरुकुलोत्सव पर वेदप्रेमियों को मिल सकेगा।

वर्ष २, अङ्क ११ Registered No A ,1340

वैशाख १९८३] [एप्रिल १९२६

ओ३म्

गुरुकुल समाचार

[स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र]

मुख्य संपादक
प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय सूची

विषय — पृष्ठ सं०

विदेश से ६ शि० एक प्रति का ।-) वार्षिक मूल्य ३)

वर्ष २, अङ्क ११] मास, वैशाख [पूर्ण संख्या २३

अलंकार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक मण्डल गुरुकुल कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः ।
हविष्मन्तो अलंकृतः ॥ ऋ० १. १४. ५ ।

"उस पार"

(प्रो० प० धर्मदत्त जी विद्यालङ्कार)

घर तो इन के है उस पार
फिर क्यों सारे ग़ाफ़िल होकर सोये पैर पसार ॥

सांझ हुई पूरब में कुछ कुछ छाया है अन्धकार ।
पार उतरने को पर कोई हाय नहीं तय्यार ॥

नाव पुरानी उस पर भी है डांड नहीं पतवार ।
छल छिद्रों से भरी हुई है करत न कोई सुधार ॥

अपने प्यारे घर की सारी सुधबुध हाय बिसार ।
पीकर मोह नशे का प्याला करते मौज बहार ॥

गहरी नदिया उमड़ रही है सूझै आर न पार ।
दो घड़ियां दिन बाकी है फिर कब होंगे ये पार ॥

सत्-चित्-आनन्द

(प्रो० धर्मेन्द्रनाथ, तर्कशिरोमणि)

वैदिक दर्शन में 'सच्चिदानन्द' शब्द अत्यन्त महत्व पूर्ण है। एक तरह से यह शब्द सारे वैदिक तत्व-ज्ञान की कुञ्जी है। वैदिक फ़िलासफ़ी में ईश्वर का पारिभाषिक नाम 'सच्चिदानन्द' है। सारे संसार के साहित्य में दार्शनिक दृष्टि से परमात्मा का इतना महत्व-पूर्ण नाम नहीं पाया जाता। आज हम पाठकों को संक्षेप से बताना चाहते हैं कि इस नाम के अन्दर किस प्रकार सारे दर्शन शास्त्र का सार निचोड़ कर रक्खा गया है:-

वैदिक दर्शन संसार में तीन मूल तत्त्वों को मानता है; १-ईश्वर, २-जीव, ३-प्रकृति। बहुत से तार्किकों ने इस पर अनेक शंकायें उठायी हैं, उन सब का पूरा विवेचन तथा खण्डन-मण्डन करना हमारा इस समय प्रयोजन नहीं; परन्तु सब से बड़ा आक्षेप यह किया जाता है कि "सारे तर्क का उद्देश्य एक मौलिक तत्त्व का पता लगाना है परन्तु तुम तीन मौलिक चीजें बताते हो। इस बात को दार्शनिक बुद्धि स्वीकार नहीं करती। सारे संसार के दार्शनिकों ने अपने तर्क में संसार का मूलतत्व एक ही स्वीकार किया है, चाहे वह प्रकृति हो या परमात्मा। इस प्रकार तर्क की प्रवृत्ति* एकवाद (Monism) की ओर है और तुम (Trinity) या त्रैतवाद सिखाते हो।"

इस पर विचार करने से पूर्व यदि हम तार्किक इतिहास पर दृष्टि डाल कर भिन्न २ प्रकार के एकवादों पर विचार करें तो हमें उनके तीन रूप दिखायी देते हैं:—

(क) ईश्वरैकवाद—अर्थात् संसार का एक मूल तत्त्व जिससे यह जगत् बना है, एक ईश्वर है। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत, ईसाई, मुसलमान, विशिष्टाद्वैत आदि आते हैं। पश्चिम में जर्मन तार्किक हेगल तथा शङ्कर स्वामी का अद्वैतवाद भी इसी के अन्दर है।

(ख) जीवैकवाद—इसका कहना यह है कि मौलिकतत्व केवल हमारा अपना आत्मा है, सारा विश्व हमारी अपनी आत्मा की कृति और रचना है। इसके पोषक बौद्ध, योगाचार, पाश्चात्य तार्किक बार्क्ले (Barkeley) आदि हैं।

(ग) जड़ैकवाद—इस वाद के अनुसार केवल जड़ प्रकृति की सत्ता है। सारे विश्व का, जड़ और जंगम दोनों प्रकार का कार्य कलाप

---

* एकवाद (Monism) और अद्वैतवाद (Pantheism) में भेद समझ लेना चाहिये। एकवाद का अर्थ यह है कि संसार में केवल एक मूल तत्व है जिससे सारा विश्व बना है; परन्तु अद्वैतवाद कहता है कि सारे विश्व में केवल एक चीज़ है। अर्थात्, पहला केवल मूल कारण की एकता को कहता है, दूसरा मूल कारण और कार्य दोनों की ही एकता को मानता है।

जड़ प्रकृति से ही उत्पन्न हुआ है। इस के मानने वाले प्रकृति वादी (Materialist) कहलाते हैं जिनमें पूर्व-दर्शन में चार्वाक और पाश्चात्य तर्क में आधुनिक दार्शनिक हेकल (Heckel) हैं।

आज तक संसार में जितने भी एक वाद (Various forms of monism) हुये हैं वे सब इन तीन में से एक के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस प्रकार आज तक का मानव तर्क जिन मूल तत्वों तक पहुँचा है, उन के तीन ही रूप हैं:—

१-संसार व्यापक चेतन शक्ति (परमात्मा)
२-व्यक्ति चेतन (जीव)
३-प्राकृत मूर्त पदार्थ (Matter) (प्रकृति)

तार्किकों ने इन में किसी एक मूल-तत्व को मान कर शेष दो को छोड़ दिया है और उस एक आधार पर दूसरों की सत्ता स्वीकार की है। यह बात हमें बतलाती है कि मानव बुद्धि संसार के मौलिकतत्व के चिन्तन में इन तीन पदार्थों तक ही पहुंची है।

इस प्रकार सारे तार्किक आज तक इन पदार्थों में ही उलझ रहे हैं। वस्तुतः मनुष्य की स्वाभाविक बुद्धि (Intuitive notion) ही हमें तीन मौलकतत्वों का बोध कराती है। किसी ने एक को छोड़ा है, दूसरे ने दूसरे का त्याग किया है परन्तु वैदिक धर्म है जो तीनों मौलिक-तत्वों को मानता है।

हम उन तीनों पदार्थों की संक्षिप्त व्याख्या करना चाहते हैं:—

(१) सत्—'सत्' प्रकृति है। प्रकृति का एक मात्र गुण 'सत्' या बना रहना है। अर्थात्, वह नष्ट नहीं हो सकती। आधुनिक समय में १६ वीं सदी के सब से बड़े प्रकृति वादी हेकल ने बतलाया कि प्रकृति का सब से बड़ा गुण Conservation या 'बना रहना' है। आधुनिक भौतिक विज्ञान का मौलिक सिद्धान्तः—Conservation of Energy and Conservation of matter अर्थात् 'शक्ति' और 'द्रव्य' का बना रहना है। शक्ति और द्रव्य 'प्रकृति' के दो रूप हैं। प्रकृति का सब से बड़ा धर्म सत् Conservation या लगातार बना रहना है, और यह परम सिद्धान्त है जिसे प्राचीन तर्क और आधुनिक विज्ञान ने माना है कि:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः.

अर्थात् असत् का भाव नहीं हो सकता और सत् का अभाव नहीं हो सकता।

(२) सत्+चित्—द्वितीय पदार्थ चित् नहीं किन्तु सत्+चित् है। अर्थात् उसमें 'सत्' धर्म तो प्रकृति के समान है परन्तु उसका विशेषक धर्म 'चित्' या चेतनता है। जीवात्मा के मौलिक धर्म दो ही हैं। फ्रेञ्च तार्किक डेकार्ट ने और वेदान्ती लेखकों ने बतलाया है कि मनुष्य को अपनी आत्मा के विषय में दो बातों का बोध होना अत्यन्त स्वाभाविक है:—

(१) मैं हूं,
(२) मैं कुछ जानता हूँ,

जीवात्मा इसी लिये (१) सत् और (२) चित् गुणों वाला है।

(३) सत्+चित्+आनन्द—परमात्मा सच्चिदानन्द है। उस में सत्ता है,

चेतनता है परन्तु उसका विशेषक धर्म 'आनन्द' है। आनन्द क्या वस्तु है? इस पर हम कुछ नहीं कह सकते। यह आनन्द किसी प्रकार का सांसारिक आनन्द या सुख नहीं है। इस को हम अपने सांसारिक अनुभव के शब्दों में (In terms of human experience) न कह सकते हैं और न सोच सकते हैं क्योंकि बिना समाधि के उस आनन्द का हमें तनिक भी विचार नहीं हो सकता।

इस प्रकार सच्चिदानन्द शब्द के अन्तर्गत प्रकृति, जीव, ईश्वर तीनों के विशेष २ गुणों का बोध हो जाता है।

इन तीनों पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध क्या है? वैदिक दर्शन मानता है कि विश्व में इन तीनों की सत्ता है; तब प्रश्न होता है कि तीनों पदार्थ विश्व में क्यो कार्य कर रहे हैं? अब हम इस का उत्तर देने की चेष्टा करेंगे।

संसार में प्रत्येक पदार्थ के कारण तीन ही हैं :—

(१) निमित्त कारण, जैसे कुम्हार घड़े का है,
(२) उपादान कारण, जैसे मिट्टी घड़े की,
(३) उद्देश्य कारण, जैसे मनुष्य के व्यवहारों के लिये घड़ा बनाया जावे।

१—इन में से निमित्त कारण चेतन वस्तु है जो किसी उद्देश्य के लिये किसी चीज़ से किसी कार्य को बनाती है। परमात्मा इस जगत् का निमित्त कारण है।

२—उपादान कारण वह है जिस से कोई चीज़ बनायी जाती है। प्रकृति से यह जगत् बना हुआ है अतः वह इसका उपादान कारण है।

३—उद्देश्य कारण वह है जिस के लिये कोई चीज़ बनायी जाती है। सारा जगत् जीवों को उन के कर्म फल देने के लिये बना है।

इस प्रकार विश्वके सारे कार्य-कलाप के मौलिक कारण तीन पदार्थ हैं। भिन्न २ तार्किक-सम्प्रदायों ने एक ही पदार्थ ले लिया और उस से ही जगत् के सारे कार्यकलाप का समाधान करना चाहा। किसी ने केवल परमात्मा को स्वीकार किया, दूसरे ने केवल प्रकृति का और तीसरे ने केवल जीवात्मा को। इस प्रकार हम देखते हैं कि:—

(१) ईश्वरैक वाद
(२) प्रकृत्यैक वाद
(३) जीवैक वाद

इन तीनों की उत्पत्ति हुयी। परन्तु आवश्यकता जगत् के लिये तीनों ही कारणों की है। इसी लिये वैदिक दर्शन

'त्रैतवाद'

सिखाते हैं जिस में जीव-ईश्वर-प्रकृति इन तीनों की सत्ता का स्वीकार है।

अब हम पहले प्रश्न का उत्तर देते हैं। कि इन तीनों का आपस में क्या सम्बन्ध है?

सारा जगत् जीवात्मा के लिये है क्योंकि प्रकृति जड़ और परमात्मा परिपूर्ण है उस को कुछ प्राप्तव्य नहीं। उस जीव की स्थिति वैदिक दर्शन में इस प्रकार है:—

प्रकृति——जीव——ईश्वर

अर्थात् जीव, प्रकृति और ईश्वर के बीच में है। जीव, शरीर अर्थो

आत्मा के संयोग का नाम है। शरीर जीव को प्रकृति की ओर ले जाता है और आत्मा जीव को परमात्मा की ओर ले जाती है।

जीवात्मा का दोनों से सम्बन्ध हो सकता है। शरीर उसे प्रकृति की ओर ले जाता है, आत्मा परमात्मा की ओर झुकता है। जो मनुष्य आत्मा को भूल कर शरीर में ही लीन रहते हैं वे प्रकृति की ओर झुकते हैं और तब जीवात्मा का प्रकृति से सम्बन्ध होने के कारण उस में प्रकृति के धर्म जड़ता आदि आ जाते हैं। परमात्मा की ओर से उसकी आँखें बन्द हो जाती हैं और वह परमात्मा को भूला रहता है। वही जीव जब प्रकृति से सम्बन्ध छोड़ देता है, अर्थात् प्राकृतिक जड़ चीजों में उसको ममता नहीं रहती तथा क्रमशः अपने सम्बन्धी, स्त्री, पुत्र आदि में भी ममता नहीं रहती, और यहां तक कि वह शरीर में अहं-भावना छोड़ देता है तब आत्मा की प्रवृत्ति (झुकाव) प्रकृति की ओर से हट कर परमात्मा की ओर हो जाती है और उस समय जीवात्मा में परमात्मा का गुण आनन्द आता है, अर्थात् जिस प्रकार प्रकृति के सम्पर्क से जड़ता आदि प्राकृतिक गुण आये थे उसी प्रकार परमात्मा के सम्पर्क से ईश्वर का मुख्य गुण आनन्द उसमें आ जाता है। इसी अवस्था को ब्रह्मानन्द की अवस्था कहते हैं। इस प्रकार जीवात्मा के अतिरिक्त संसार में दो पदार्थ हैं: (१) ईश्वर (२) प्रकृति। जीवात्मा का इन दोनों में से किसी एक से अवश्य सम्बन्ध होता है। इसी के अनुसार जीवात्मा की दो अवस्थायें भी हैं: (१) मोक्षावस्था (२) बन्धावस्था!

ईश्वर जीव से ऊंचा है इस लिये उसके साथ जुड़ने से जीव में ईश्वर के उच्च गुण आते हैं और जीव को मोक्षावस्था प्राप्त होती है।

प्रकृति जीव से निकृष्ट है। जब जीव प्रकृति से सम्बद्ध होता है तब उसमें जड़ता आदि प्राकृतिक गुण आ जाते हैं और उस की बन्धावस्था होती है।

अब यह मनुष्य पर निर्भर है कि वह अपना सम्बन्ध प्रकृति से करे या परमात्मा से। हमारी इन्द्रियें हमें बाह्य विषयों की ओर ले जाने वाली हैं इसलिये वे हमें प्रकृति में फंसा देती हैं परन्तु मनुष्य का काम है कि ऐन्द्रियिक विषयों से बच कर अपने को आत्मा की ओर प्रवृत्त करे।

जिस प्रकार कुसंगति और सत्संगति एक समाज में मनुष्य को गिरा देती है या उठा देती है इसी प्रकार प्रकृति या परमात्मा में से किसी एक के सम्बन्ध से मनुष्य गिर जाता है या उठ जाता है। मनुष्य की सारी चेष्टा इस लिये होनी चाहिये कि वह प्रकृति से हट कर आत्मा की ओर चले। पश्चिम क सभ्यता की दौड़ प्रकृति की ओर है, पूर्वीय सभ्यता आत्मा की ओर जाती थी। ज्यों २ मनुष्य प्रकृति की ओर चलता है अनेक उलझनों में फंसता जाता है और आत्मिक-मार्ग से सदा के लिये भटक जाता है।

"अछूत" और "जागृति"

(ले०-प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालंकार,)

"जागृति" अत्याचार की प्रथम पुत्री है। जहां अत्याचार यौवन पर पहुंचा वहाँ 'जागृति' का उत्पन्न हो जाना स्वाभाविक है। जागता हुआ व्यक्ति, तकलीफ को, सोने वाले की अपेक्षा अधिक अनुभव करता है। तकलीफ को अनुभव करना नींद को दूर कर देता है और नींद का दूर होना तकलीफ को पहले से अधिक अनुभव कराने में सहायक है। जहां एक वार जागृति आई वहां एक दम फिर नींद का आना कठिन हो जाता है। जागृति का हलका सा भी झोंका आँखें पूरी तरह खोल कर ही छोड़ता है।

भारतवर्ष में अंग्रेजों के अत्याचार से ऊंघते हुओं की नींद टूटी। ज्यों २ देश जागता गया त्यों २ छोटा सा अत्याचार भी भारी मालूम पड़ने लगा। जागृति इस अवस्था तक पहुंच गई कि जिन अत्याचारों का हम को पता तक न था वे विकराल रूप धारण कर हमारी आंखों के सन्मुख नाचने लगे। आज तो अपने घर के अत्याचार इतने भयंकर मालूम पड़ रहे हैं कि परदेसियों के अत्याचारों को हम भूल से रहे हैं। अंग्रेजों के अत्याचारों को अनुभव कर के हम में जो जागृति उत्पन्न हुई थी उसका परिणाम विचित्र निकला। जब तक वह जागृति अंग्रेज़ी पढ़े लिखों तक परिमित थी तब तक तो अंग्रेज़ों और बाबुओं का जंग छिड़ा रहा। गँवार लोग भी यह समझते रहे कि अंग्रेज़ उनके शत्रु हैं। परन्तु पिछले कुछ सालों के भीतर देश में जागृति का समुद्र उमड़ पड़ा है। रेलगाड़ी से बीस मील दूर जंगल के एक कोने में हल चलाता हुआ कृषक भी आज देश की विकट समस्याओं पर अपनी सम्मति रखता है। जागृति के इस प्रकार अनपढ़ लोगों तक में नितर जाने का परिणाम यह हुआ है कि करोड़ों की संख्या स्वराज्य-युद्ध में हम से जुदा होकर खड़ी हो गई है। हम ने जिन्हें अपने स्वार्थ के लिए जगाया वे जाग कर अंग्रेजों के अत्याचारों को इतना नहीं अनुभव कर रहे जितना अपने भाइयों द्वारा किए गए अत्याचारों को अनुभव करने लगे हैं। आज़ादी की तरफ़ लम्बे २ डग बढ़ाता हुआ देश खड़ा हो गया है। बाह्य शत्रु के साथ जो युद्ध छिड़ा हुआ था वह बन्द होगया। अब देश की सेनाएं आपस में लड़ने लगी हैं। घरेलू युद्ध (civil-war) छिड़ गया है। जिस सरकार की नाक में दम आगया था वह खुली सांस ले रही है।

हमने अछूतों को बतलाया कि अंग्रेज हम दोनों के शत्रु हैं। उन्हों ने पूछा, कैसे ? हमने कहा, क्योंकि वे हमें हमारे जन्म-सिद्ध अधिकार नहीं देते। अछूतों ने सोचा-ठीक, जो जन्म सिद्ध अधिकार न दे वह शत्रु होता है! जो शत्रु हो उससे लड़ना भी ज़रूरी है। यह पाठ पढ़ते ही अछूत हमारे गले को

नापने के लिये उठ खड़े हुए। पहिले हमें हमारे अधिकार दे लो फिर अपने अधिकारों की चर्चा छेड़ना। तुम्हें तो पांच २ हज़ार की नौकरियों के बड़े २ अधिकार चाहिएं, वे मुश्किल से मिलेंगे। हमें तो कुएं पर चढ़ना, एक रास्ते पर से गुज़रना आदि छोटे छोटे अधिकार चाहियें। पहिले इन्हें दे लो-अगला युद्ध हम तुम्हारे कन्धे के साथ कन्धा लगा कर लड़ेंगे। यह जागृति केवल अछूतों तक ही परिमित नहीं। देश के एक २ कोने में जहां कहीं किसी प्रकार का अत्याचार हो रहा था वहीं जागृति एक साथ उत्पन्न हो रही है। धर्म के क्षेत्र में ब्राह्मणों के अत्याचार को, समाज के क्षेत्र में बूढ़े लोगों के चलाए रस्मो रिवाज़ के अत्याचार को, निर्धन धनियों के अत्याचार को, अछूत अन्य वर्णों के अत्याचार को, स्त्रियें पुरुषों के अत्याचार को, हिन्दू मुसलमानों के अत्याचार को, कोई किसी के अत्याचार को सहने के लिए तैयार नहीं। यदि हमारी बुद्धि सर्वथा नष्ट नहीं हो गई तो हमें समझ लेना चाहिए कि देश की इस समय जो दुरवस्था हो गई है, जो सारा का सारा काम अस्त-व्यस्त होगया है उसके मुख्य कारण हमी हैं। हमीने अधिकारों की पुकार मचाई है। पहले सारा देश इकट्ठा मालूम पड़ता था क्योंकि अभी देहाती लोगों में, निर्धनों में, अछूतों में, स्त्रियों में, हमारे द्वारा किये गये अत्याचारों से पीडितों में, जागृति उत्पन्न नहीं हुई थी। अब हमारी अधिकारों की पुकार सुन २ कर इन सब को भी मनुष्यता के अधिकार प्राप्त करने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी है। यही देश की सेना के मुख्य सिपाही हैं। यदि इन्हें इनके जन्मसिद्ध अधिकार न मिलेंगे तो यह घरेलू-युद्ध भी चलता ही रहेगा। स्वराज्य भी दूर ही दूर चलता चला जायगा और अङ्गरेजों के पांव इस देवभूमि में गड़ते ही जायंगे। इस लिए मेरा यह दृढ़ विचार है कि जिन अत्याचारों को हम कर रहे हैं उन्हें एक दम छोड़ देना, स्वराज्य प्राप्ति की, अपनी बिखरी घरेलू युद्ध में लगी सेना को सङ्गठित करने की पहली शर्त है। जागृति को देश में हमी ने फैलाया है। इसी उद्योग का परिणाम है कि जिन नज़रों से आज हम अङ्गरेजों को देख रहे हैं उन्हीं नज़रों से अछूत भाई हमें देख रहे हैं, मद्रास के नान-ब्राह्मण ब्राह्मणों को देख रहे हैं, कृषक लोग सूद खोर महाजनों को देख रहे हैं। जब तक हम घर को साफ़ नहीं कर लेते तब तक इन सब सिपाहियों को अपनी सेना में भर्ती नहीं कर सकते। हमारे जातीय सङ्गठन में अत्याचार छिपा हुआ है। देश की जागृति के साथ २ उसे अनुभव किया जा रहा है। इस समय देश की शक्तियें उस अत्याचार को दूर करने में लगी हुई हैं। इस लिए अपने ही में भेद हो जाने के कारण हम सरकार के साथ लड़ने में अपने को कमज़ोर पा रहे हैं। जब हम अपने समाज की रचना में से भेद-भाव के इस अँश को निकालने में समर्थ होंगे तब हमारी शक्ति के सन्मुख ठहर सकना आसान न होगा।

हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अत्याचारी के अत्याचार में पाप

की घनता उतनी नहीं होती जितनी अत्याचार पीड़ित के अत्याचार में! अङ्गरेज़ स्वतन्त्र जाति के लोग हैं। उन्हें शक्ति का मद है। इस मद में उनका अत्याचार करने पर उतर आना स्वाभाविक है। परन्तु अत्याचार-पीड़ित भारतवासियों के अपने भाइयों पर अत्याचार करने का तो कुछ अर्थ ही समझ नहीं आता। यह अत्याचार ही नहीं, उस से कुछ बढ़कर है। इसी अमानुषिक अत्याचार का परिणाम है कि आज उपनिवेशों में विश्व विद्यालयों की शिक्षा प्राप्त किये हुए भारतवासियों को भी अछूत समझा जाता है। अभी जो दक्षिणी आफ्रीका में Anti-Asiatic Bill पास हुआ है वह हमारे अपने भाइयों पर किये गये अत्याचारों का जीता-जागता फल है। वहां पर भारतवासियों की तिरस्कृत अवस्था का वर्णन करते हुए विशप फ़िशर महोदय लिखते हैं:—

"ट्रान्सवाल शहर में बिना लाइसेन्स लिये कोई भारतवासी रेलगाड़ी पर नहीं चढ़ सकता। यह लाइसेन्स देना एक गोरे आदमी के हाथ में है। उसे यह भी अधिकार होता है कि यदि किसी हिंदुस्थानी की शहर के एक हिस्से में दुकान हो तो उसे वहां से उठवा कर दूसरे हिस्से में भेज दे। वे कहीं पक्का मकान नहीं बनवा सकते क्योंकि उन्हें जब चाहे जगह छोड़ देने का हुक्म दिया जा सकता है। ट्रान्सवाल के एक गन्दे हिस्से में सब भारतीयों के लिए जगह अलग कर दी गई है। वे वहीं रह सकते हैं परन्तु वहां पर भी उन्हें स्थिर जायदाद बनाने के कोई अधिकार नहीं हैं। अब से दो वर्ष बाद उन्हें पक्के मकान बना लेने पर भी जगह छोड़ देने का हुक्म दिया जा सकता है। प्राचीन रूस में जो हालत यहूदियों की थी वही हालत आज ट्रान्सवाल में भारतवासियों की है! ट्राम गाड़ी में जाते हुए भी इसी प्रकार के अमानुषिक नियम दिखाई देते हैं। ऊपर के हिस्से में केवल तीन आदमियों के बैठने की जगह हिन्दुस्तानियों के लिए छोड़ी गई है। भारत वर्ष की देवियें बच्चों को गोदी में लिए ट्राम पर चढ़ सकती हैं परन्तु यदि तीन जगहों में से कोई स्थान खाली नहीं है तो, सारी गाड़ी के खाली होते हुए भी, वे उस में नहीं बैठ सकतीं, उन्हें गाड़ी से उतर जाना पड़ता है। सब हिंदुस्तानियों को 'कुली' कहते हैं। स्कूलों में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में भी लिखा है कि सब हिन्दुस्तानी 'कुली' हैं। केम्ब्रिज में पढ़ा हुआ भारतवासी जब ट्राम में जा रहा होता है तो निरक्षर, मूर्ख गोरा उसे 'कुली' कह कर पुकारता है। हिंदुस्तानी लोग नाटकों में नहीं जा सकते, जिन पुस्तकालयों तथा वाचनालयों के लिए उन्होंने चन्दा दिया है उन में भी प्रविष्ट नहीं हो सकते। होटलों में वे नौकरों की हैसियत में ही जा सकते हैं। जिस होटल में मैं ठहरा हुआ था उस में कुछ हिन्दुस्तानी मुझे मिलने आये। वे इंग्लैंड के विश्व विद्यालयों के ग्रेजुएट थे, धनी थे, मोटरें तक रखते थे, परन्तु वे मुझे मिलने होटल के अन्दर न आ सकते थे, मुझे उन्हें मिलने के लिए होटल के बाहर जाना पड़ा। आफ्रीका के गोरे साफ़ शब्दों में कहते हैं कि हिंदुस्तानी

हम से दिमाग़ में ऊंचे हैं, आचार में अच्छे हैं परन्तु इन सब बातों के होते हुए आफ्रिका में हिंदुस्तानी अछूत बने हुए हैं !"

यह विधि-विडम्बना नहीं तो क्या है ? हम लोग अपने घर में अपने भाइयों पर जो अत्याचार कर रहे हैं उन का प्राकृतिक नियम द्वारा यह जबाब है। हमारी अवस्था इतनी शोचनीय होगई है कि चारों तरफ़ से अत्याचारों से पीड़ित होते हुए भी जहां बस चलता है, मौका मिलता है, अत्याचार करने से नहीं चूकते। अंग्रेज़ लोग जो हम पर अत्याचार कर रहे हैं उन का बदला उन्हें किसी न किसी समय अवश्य मिलेगा परन्तु हम लोगों ने विपत्तियों के समय भी जो अत्याचार करना नहीं छोड़ा उसका बदला हमें रोज़ मिलता दिखाई देता है । हमारा पाप साधारण पापों से अधिक भयङ्कर है। हमारी करतूतों के कारण चारों तरफ़ से हमें जूते लग रहे हैं । यह सब कुछ देख कर बारम्बार यही विचार हृदय में उठता है—'क्या अब भी हम नहीं चेतेंगे।,

अत्याचार दुनियां में देर तक नहीं टिक सकता। अत्याचार जितना ज़ोर पकड़ता है, जागृति की मात्रा उतनी ही बढ़ जाती है ;—अत्याचार में यही आत्म-घात की प्रवृत्ति पायी जाती है। अत्याचार कुछ देर में अपना ख़ातमा ख़ुद कर लेता है। आत्म-घात करते हुए अत्याचार को भयङ्कर रूप में हाथ पांव पटकने पड़ते हैं। इस अवस्था से कई लोग डर जाते हैं। परन्तु घबराने की बात नहीं। यह युद्ध देर तक नहीं चलता और कुछ ही देर में अत्याचार निश्चेष्ट होकर भूमि पर गिर पड़ता है। इस प्रकार जब अत्याचार स्वयं आत्म-हत्या कर लेता है तब भाग्याकाश में आशा की पौ फटने लगती है, और कृतकार्यता का सूर्य निराशा के बादलों को छिन्न-भिन्न करता हुआ पूर्ण-यौवन से चमकने लगता है। भारत में अत्याचार के चक्र को मिटा देने वाला युद्ध इसी क्रम में से गुजरने वाला है, यह मेरा दृढ़ विश्वास है !!

अदूरदृष्टि (MYOPIA)

(ले० पं० देवशर्मा जी विद्यालङ्कार)

आज कल जिधर देखें लोग ऐनक लगाये दिखायी देते हैं। इसका अधिकतर कारण 'अदूरदृष्टि' की बीमारी (Short sight या Myopia की बीमारी) है। इस बीमारी में मनुष्य को दूर की वस्तु नहीं दिखलायी देती। भगवान् जाने यह बीमारी दुनियाँ में सदा से चली आती है या आजकल ही पैदा हुई है, परन्तु यह सच है कि इस समय तो इस बीमारी से ग्रस्त बहुत अधिक आदमी हैं। इस बीमारी में ग्रस्त ऐसे भी बहुत से लोग हैं जो बिचारे ग़रीब होने के कारण ऐनक आदि नहीं लगा सकते और इस लिये अपनी इस बीमारी का प्रमाण नहीं देते फिरते।

एक पश्चिमी विद्वान् के कथनानु-

सार हमारे पूर्वज 'असभ्य' लोग तो इतनी दूर तक देखने वाले होते थे कि उन तारों और नक्षत्रों को जिन्हें कि आज के 'सभ्य' लोग दूरबीनों से देख सकते हैं अपनी नंगी आंखों से देखा करते थे और नक्षत्रविद्या के सत्यों को जान लेते थे। इस दृष्टि से हम विचार करें तब तो आज कल हम सभी को जिन्हें ऐनक की जरूरत नहीं और जो अपनी आखों को सर्वथा निरोग समझते हैं-उनको भी 'अदूरदृष्टि' (Short sight) की बीमारी है।

जैसे कि दूर की वस्तु न दीखने की बीमारी होती है वैसे ही बारीक सूक्ष्म वस्तु के पास से न दीखने की भी बीमारी होती है। इस बीमारी के प्रतीकार के लिये भी वैसे ही लोग बहिर्गोल ताल (Convex lens) की ऐनकें लगाते हैं या क्षुद्रवीक्षण (खुर्दवीन) आदि का प्रयोग करते हैं।

* * * *

यह तो बाहिरी आँखों की बात हुई। परन्तु बाहिरी आँखों की 'अदूरदृष्टि' (Myopia) का वर्णन करना मेरा विषय नहीं है। यदि बाहिरी आँखें ही सब कुछ होती तो भक्त सूरदास, विरजानन्द स्वामी और मिल्टन आदि जैसे अन्तःचक्षु पुरुष संसार में क्रान्तदर्शी न हो गुज़रते। और हम भी तो अन्दर की आंखों से जितना काम लेते हैं उतना बाहरी आंखों से नहीं लेते। हम अपना एक एक काम, एक २ चेष्टा अन्दर की आँखों से देख कर करते हैं अतः अन्दर की आंखों में इस बीमारी का होना जितना हानिकारक होता, है, और हो रहा है, उसका शतांश भी बाहिरी आंखों में होने से नहीं। तो जिन विचारों को अन्दर की आंखें दूर तक नहीं देख सकतीं उनकी दशा बड़ी ही दयनीय है। और ऐसे अन्दर से अदूरदर्शी लोगों की संख्या तो संसार में और भी अधिक है। सारा दुःखग्रस्त और रुदन करने वाला संसार इसी अन्दर की अदूरदृष्टि से ग्रस्त है। दूर की बात नहीं दिखलायी देती इसीलिये संसार में सब रोना पीटना है। क्या कोई इस अदूरदृष्टि के लिये भी अञ्जन दे सकता है ! ऐ ऐनकें देने वाले, बड़े 'साइनबोर्ड' वाले नामी डाक्टरो ! क्या अन्दर की आंख के लिये भी तुम्हारे पास कोई ऐनक है ? यही कहने को जी चाहता है 'पहिले अपनी दृष्टि ठीक कर लो, औरों को ऐनकें और अञ्जन फिर लगाना'। अदूरदृष्टि कोई बाहिरी आंखों में ही नहीं हुआ करती। यह तो बड़ी गहरी बीमारी है। मैं तो आज असली (अन्दर की) अदूरदृष्टि को इतना फैला हुआ देख कर घबराया हुआ हूं।

* * * *

जब मैं बालक था और चतुर्थ श्रेणी में पढ़ता था तभी मैं कृष्ण पट्ट पर (ब्लैक बोर्ड पर) लिखे हुवे अक्षर नहीं पढ़ सकता था, क्योंकि मुझे बचपन से ही इतनी अधिक अदूरदृष्टि की बीमारी थी। किन्तु अपनी वह बाह्य बीमारी अब मुझे इतनी घोर नहीं मालूम होती जब कि मैंने अब यह जाना है कि मैं कामी इस लिये हूँ क्योंकि मुझे अदूरदृष्टि है, मैं क्रोधी इस लिये हूँ क्योंकि मैं अदूरदृष्टि से ग्रस्त हूँ, मैं लोभी, घमण्डी और ईर्ष्यालु इस लिये हूं क्योंकि मुझे दूर तक नहीं दिखलीया

देता। मैं सब पाप इसी लिये करता हूँ क्योंकि मुझे दूर तक नहीं दिखलायी देता। मैं संसार में बद्ध इस लिये हूँ क्योंकि मैं अदूरदर्शी हूँ। अब यह भी समझ में आता है कि शास्त्रों ने एक स्वर से 'अदर्शन' या 'अविद्या' को सब रोगों का महारोग क्यों बतलाया है।

* * * *

नौजवानों को दूरस्थ आने वाला बुढ़ापा नहीं दिखायी देता इस लिये वे जवानी भर बुढ़ापा लाने वाले कर्मों में लिप्त रहते हैं और पीछे पछताते हैं।

हिन्दुस्तानियों को अपना देश नहीं दिखलायी देता। किन्हीं को देश दिखायी देता है तो उसका भविष्य नहीं दिखलायी देता इस लिये वे विदेशी वस्त्र पहिनना या देश के लिये बलिदान करने से बचना आदि देश-विघातक कृत्यों को बड़े आराम और बेफ़िकरी से करते चले जाते हैं।

अत्याचारी को अपनी आने वाली मृत्यु नहीं दिखलायी देती अतः वह उन्मत्त हो अत्याचार करता चला जाता है और किसी की कुछ नहीं सुनता।

प्राणी को अपना आत्मा नहीं दिखलायी देता, वह अमृत को अपने पास रखते हुए भी संसार के दुःखसागर में डुबकियां खा जाता है।

इस प्रकार संसार के सभी दुःख और दुर्घटनायें हम अपने ऊपर इसलिये ले आते हैं क्योंकि हम दूर तक नहीं देख पाते। इसका क्या किया जाय? विषयों में मस्त पुरुष को अपने कर्मों का परिणाम नहीं दिखायी देता। अदानी को दान देने में धन का सर्वोत्कृष्ट सदुपयोग नहीं दिखायी देता। विद्यार्थी को पढ़ाई में कुछ लाभ नहीं दिखलायी देता। भीरू को देश के लिये मरने में कुछ आनन्द नहीं दिखायी देता। आलसी को दूरस्थ परिश्रम का मधुर फल नहीं दिखलायी देता। अंधे को रूप नहीं दिखलायी देता। इसका क्या किया जाय? इसमें इनका क्या दोष? यह सब तो केवल दृष्टि का दोष है।

* * * *

जिसको जहां तक दिखायी देता है वह उसी के अनुसार और उसी सीमा तक शुभ कार्य कर सकता है, अधिक नहीं। और अन्त में जिन्हें सब संसार, संसार का सब तत्व, दृष्टिगोचर हो रहा है वे ही संसार का सब आनन्द लूटे जा रहे हैं।

जिन भारतवासिओं को स्वदेश दिखलायी देता है वे दासता की बेड़ियों को तोड़ने के लिये व्याकुल हो उठ खड़े होते हैं और अनायास बड़ी २ तपस्या कर उतना ही पुण्यार्जन करते हैं। जिन्हें अपने सूक्ष्म २ दोष भी दीखते रहते हैं वे वेग से दिनों दिन ऊपर चढ़ते जाते हैं। जिन्हें 'धर्म' या 'आत्मा' दिखलायी देता है वे सुगमता से मुमुक्षु के पद को प्राप्त कर जाते हैं। महाबली षड्रिपु भी दृष्टि वाले सुजाखे के सामने नहीं ठहर सकते। भला जिसे व्यापक सुख दिखलाई दे रहा है उसमें 'काम' कैसे पैदा होगा? जिसे संसार को हिलाने वाला बल सर्वत्र दिखाई देता है उसे क्रोध क्यों सतायेगा? जिसे संसार का परम ऐश्वर्य अनुभव होता है वह लोभ किस वस्तु का क-

रेगा ? इसी प्रकार जिसे संसारव्यापक प्रेम, संसारव्यापक ज्ञान और संसार-व्यापक आत्मा (अपनापन) दिखायी देता है उस में मोह, मद और मत्सर नहीं पैदा होते। यदि इस तरह दृष्टि सब संसार को देखने लगे तो सब भय दूर हो जाते हैं, सब झगड़े मिट जाते हैं।

पर इतनी दूरदृष्टि, इतनी दिव्यदृष्टि प्राप्त कैसे होवे ? अरे, कोई सच्चा हकीम (वैद्य) ऐसा नेत्राञ्जन दे देवे कि जो सब संसार, सब लोकलोकान्तर (जो कि तारे नक्षत्र दीखते हैं) साफ़ २ दीखने लगे, अनुभव होने लगे। कोई कृष्ण (अपना मुंह खोल कर) हमारी आंखों को दिखला देवे कि भविष्य में क्या हुवा पड़ा है। आहा ! आंखें खुल जाँय। आँखों का परदा हट जाय। दृष्टि की सर्वत्र गति हो जाय।

* * * *

फिर वह आंखों का अञ्जन कहां से मिलेगा ? बिना सद्गुरु के अन्तःचक्षुओं को और कौन खोल सकता है। यदि किसी को कोई मनुष्य-गुरु न मिलें तो भी कुछ डर नहीं, क्योंकि अन्त में जो परमगुरु है वह तो एक २ मनुष्य को प्राप्त हुवे हुवे हैं और जब चाहें मिल सकते हैं। परन्तु क्या बुद्ध, शंकर, दयानन्द, गांधी या किन्हीं अन्य गुरु ने तुम्हारे आंखों में कुछ उजाला किया है। यदि किसी ने भी किया तो केवल अब श्रद्धा से उनके पास बैठना (उपासना करना) ही शेष रहा है। उन से मिला हुवा ज्ञानाञ्जन दिनों दिन हमारी आंखों में इस तरह ज्योति विकसित करता जायगा कि हम भी आंखें खुल जाने पर कभी कृतज्ञता भरे भाव में गद्गद हो हृदयध्वनि से गुरु का स्मरण कर सकेंगे कि

आचरणसुधामय्या
ज्ञानाञ्जनशलाकया
चक्षुरुन्मीलितं येन
तस्मै श्रीगुरवे नमः।

परन्तु यह सब श्रद्धा से ही साध्य है। श्रद्धा के बल से तो शिष्य गुरु के ही नेत्रों से देख सकता है और एवं कभी इन पवित्र उपनेत्रों से मार्ग देखते और फिर नये ज्ञानाञ्जन सेवन से अपने नेत्रों को ज्योतिर्मय करते २ ही पूर्ण-दृष्टि प्राप्त हो जाती है। इसलिये श्रद्धा उपासनीया है। यदि सद्गुरु दीख गया है तो फिर अपने संपूर्ण आपे को उसे सौंप दो, बस फिर बेड़ा पार है, यही श्रद्धा का मतलब है। श्रद्धा से तो गुरु शिष्य के क्रीत (बिके हुवे) हो जाते हैं। श्रद्धा से ही भगवान् भक्तों के आधीन हैं। यह केवल कहने की बात नहीं है। यह सच है। श्रद्धा को ही आंख खोलने वाला कहना चाहिये। जिस बिचारे में श्रद्धा नहीं उसे तो कोई गुरु ही नहीं मिलते और उसके अन्दर हृदय में ही बैठे 'पूर्वेषामपि गुरु' भगवान् भी उससे बहुत बहुत दूर हैं। इस लिये मैं कहता हूं कि श्रद्धा ही आंख खोलने वाली है।

* * * *

पर श्रद्धा आंख मींचने से होती है। बाहिरी आंखें मींचने से अन्दर की आंख खुलती है। अच्छा होता कि हम अंधे होते। तब संभवतः हम श्रद्धा की ही शरण लेते। अब भी तो हमें आंख मींच

के जानबूझ कर अन्धा बनना पड़ता है। सब ख़राबी यही है कि हम न तो पूरे अंधे हैं और न हमें पूरा दिखलायी देता है, किन्तु हमें थोड़ा २ दीखता है। जवानी की उम्र इसालये बड़ी ख़तरनाक है। जवानी में जब बन्द आंख खुलने लगती हैं तो वह बालकपन की अपनी सहज श्रद्धा को छोड़ देता है और समझने लगता है कि मुझे सब कुछ दीखता है, अब मुझे माता पि ा व गुरु की क्या ज़रूरत। पर असल में उसे बहुत थोड़ी दूर तक दीखता होता है। यह 'अदूरदृष्टि' की बीमारी जवानी (Young age) में ही हुवा करती है। डाकृर भी इस में साक्षी हैं।

बुढ़ापे में तो आंखों की दशा उलटी हो जाती है, तब दूर का चीज़ दीखती है और पास की नहीं दीखती। बुड्ढे लोग चिट्ठी को दूर रख के पढ़ते हैं, परलोक की या दूर पुराने ज़माने की बातें करते रहते है। उन्हें पास की चीज़ कम दीखलायी देती है। ये बुड्ढे जवानों को कोसते हैं और जवान (दूसरी तरह की आंखों की बीमारी से ग्रस्त हुवे हुवे) इन बुड्ढों पर हंसते हैं। पर ये ही जवान जब बुड्ढे होते हैं तो उस समय के जवानों को समझाने लगते हैं और वे जवान भी इनकी जवानी की दशा की तरह ही इनकी बातें नहीं समझते। इसी तरह यह आंखों की बीमारी का मारा हुवा अन्धा संसार लुढ़क रहा है! इस में बिरले ही ठीक दृष्टि वाले हैं। इस लिये धन्य हैं वे जवान जिन्हें जवानी में अदूरदृष्टि की बिमारी नहीं होती क्योंकि; बुढापे में भी उन्हें पास न दीखने की बीमारी नहीं होती। धन्य हैं वे जवान जिन्हें जवानी में श्रद्धा परित्याग नहीं कर जाती और इसी लिये बुढ़ापे में भी उनकी स्वस्थ दृष्टि ठीक तर्क करने योग्य बनी रहती है। ऐसे स्वस्थ दृष्टि वाले वृद्ध पुरुष ही संसार के सच्चे नेता होते हैं। और तो केवल अपने साथ औरों को भी भटकाते रहते हैं। सच्चे नेता का लक्षण यही है कि जिस अपनी जवानी में 'अदूरदृष्टि' की बीमारी नहीं लगी, जिसने जवानी में शिष्यता और श्रद्धा को नहीं छोड़ा। वह वृद्ध पुरुष सच्चा नेता है। वही गुरु है। वही स्वस्थ दृष्टि वाला संसार को ठीक रास्ता दिखला सकता है।

* * * *

संसार के सब महापुरुष दूर तक देखने वाले हुवे हैं। उन की दूर तक देखने की शक्ति ने ही उन्हें स्वभावतः 'महान्' बनाया है। जो भविष्य को दूर तक देख सकते हैं वे इतने बड़े व्यापक कर्म करते हैं कि उतने भविष्य को वे अपने कर्म से व्याप्त कर लेते हैं, अतः वे उतनी दूर तक जीवित बने रहते हैं। बुद्ध भगवान् आज भी ज़िन्दा हैं, त्रेता द्वापर के राम और कृष्ण आज भी जिन्दा हैं। इस लिये क्योंकि इन्होंने दूर तक देखा था और उसे कर्म से व्याप लिया था। ये लोग और न जाने कब तक जीवित रहेंगे। इतना कहा जा सकता है कि ये वहां तक जीवित बने रहेंगे जहां तक कि इन्होंने दृष्टिप्रसार किया था।

इसके विपरीत हम जैसे जो साधारण लोग हैं वे अपने आस पास के वर्त्तमान को ही देख सकते हैं (भ-

विष्य दूर तक नहीं देख सकते और अतएव मुंह फेर कर भूत पर भी दूर तक निगाह नहीं दौड़ा सकते)। वे जैसे तैसे अपने उस वर्तमान में ही ज़िन्दा रहते हैं और आने वाला भविष्य उन्हें मार जाता है। इस तरह काल सब संसार को खाता जा रहा है। इस में वे ही बचते हैं जिनकी दृष्टि दूर तक जाती है। यह ठीक है कि भविष्य के देखने वालों को वर्तमान काल अपनी तरफ़ से बड़ा कष्ट पहुँचाता है, परन्तु वह मुमूर्षु वर्तमान उन तपस्वियों का क्या बिगाड़ सकता है? वह तो थोड़ी देर स्वयं ही अपनी मौत मर जाता है। और यद्यपि वर्त्तमान को ही देखने वाले आम लोग वर्त्तमान में बड़े आनन्द से रहते दीखते हैं परन्तु आने वाला कल उन भीरुओं को मार जाता है, वर्त्तमान के साथ वे भी समाप्त हो जाते हैं। इस लिये दूर तक देखना चाहिये। जितनी दूर तक हो सके उतनी दूर तक देखना, सूक्ष्मता में भी दूर तक देखना चाहिये। काल यही कहता चला जा रहा है कि दूरद्रष्टा बनो। हे भारत वासिओ! दूरद्रष्टा बनो, नहीं तो खाये जाओगे। हे मनुष्यो! हे समाजो और संघो! हे राष्ट्रो! अपने लक्ष्य को ऊंचा कर उतनी दूर तक देखो, अपने कार्यक्रम दूर तक देख कर बनाओ। दृष्टि को विशाल करो। यही संसार में जीने की शर्त है। अमर होने का मार्ग यही है। जो जितनी दूर तक देखेंगे वह उतनी देर जीयेगें।

द्राघीयाँसमनुपश्येत पन्थाम्।

प्रीति छुपै नहीं लाख छुपाये

(स्ना० शान्तिस्वरूप विद्यालङ्कार अमेरिका)

(१)

तिल ओट छुपै धरणीधर औ रवि तेज छुपै खग पंख फैलाये
सरिता जल का परवाह छुपै सिकता स्थल में बहती जब आये।
जग के सब रूप अनूप छुपैं जब नयनन में जल बिन्दु समाये
कोई कोटी बनावट चाहे करे पर प्रीति छुपै नहीं लाख छुपाये॥

(२)

मन मानस में गुण दोष छुपै बिन यत्न नहीं उन को लख पाये
इस भूतल में सब रत्न भरे पर पा न सकें सब ही थक जाये।
पर प्रेम प्रवाह पड़े जन को लख के सब आप ही आप बताये
मत और बनो हम जानत हैं पर प्रीति छुपै नहीं लाख छुपाये॥

(३)

जस कालस में सब रंग छुपै और भंग के संग में दुःख छुपाये
जस शंख निनाद में नाद मृदंग सितार न जान पडे लुक जाये।
तस प्रेम को रंग न रंग छुपै चाहे रात बढे चहे बद्दल आये
जस आगि छुपै न कपास की रासि में प्रेम छुपै नहीं लाख छुपाये॥

(४)

अंध बने चहे आंख न हो अरु कान न हो बहरा कहलाये
चहे जीभ न हो मुंह में उस के कुछ शब्द नहीं मुंह से कह पाये।
पर प्रेम को रंग उसे भी दिखे अरु तान सुने बिन कान लगाये
बिन यत्न किये वह भाव कहे कहिं प्रीति छुपै नहीं लाख छुपाये॥

(५)

जग छोड के जाय रहे वन में तन के कपड़े भगवे रंगवाये
पर भांपन हारे तो भांफ गये, जस प्रेम की सेज हैं आप बिछाये।
इसके रसिया पहचानत हैं नहीं रंग बढे चहे रंग चढ़ाये
भवभूत रमाये से देह छुपे पर प्रीति छुपै नहीं लाख छुपाये॥

महाकवि कालिदास

(ले० पं० वागीश्वर जी विद्यालङ्कार)

उक्त मतों की आलोचना

[२]

(क) कालिदास पाँचवीं सदी अर्थात् द्वितीय चन्द्रगुप्त के समय में हुवे यह पहला पक्ष है। इस की पोषक युक्ति जितनी मनोरञ्जक है उतनी सार-गर्भित नहीं। हम यह मानते हैं कि कवि-लोग अपने समय की घटनाओं को अप्रासङ्गिक होने पर भी श्लेष या व्यंजनादि द्वारा अपनी कविता में जहां-तहां ग्रथित कर दिया करते हैं। परन्तु रघुवंश के विषय में यह कल्पना अमूलक ही है। हमारी सम्मति में एकाध जगह किसी शब्द-विशेष का प्रयोग हो जाना कोई बड़ी बात नहीं। हां—इसी युक्ति के ढंग पर जो कल्पना हमें जँचती है उसे हम आगे प्रकाशित करेंगे। वह शायद पाठकों को अधिक

युक्तियुक्त प्रतीत होगी। दूसरी बात यह है कि समुद्रगुप्त या चन्द्रगुप्त के विजय वृत्तान्तों को स्पष्ट रूप में वर्णन करने के लिये कवि को किसने रोक दिया था। अपने सुयोग्य स्वामी के चरित्र का वर्णन कर अधिक सन्मान प्राप्त करने का मौका कवि ने हाथ से क्यों जाने दिया, एकाध जगह दबीज़बान से 'चन्द्र' तथा 'समुद्र' आदि कह डाल कर ही अपने आश्रयदाता के प्रति अपना कर्त्तव्य पूर्ण हुवा उसने क्यों मान लिया—क्या इसका कोई उत्तर है? यदि नहीं तो मानना पड़ेगा कि उक्त कल्पना बलवती नहीं है।

(ख) कालिदास के काव्यों में राशिचक्र का वर्णन है, यह ठीक है। यदि हम स्वीकार भी करलें कि भारतीयों ने यह सिद्धान्त ग्रीक लोगों से सीखा तो भी कालिदास को ३०० ईस्वी से इधर लाने की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। आर्यों का ग्रीक लोगों से * बहुत पुराना संबन्ध चला आता था। इस में क्या प्रमाण है कि १६८२ वर्ष पूर्व अर्थात् कालिदास के समय या उससे भी पूर्व आर्यों ने यह सिद्धान्त ग्रीकों से नहीं सीख लिया था। कालिदास के समय भी राजाओं के अन्तःपुर में ग्रीक स्त्रियां दासी आदि का कार्य करती थीं। शेष रही यह बात कि सूर्यसिद्धान्त में इसका वर्णन क्यों नहीं मिलता? अच्छा आप ही बताइये कि पुराने विचारों के बहुत से कट्टर हिन्दू आलू क्यों नहीं खाते। आप कहेंगे कि आलू परदेश से आया है वे उसे अपवित्र मानते हैं इस लिये नहीं खाते। बस ठीक है, आगये सीधे रास्ते पर। क्या आपके पास इसका कोई प्रमाण है कि ३०० ईस्वी में जब सूर्यसिद्धान्त बना था तब ऐसे प्रखर दिमाग़ के महानुभाव नहीं होते थे। "न वदेत् यावनीं भाषां प्राणैः कण्ठगतैरपि। हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमन्दिरम्" ऐसा उपदेश देने वाले तथा मानने वाले क्या उस समय नहीं हो सकते थे। अब आलू और अंग्रेज़ी का प्रचार हुवे कितना ज़माना गुज़र गया परन्तु बहुत से भद्रपुरुष इन को घृणा की दृष्टि से देखते हो जाते हैं। दूसरी ओर इनके पक्षपातियों की तो बात ही न पूछिये। तो क्या ऐसी ही कोई बात बेचारे यवनागत राशिचक्र के विषय में नहीं हो सकती। यदि हो सकती है तो फिर आपने 'लग गया तीर तो नहीं तो तुक्का' वाली बात क्यों की। और ज़रा यह तो बताइये कि चौथी तथा पाँचवी सदी में कौन से ग्रीक लोग यहां आये जिन्होंने राशिचक्र का प्रचार यहां कर दिया जो कि ३०० ईस्वी से पूर्व नहीं था।

(ग) वत्सभट्टि ४७३ ईस्वी में वर्त्तमान था। उसकी कविता से कालिदास की कविता मिलती जुलती है इस लिये दोनों कवियों को आस पास ही होना चाहिये। बिलकुल ठीक है। यह तो कहिये कि कितनी मिलती जुलती है? घोड़ी तथा गधी दोनों के ही दो कान तथा चार पाँव होते हैं, दोनों आपस में बहुत मिलती हैं। क्या आप उन्हें भी पहचानते हैं? सच तो है,

*ततः प्रविशति—बाणासनहस्ताभिर्यवनीभिरनुगम्यमानो राजा। (शाकुन्तल, २य अङ्क)

क्योंकि वत्सभट्टि की कविता रघुवंश से टक्कर ले रही हैं तभी तो उस बेचारे की बनाई पुस्तक का नाम आपके सिवाय कोई जानता नहीं।

यदि थोड़ी देर के लिये मान ही लें कि इन दोनों की कविताशैली बहुत मिलती है तो इस से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि कालिदास तथा अश्वघोष की कविताओं में भी बहुत सादृश्य है। अश्वघोष राजा कनिष्क की सभा के सभापति थे। कनिष्क ७८ ईस्वी में सिंहासनासीन हुवे। इस लिये अश्वघोष भी ७८ ईस्वी में मौजूद थे। अब बतलाइये कि आप कालिदास को किधर ले जाना चाहते हैं। या तो आप इस बात से इन्कार कीजिये कि अश्वघोष तथा कालिदास की कविताओं में सादृश्य है नहीं तो 'तेरी भी चुप मेरी भी चुप।'

(घ) चौथा मत तो हमारी समझ में ही नहीं आता। जब हर्षवर्धन ने इतनी बड़ी विजय प्राप्त की तो वह बिलकुल नया संवत् चलाने से क्यों डर गया। पुराने 'मालव' संवत् पर इतनी लीपापोती भी की गई और फिर भी आगने पकड़ ही लिया। वस्तुत. यह बात संगत प्रतीत नहीं होती। किसी तात्कालिक ग्रन्थ तथा शिलालेख में भी इसका ज़िकर नहीं मिलता। जब कि अनेक छोटे मोटे राजाओं ने भी अपने नाम के संवत् चलाने का साहस किया और चलाये तो हर्षवर्धन ने ऐसा क्यों नहीं किया। अस्तु हमें इस विषय पर कोई विवाद नहीं करना है। हमारे पास इस विषय के प्रमाण हैं कि ईसा के प्रथम शतक में भी लोग प्रसिद्ध दानी विक्रमादित्य का नाम जानते थे। इस प्रसंग में हमने इतना और लिखना है कि डाक्टर भाऊदाजी का यह विचार कि इस हर्षवर्धन का कृपापात्र मातृगुप्त ही कालिदास है—ठीक नहीं। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में कालिदास तथा मातृगुप्त भिन्न २ व्यक्ति माने गये हैं। एक और बात यह है कि हर्षवर्धन के राजकवि बाणभट्ट ने सुबन्धु तथा कालिदास आदि को अपने ग्रन्थ हर्षचरित में

(१) निर्गतासु न वा कस्य,
कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुर सान्द्रासु,
मंजरीष्विवजायते॥

(२) कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया।
शक्त्येव पाण्डुपुत्राणां गतया कर्णगोचरम्॥

स्मरण किया है। इस लिये कालिदास तथा सुबन्धु या तो बाणभट्ट से प्राचीन होने चाहिये या उनके समसामयिक। सुबन्धु के ग्रन्थ 'वासवदत्ता' की शैली बाणभट्ट की लेखन शैली से बहुत मिलती जुलती है यहां तक कि हर्षचरित में कितने ही वाक्य अविकल रूप में वासवदत्ता से ले लिये गये हैं, अतः आवश्यक है कि सुबन्धु को बाण से कुछ प्राचीन माना जावे। सुबन्धु भी अपना सम्बन्ध किसी विक्रमादित्य ‡ से जोड़ रहे हैं और बड़े शोक से लिख रहे हैं कि विक्रमादित्य पृथिवी को अनाथ कर स्वर्गवासी हो गये। ये विक्रम हर्षविक्रम नहीं हो सकते। क्योंकि बाण के हर्षचरित से

‡ सा रसवत्ता विहता, नवका विलसन्ति चरति नो कङ्कः। सरसीव कीर्त्तिशेषं, गतवति भुवि विक्रमादित्ये॥

यह प्रतीत नहीं होता कि हर्ष की मृत्यु बाण के सामने ही हो गई थी। जब बाण के समय में भी हर्ष पूर्णतरुण तथा प्रतापी थे तो बाण के पूर्ववर्त्ती सुबन्धु तो उनकी मृत्यु पर किसी प्रकार भी शोक प्रकाशित नहीं कर सकते। हम समझते हैं कि सुबन्धु संभवतः द्वितीय चन्द्रगुप्त (विक्रम) के अन्तिम समय में रहे हों।

कालिदास को बाण का निकटवर्त्ती मानना सर्वथा असंगत है। दोनों की शैली में आकाश पाताल का अन्तर है। जो प्रसादगुण तथा 'स्वाभाविकता कालिदास की कविता में है उसका आभास भी बाण के लेख में नहीं मिलता। पुराने काव्यों का अनुशीलन करने से यह स्पष्ट प्रतीत होता है किसंस्कृत भाषा उत्तरोत्तर जटिल तथा कृत्रिम होती चली गई जिस की पराकाष्ठा बाण तथा उनके परवर्त्ती कवियों के ग्रन्थों में दृष्टि गोचर होती है। शैली में इतना अन्तर पड़ने के लिये पर्याप्त अवसर की आवश्यकता है। यह अवसर यदि ४००, ५०० वर्ष का स्वीकार किया जावे तो कालिदास विक्रम संवत् के प्रारम्भ में ही जा बैठते हैं।

और देखिये-हर्षवर्धन के प्रतिस्पर्धी प्रसिद्ध पुलिकेशी का राजकवि रविकीर्त्ति क्या लिख रहा है ?

"पंचाशत्सु कलौ काले,
षट्सुपंचाशतासुच (५५६)।
समासु समतीतासु,
शकानामपि भूभुजाम्॥

* * *

"येनाऽयोजिनवेश्मस्थिर मर्थविधौ विवेकिना जिनवेश्म।
स विजयतां रविकीर्त्तिः कविताश्रित कालिदास भारवि कीर्त्तिः॥"

रविकीर्त्ति के समय भारवि का नाम भी दूर २ प्रसिद्ध था। पुराने समय में, जब न रेल थी न तार था, न प्रेस थे, न डाकख़ाना था-किसी कवि की कविता के प्रचार तथा उस की कीर्त्ति के विस्तार में कितना अधिक समय लगता होगा। भारतवर्ष कोई छोटा मोटा देश तो है ही नहीं। कहां काश्मीर कहां कन्या कुमारी-फिर बीच में विन्धाचल। यदि भारवि का समय रविकीर्त्ति से ३०० वर्ष पूर्व माना जावे तथा भारवि और कालिदास की शैलियों को देख कर कालिदास को सुवन्धु और भारवि से पुनः ३०० वर्ष पूर्व ठहराया जावे तो कालिदास फिर उसी समय में जा पहुँचते हैं।

(ङ) एक पक्ष और शेष है। 'दि एज औफ़ शंकर' के कर्त्ता शंकराचार्य का जन्म २२०० वर्ष पूर्व स्वीकार करते हैं। इस कल्पना को स्वीकार कर के नाटक तथा काव्यों के बनाने वाले कालिदास पृथक् २ मानने पड़ते हैं। हमारी सम्मति में शंकर का आविर्भाव काल २२०० वर्ष पूर्व न होकर नवीं सदी ही ठीक बैठता है। इस में निम्न युक्तियां हैं। (१) २२०० वर्ष पूर्व शंकराचार्य आये और बौद्धधर्म का उच्छेद कर गये तो बौद्धों का जो प्रभाव हर्षवर्धन तथा पुलिकेशी के समय छठी सदी में दीखता है वह कहां से आया तथा उसका संहार किसने किया। (२) शंकर 'मन्दार—सौरभ' * के कर्त्ता के अनुसार भी शंकर

* "प्रावृत निष्य शरदा मतियातवत्या मेकादशाधिक शतोनचतुः सहस्र्यां ॥

नवीं सदी में ही हुवे। (३) नवीं शताब्दी से पूर्व के काव्यों में शंकराचार्य के प्रचारित नवीन वेदान्त का गन्ध भी नहीं मिलता। यह निर्विवाद है कि शंकर के नवीन वेदान्त का प्रचार हो जाने पर लोगों की रुचि कर्मकाण्ड द्वारा स्वर्ग प्राप्ति से हट कर ज्ञानद्वारा मोक्ष प्राप्त करने में प्रवृत्त हो गई। साथ ही शंकराचार्य की प्रतिभा ने विद्वानों के हृदय तथा मस्तिष्क पर ऐसा अधिकार जमा लिया कि वे योग, सांख्य आदि से विरक्त से ही हो गये। इस ज़माने में दर्शन-शास्त्र का विकास केवल दो ही शाखाओं में हुआ। द्वैत के पक्षपाती न्यायशास्त्र के परिष्कार में लग गये तथा अद्वैतभक्तों ने वेदान्त को पल्लवित किया। सांख्य योग आदि लोगों के हृदयों से उतर से गये। अब भी इन का पठन पाठन अवश्य होता है परन्तु ये किसी सम्प्रदाय की पूंजी नहीं माने जाते। किन्तु नवीं शताब्दी से पूर्व के साहित्य पर दृष्टि डालने से प्रतीत होता है कि उस समय के लोग कर्म-काण्ड में बड़ी श्रद्धा रखते थे। कालिदास, बाणभट्ट, माघ, मुरारी आदि सभी कवियों के ग्रन्थों में यज्ञों का प्रसंग पुनः पुनः आता है। उपमा आदि के रूप में ये कवि सांख्य आदि दर्शनों के सिद्धान्तों को अधिक ग्रथित करते हैं, शंकर के मायावाद का कहीं पता नहीं चलता।

तुम क्या जानो ?

(श्री पं० वंशीधर जी विद्यालङ्कार)

[१]

मैं तुम को कैसी आँखों से, देखा करती प्यारे! मेरे!
उस निर्निमेष उत्सुकता को, तुम क्या जानो—तुम क्या जानो॥

[२]

किन शब्दों में किन भावों में, किन व्याकुलता के गानों में।
करती हूं याद तुम्हारे को , तुम क्या जानो—तुम क्या जानो॥

[३]

तुम आते हो 'औ' जाते हो, अपना वह रूप दिखाते हो।
मुझ पर जो वज्र गिराते हो, तुम क्या जानो—तुम क्या जानो॥

[४]

किन रँग भरी आशाओं की, रेखाओं में चित्रित करती।
बीती सुखमय उन स्मृतियों को, तुम क्या जानो—तुम क्या जानो॥

यह कविता मात्रांत तुक में लिखी गई है—लेखक।

"दुःख का पहाड़"

(धीरेन्द्र)

मैं आराम कुरसी पर बैठा हुआ अपने अस्पष्ट भविष्य पर कुछ वि-चार कर रहा था। इतने में ही मुझे नींद आ गई और मैंने एक अद्भुत स्वप्न देखा।

विधाता ने अपने नौकर को कहा कि तुम दुनियाँ में जा कर यह ढंढोरा पीट दो कि "सब लोग अपने २ दुःखों की गठरियाँ बांध कर उन का इस मैदान में ढेर लगा दें"। मैं उस मैदान के एक सिरे पर खड़े हो कर सब दृश्य देखने लगा। सब लोग इस ढंढोरे को सुन कर खुश हो गए, और जल्दी २ अपने २ दुःखों की गठरियाँ बांधने लगे। मैंने देखा कि एक 'कल्पना देवी' नाम की स्त्री लोगों को उन की गठरियां बांधने में मदद दे रही थी। उस के पास एक दर्पण था जिसे वह प्रत्येक मनुष्य की पोटली के आगे रख देती थी। दर्पण में गठरी उस के वास्तविक परिमाण से बड़ी दीखती थी इस लिए जो आदमी उस में अपनी गठरी देखता था वह खूब खुश होता था, और सोचता था कि आहा! आज मैं दुःख के इतने बड़े बोझ से मुक्त हो जाऊंगा।

सब लोग अपनी २ गठरियां उस ढेर में डालने लगे। मैंने देखा कि एक आदमी बगल में एक छोटी सी पोटली दबाकर लाया और चुपके से ढेर में डाल गया। मुझे मालूम हुआ कि उस में दरिद्रता लपेटी हुई थी। एक दूसरा आदमी अपनी स्त्री को ही गठरी में बांध कर डाल-गया, और इसी प्रकार एक स्त्री अपने पति को ढेर में पटक गई। शारी-रिक दुःखों को डालने वाले लोग भी कम नहीं थे। एक अपने कुबड़े-पन को डाल गया, दूसरा अपनी चपटी नाक की पुड़िया बांध कर रख गया, तीसरा अपनी कांणी आंख निकाल कर फेंक गया। एक आदमी अपने दोनों पैर काट कर डाल गया। मुझे यह देख कर बड़ा अचरज हुआ कि क्या इसे पैरों के कारण इतना अधिक दुःख है। पूछने पर पता चला कि इसके पैर धड़ की अपेक्षा बहुत अधिक लम्बे हैं। इस प्रकार सब

लोग अपने २ दुःखों की गठरियां बांध कर डाल गये। जिसे जिस प्रकार का दुःख था वह उसे उसी प्रकार उठा कर रख गया। एक मनुष्य बहुत दिनों से गठिया से पीड़ित था उस ने गठिया की पोटली बांध कर डाल दी। यह सब दृश्य मैं खूब गौर से देख रहा था-परन्तु मैंने कोई भी मनुष्य अपने पाप या मूर्खता की गठरी बांध कर लाते हुए नहीं देखा। इतने में एक युवा आदमी, जो विषय भोग के कारण वृद्ध मालूम हो रहा था, दूर से आता हुआ दिखाई दिया। हाथ में एक सोटी तथा एक रूमाल था। मैं सोच रहा था कि शायद यह अपने पापों की गठरी बांध कर यहां रख जायगा, परन्तु मैंने देखा कि वह पाप के बदले में पाप की स्मृति को रूमाल में बांध कर झाड़ गया।

इतने में 'कल्पनादेवी' ने मेरे सामने दर्पण रख कर मुझ से पूछा कि "क्या आप को भी इस ढेर में कुछ डालना है"? मुझे अपना चपटा और चौड़ा चेहरा पहले ही अच्छा नहीं लगता था। शीशे में तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मानो वह एक गज़ चौड़ा है। इस लिए मैंने कहा कि "हां देवी, मुझे यह मेरा रावण जैसा मुख अच्छा नहीं लगता, यदि मैं इसे ढेर में डाल दूं तो अच्छा हो"-यह कह कर मैंने भी अपनी मुखाकृति ढेर में डाल दी।

मेरे पास एक लम्बे मुखवाला आदमी खड़ा था, उस ने भी मेरी देखा-देखी अपना लम्बा मुख ढेर में फेंक दिया। हम सब लोग खड़े हुए यह सारा दृश्य देख रहे थे। इतने में विधाता की तरफ़ से यह घोषणा हुई कि "इस ढेर में सब प्रकार की वस्तुएं हैं, यह कल्पनादेवी प्रत्येक वस्तु की पुड़िया बांध कर तुम्हारे पास रखती है, इन में से एक एक पुड़िया सब लोग उठा लो"। सब ने इस घोषणा के अनुसार काम करना प्रारम्भ कर दिया। एक बुड्ढा उदरव्याधि छोड़ गया था, उस के पास पैसा तो बहुत अधिक था, परन्तु कोई पुत्र नहीं था। इस लिए उस के भाग्य में एक पुत्र की पुड़िया आई। परन्तु पन्द्रह मिनट में ही इस लड़के ने बुड्ढे की दाढी पकड़ कर उस के रहे सहे दांत उखेड़ दिए।

एक डाकिये को प्रतिदिन १२ कोस चलना पड़ता था, उस ने कुरसी पर बैठे रहने की नौकरी मांगी थी। उस के हिस्से कुरसी की नौकरी तथा गठिये की पुड़िया आई। जो आदमी दरिद्रता रख गया था, उस के हिस्से

में रुपयों का ढेर और बीमारी की पुड़िया आई। जो भूख पीड़ा रख गया था उस के हिस्से में अजीर्ण आया। पति को पटक जाने वाली स्त्री के भाग में वैधव्य तथा अन्न पीड़ा आई, और स्त्री को फेंक जाने वाले पति के हिस्से में स्त्री-शून्य घर के वर्त्तन और चूल्हा आए।

अब मेरी मुखाकृति की क्या दशा हुई यह भी जानने योग्य है। मेरे निकटस्थ आदमी के हिस्से में चपटा और चौड़ा चेहरा आ गया। मैं यह देख कर खिल खिला उठा, और वह विचारा अपना सा मुंह लिये हुए खड़ा रहा। इतने में मेरी बारी भी आगई। मेरे हिस्से में लम्बा मुंह तथा लम्बी नाक की पुड़िया आई।

हम सब सोचते थे कि इस प्रकार हम दुःखों में से छूट जायेंगे, परन्तु पुराने दुखों में से निकल कर नए दुःखों में पड़ गए। नवीन दुःखों को सहन करने की आदत नहीं होने के कारण हमें पहले से भी अधिक दुःख मालूम पड़ने लगा। यह देख कर विधाता को हमारे ऊपर रहम आया। उस ने घोषणा की कि "जिस की इच्छा हो वह नये दुःखों को रख कर अपने पुराने दुःख उठा ले जावे"। यह सुन कर हम खूब खुश हुए और अपने २ नए दुःखों को उस ढेर में डाल कर पुराने दुःख उठाने लगे। इतने अनुभव के अनन्तर प्रभु ने हम लोगों पर कृपा की और हमारे पास एक देवी को भेजा जिस का नाम 'प्रज्ञा' था। इसने हमारी आंखों में ऐसा अद्भुत तेज भर दिया, कि वह दुःख का पहाड़ एक दम छोटा हो गया और प्रत्येक मनुष्य को अपना दुःख किस प्रकार सहन करना चाहिए इस की चावी मिल गई। बस, इतने में ही मेरी आंख खुल गई।

सम्पादकीय

"गुरुकुल-रजत-जयन्ती"

गुरुकुल काङ्गड़ी का वार्षिकोत्सव २-३-४-५ अप्रैल को धूम-धाम के साथ मनाया गया। हज़ारों की संख्या में आर्य जनता ने एकत्रित हो कर गुरुकुल के प्रति अपने प्रेम का परिचय दिया। देश तथा आर्यसमाज के अनेक प्रसिद्ध २ नेताओं ने उत्सव को सफल बनाने में पूरा हिस्सा लिया। चार दिन के मेले ने आर्य जनता में नवीन जीवन का सञ्चार कर दिया और सभी लोग आगामी वर्ष के लिये, प्राचीन आर्य सभ्यता का पुनरुज्जीवन करने वाले गुरुकुल-आश्रम से कोई न कोई सन्देस लेकर ही घरों को लौटे।

गुरुकुल के उत्सव के समय गुरुकुल के स्नातकों ने अपने मण्डल में यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि क्यों कि अगले साल गुरुकुल को स्थापित हुए २५ वर्ष व्यतीत होते हैं इस लिये अगले साल गुरुकुल की सिलवर जुबिली (रजत-जयन्ती) मनायी जाय और उसके लिये अभी से प्रयत्न किया जाय। यह प्रस्ताव गुरुकुल की स्वामिनी प्रतिनिधि सभा की अन्तरङ्ग सभा में पेश हुआ और सर्व सम्मति से इसे स्वीकृत किया गया। अगले दिन हज़ारों आर्य नर-नारियों की उपस्थिति में म० कृष्ण जी, सम्पादक, 'प्रताप' तथा 'प्रकाश' और प्रो० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार ने रजत-जयन्ती मनाये जाने की घोषणा की जिस का जनता ने उत्सुक हृदयों से स्वागत किया। जो महानुभाव गुरुकुल के इस उत्सव में सम्मिलित हुए थे वे अगले साल के लिये आशाओं के समुद्र को हृदयों में बांध कर लौटे हैं और अपने २ ग्रामों, नगरों तथा ज़िलों में गुरुकुल की रजत-जयन्ती मनाने के सन्देस को पहुंचा देने की प्रतिज्ञा कर गये हैं।

गुरुकुल की रजत जयन्ती मनाने का काम केवल आर्यसमाज का ही नहीं, प्रत्युत् सम्पूर्ण भारत वर्ष का है। आर्यसमाज ने गुरुकुल की स्थापना की, उसे पाला पोसा और यौवन तक पहुँचा दिया, परन्तु आर्यसमाज ने गुरुकुल के जातीय स्वरूप में अणु मात्र भी परिवर्त्तन नहीं किया। गुरुकुल पर जितना स्वत्व आर्यसमाज का है, उतना ही आर्य जाति का है। गुरुकुल ने अपनी गोद के लाल देश की सेवा के लिये बखेर २ कर फेंके हैं। इसी लिये गुरुकुल की रजत-जयन्ती मनाने के लिये हम भारत की सम्पूर्ण जनता को निमन्त्रित करते हैं। गुरुकुल के ब्रह्मचारी केवल पञ्जाब से नहीं आते; पञ्जाब के अतिरिक्त युक्त प्रान्त, गुजरात, बम्बई, बिहार, बंगाल, हैदराबाद तथा कुछ अंश तक मद्रास आदि सभी प्रान्तों का यहां प्रवेश दिखाई देता है। इसी लिये गुरुकुल की रजत-जयन्ती मनाने के लिये सब प्रान्तों के नर नारियों से विशेष अनुरोध है। भारत में जितने जातीय शिक्षणालय हैं उन में गुरुकुल का एक खास स्थान

है। जातीय शिक्षण की सफलता दर्शाने का गुरुकुल जीता जागता नमूना है। गुरुकुल ने २५ साल पहले, शिक्षा के जिन सिद्धान्तों को आदर्श के रूप में रखा था उन्हें सर्वत्र स्वीकार किया जा रहा है। सरकारी स्कूलों तथा कालिजों तक में गुरुकुल की आधार शिला में पड़े हुए असूल रचते चले जा रहे हैं। आर्य समाज के लिये यह गौरव की बात है कि उस ने २५ साल तक अपने चलाये हुए परीक्षण को सफल बना कर दिखा दिया है। इस सफलता की खुशी मनाने के लिये ही गुरुकुल की रजत-जयन्ती मनायी जायगी।

रजत-जयन्ती के सम्बन्ध में जनता के सन्मुख समाचार पत्रों द्वारा सूचनाएँ पहुँचती रहेंगी। विस्तृत कार्य-क्रम बनाया जायगा। साल भर में सारा प्रोग्राम निभाना होगा। इतने थोड़े समय में सब काम मुश्किल से ही पूरे हो सकेंगे इस लिये आर्य भाइयों से प्रार्थना है कि वे एक २ पल को मूल्य वाला समझ कर अगले साल की तय्यारी में लग जाँय। गुरुकुल के स्नातक मण्डल की तरफ़ से 'रजत-जयन्ती' के लिये एक उपसमिति बना दी गई है जिसके मन्त्री प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार नियुक्त किये गये हैं। गुरुकुल शिक्षा प्रणाली के प्रेमियों तथा आर्यजनता से प्रार्थना है कि 'जयन्ती' की सफलता तथा उसके कार्य विवरण को मनोरञ्जक एवं उपयोगी बनाने के लिये जो परमार्श देना चाहें वे शीघ्र ही अपने २ विचार गुरुकुल कांगड़ी लिख भेजें।

बौद्ध और अमेरिका

'दि यंग ईस्ट' पत्र में देटेनैब महोदय ने यह लिखा है कि अमेरिका का बहुत पहले बौद्धों ने पता लगाया था। इन्हीं महोदय के लेख में से अप्रैल के मौडर्न रिव्यू ने निम्न उद्धरण दिया है:—

"पैलेन्की (Palenque) स्थान में बुद्ध भगवान् की एक प्रतिमा पायी गई है जिस में वे दो शेरों पर, जो पीठ से पीठ मिलाए हुए हैं, बैठे हैं। इस प्रकार की प्रतिमाएँ भारत, चीन या जापान में ही पायी जाती हैं। कैम्पीचि (Campeachy) में एक प्रतिमा मिली है जो बिल्कुल वस्त्र-धारी बौद्ध-भिक्षु की है। एज़टेक्स (Aztecs) लोगों में हाथी की शक्ल के देवता की पूजा होती थी—यह देवता भारतीयों के गणेश की प्रति कृति मालूम पड़ता है। पेलेन्की में एक पत्थर की बौद्ध-वेदी भी पायी गई है। उक्समौल (Uxmol) तथा पैलेन्की के मन्दिरों के झरोखों में बुद्ध भगवान् के ऐसे चित्र उपलब्ध हुए हैं जिन के चेहरे के चारों तरफ़ प्रकाश का घेरा है और जो चीन, जापान तथा भारत में प्राप्त बुद्ध भगवान् के चित्रों से सर्वथा मिलते हैं। एशिया में बुद्ध का चिन्ह हाथी को समझा जाता रहा है और पैलेन्की के मन्दिरों की दीवारों पर हाथी का सिर खुदा हुआ है। इस प्रकरण में यह स्मरण रखना चाहिये कि अमेरिका में हाथी नहीं पाया जाता। पैरिस के 'एन्थोग्रैफ़िकल सोसाइटीज़ म्यूज़ियम' में मैक्सिको से लाकर बुद्ध भगवान् की समाधिस्थावस्था में एक प्रतिमा रखी हुई है जिसके दोनों तरफ़ किसी कारीगर ने, जो चीनी भाषा नहीं जानता था, चीनी भाषा के अनुकरण में, उस पर बुद्ध का नाम खोदने का प्रयत्न किया है। उक्समल के मन्दिर की दीवारों पर ज्योतिष सम्बन्धी कुछ प्रतिमाएँ तथा चित्र मिले हैं जिन में एक दैत्य की शक्ल भी बनी है जो सूर्य

को निगल कर ग्रहण आदि लाने में निमित्त बनता है। यह चीनी विचार है। पैलेङ्की और मिटला (Mitla) में जो मन्दिर तथा प्रासाद पाये गये हैं वे बौद्धों की एशिया की इमारतों की प्रतिकृतियें मात्र हैं और उत्तरीय चीन, मङ्गोलिया तथा जावा के भवनों से बहुत मेल खाती हैं। पैलेन्की में बौद्धों का पवित्र चिन्ह स्वस्तिका, भी मिला है। मैक्सिको के भिन्न २ स्थानों के मन्दिरों की दीवारों में जो सजावट है वह भारत तथा चीन की इमारतों के अलंकारों से बिल्कुल मिलती है।"

कलकत्ते का दंगा

२ अप्रैल को आर्यसमाज का जलूस कलकत्ता शहर में निकला। बाजा बजाने की इजाज़त पहले मिल चुकी थी। किसी मस्जिद के सामने किसी मुसलमान ने बाजा बन्द करने को कहा। बस, हिन्दु-मुसलमानों का दङ्गा हो गया। हफ़ते भर तक शहर में लाठियां चलती रहीं; ईंटें फेंकी जाती रहीं; छुरे और बछियां चमकीं; खून की धाराएँ भी बहीं। ८ अप्रैल तक ४१ आदमी मारे गये, ३३१ घायल हुए और ५१५ पकड़े गये। मुसलमानों ने शरारत की तो हिन्दुओं ने कसर नहीं छोड़ी। देश के शरीर को भीतर ही भीतर सड़ा देने वाला फोड़ा सारे गन्द समेत एकदम फूट पड़ा।

ऐसी घटनाएँ बढ़ती ही जा रही हैं। सरकार की तरफ़ से ऐसे उपद्रवों की तरफ़ संकेत करके भारत को स्वराज्य के अयोग्य सिद्ध किये जाने का प्रयत्न किया जाता है। निस्सन्देह, जब तक देश में इतनी फूट है तब तक अपने हाथों में शासन-व्यवस्था लेने से बन भी क्या सकता है? परन्तु इस फूट को हटाने में भारत सरकार की तरफ़ से क्या उद्योग हुवा या हो रहा है? भारतवर्ष में पहले ही झगड़े काफ़ी थे। धर्म के झगड़ों के साथ २ रीति-रिवाजों का अलग २ होना भी कई बार झगड़े की जड़ बन जाता था। इन झगड़ों की चिनगारियों से कहीं २ छोटी २ ज्वाला भी सुलग पड़ती थी। इन चिनगारियों को सुलगा कर ही हमारी सरकार ने, हमारे देश का जातीय-द्वेष में भस्म कर देने वाली विकराल अग्नि को प्रज्वलित कर दिया है। हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अलग २ अधिकार देकर, इन दोनों के विद्यमान धार्मिक भेदभावों को राजनैतिक स्वत्वों की विषमता के कारण अधिक बढ़ा कर सरकार ने जहां अपनी कूट नीति का परिचय दिया है वहां हिन्दुओं तथा मुसलमानों को अपनी २ जातीय स्थिति में भी अत्यन्त निर्बल कर दिया है। इस में सन्देह नहीं कि जाति रूप से जो अधिकार दिये गये हैं उन से फ़ायदा उठाने वाले दो-चार पढ़े-लिखे ही हैं, परन्तु इन्हीं लोगों के स्वार्थ का विष उन की जाति के सम्पूर्ण समुदाय को विषयुक्त बना रहा है। कलकत्ते के से उपद्रवों पर लिखते हुए कई पत्रों ने पुलिस की संख्या बढ़ाने को लिखा है और कईयों ने देश के नेताओं को चेतावनी दी है। परन्तु हमारी सम्मति में यह चेतावनी भारत की सरकार को है, और किसी को नहीं। जब सरकार जानती है कि इस देश में धार्मिक झगड़े पर्याप्त मात्रा में बढ़े हुए हैं तब राजनैतिक अधिकारों को भी झगड़ों की नींव पर ही खड़े करने का इसके सिवा क्या अभिप्राय

हो सकता है कि इन उपद्रवों का कभी अन्त ही न हो और यह देश स्वतन्त्र होने का कभी स्वप्न भी न देख सके। राजनैतिक जीवन में जब तक जातीय-विद्वेष का घूंट मिलाया जायगा तब तक 'एकता' का विचार, दूर का स्वप्न है और कलकत्ते के हत्याकाण्डों को सरकार की तरफ़ से रोकने का प्रयत्न आँखें खोले हुओं को धोखा देना है। सरकार ने 'जाति-गत-प्रतिनिधित्व' और 'जाति-अधिकार' दे २ कर देश में 'भिन्न भिन्न जातीयत्व' के भाव को खब बढ़ाया है और इसी के भरोसे पर यह अपने दिन काट रही है। क्या देश की भलाई को सन्मुख रखते हुए हिन्दु और मुसलमान कुछ सालों के लिये यह नहीं भूल सकते कि किस के मुख में कितनी जूठ है? आखिर ये लड़ाइयां, ये दंगे, ये उपद्रव, टुकड़ों के लिये ही तो हैं! जब तक जूठ का और टुकड़ों का ख्याल रहेगा तब तक यह देश भी कुत्तों की तरह दुत्कारा जायगा और तब तक सूखी हड्डी के लिये कुत्तों की लड़ाई को देख कर बहुत से 'टेबलों पर खाने वाले' तमाशा देखा ही करेंगे।

—:*:—

स्नातकमण्डल का वार्षिक अधिवेशन

स्नातक-मण्डल का वार्षिक अधिवेशन गुरुकुलोत्सव के अवसर पर २२,२४ चैत्र (२,४ एप्रिल) को मायापुर वाटिका में हुआ। पहले दिन पं० इन्द्र जी और दूसरे दिन पं० विश्वनाथ जी सामयिक प्रधान चुने गये। एवं, पहले दिन की उपस्थिति ५२ और दूसरे दिन की ४७ थी।

(१) गतवर्ष की कार्यवाही सुनाई गई और स्वीकृत हुई।

(२) स्ना० वीरेश्वर जी का प्रस्ताव प्रस्तुत हुआ कि अग्रिम गुरुकुलोत्सव पर 'गुरुकुल-रजतजयन्ती' मनायी जावे, जोकि सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। स्नातक-मण्डल की ओर से उसी दिन यह प्रस्ताव आर्यप्रतिनिधि-सभा पंजाब की अन्तरंग सभा में प्रस्तुत किया जिसे कि उस सभा ने भी सहर्ष स्वीकृत कर लिया।

(३) निश्चय हुआ कि इस वर्ष दीक्षान्त-संस्कार के अवसर पर अभिनव स्नातक भाइयों का स्वागत स्नातक सत्यव्रत जी स्नातक-मण्डल की ओर से करें।

(४) 'अलङ्कार-पुस्तकभण्डार' खोलने के बारे में स्ना० विद्याधर जी का प्रस्ताव पेश हुआ जो कि अस्वीकृत हुआ।

(५) गुरुकुल के स्थान के बारे में निश्चय हुआ कि "क्यों कि गुरुकुल के स्थान के सम्बन्ध में आर्यपुरुषों का लोकमत अभी तक भी पूरी तरह सभा के निश्चय के साथ नहीं हुआ है, इस लिए अन्तरंग सभा से प्रार्थना की जाती है कि वह इस विषय को पुनर्विचार के लिए आर्यप्रतिनिधि सभा पंजाब के आगे प्रस्तुत करने की कृपा करे।" इस के विरोध में केवल एक सम्मति थी।

(६) गुरुकुल-रजत-जयन्ती को भली प्रकार मनाने के लिए सात स्नातकों की एक गुरुकुल रजत-जयन्ती

उपसभा बनायी गयी, जो कि अन्तरंग सभा (आर्यप्रतिनिधि सभा) तथा श्री मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी के साथ मिल कर रजतजयन्ती के लिये आन्दोलन और तय्यारी करेगी। इस उपसभा के निम्नलिखित सात सभ्य हैं—स्ना० इन्द्र जी, स्नातक चन्द्रमणि जी, स्ना० विश्वनाथ जी, स्ना० सत्यव्रत जी, स्ना० सत्यदेव जी बर्धा, स्ना० प्रियव्रत जी, स्ना० ब्रह्मानन्द जी। इस उपसभा के मंत्री स्नातक सत्यव्रत जी नियत हुए।

(७) निश्चय हुआ कि गुरुकुल-रजतजयन्ती के अवसर पर स्नातक-मण्डल की ओर से कुलपति श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज को ३० सहस्र रुपयों की एक थैली भेंट की जावे, जिस से वे अपनी इच्छानुसार गुरुकुल में एक गद्दी स्थिर करेंगे, जिस गद्दी का नाम 'स्वामीश्रद्धानन्दगद्दी' होगा।

(८) निश्चय हुआ कि स्नातक-मण्डल के प्रवेश-पत्र छपवाकर स्नातकों से वह फार्म भरवा लिया जावे और वार्षिक चन्दा १) रखा जावे।

(९) मंत्री, उपमंत्री और अन्तरङ्ग सभा का चुनाव पूर्ववत् रहा। तदनुसार मंत्री—स्ना० चन्द्रमणि जी, और उपमंत्री—स्ना० वागीश्वर जी हैं। इन के अतिरिक्त अन्तरंग सभा के सात सभासद् निम्नलिखित हैं—स्ना० इन्द्र जी स्ना० प्रियव्रत जी, स्ना० सत्यव्रत जी, स्नातक भीमसेन जी, स्ना० बुद्धदेव जी, स्नातक देवदत्त जी अमृतसरी और स्ना० सत्यकेतु जी।

चन्द्रमणि
मंत्री स्नातकमण्डल

गुरुकुल--समाचार

ऋतु— आज कल गुरुकुल में ऋतु बहुत उत्तम है बसन्त की पूरी बहार है। सब जङ्गल हरे हो गये हैं। टेसू के फूलों से प्राकृतिक शोभा और भी अधिक बढ़ गई है। अब मास के अन्त में गर्मी बढ़नी शुरू हो गई। फिर भी ऋतु पूर्णरूप से मनोहर है।

प्रतिष्ठित अतिथि—गुरुकुल जन्मोत्सव से दो दिन पूर्व कुल में श्री सेठ जमनालाल जी बजाज पधारे। बैण्ड द्वारा गुरुकुल के मुख्य द्वार पर आप का स्वागत किया गया। उसके बाद महाविद्यालय आश्रम में आपको अभिनन्दन-पत्र दिया गया। आप गुरुकुल कांगड़ी में तीन दिन तक ठहरे, और गुरुकुल के सब कार्यों का बड़े ध्यान से अवलोकन किया। जन्मोत्सव में भी आप सम्मिलित हुवे। गुरुकुल-वार्षिकोत्सव तक आप हारद्वार में ठहरे रहे और अनेक बार वार्षिकोत्सव में भी पधारने की कृपा करते रहे। श्री सेठ जमनालाल जी के सिवाय महाराष्ट्र के प्रसिद्ध ऐतिहासिक विद्वान् श्रीयुत चिन्तामणि विनायक वैद्य भी जन्मोत्सव से कुछ पहले ही गुरुकुल पधारे। वार्षिकोत्सव के अन्त तक आप गुरुकुल ही रहे। आप की गम्भीर विद्वत्ता से कुलवासियों ने बहुत लाभ उठाया। वार्षिकोत्सव में सम्मिलित होने के लिए प्रसिद्ध देशभक्त बाबू पुरुषोत्तमदास टण्डन जी भी पधारे थे।

वे भी एक दिन गुरुकुल के अवलोकन के लिए गये। इस के सिवाय अन्य प्रतिष्ठित अतिथियों में स्वामी कृष्णानन्द जी प्रधान मन्त्री सिन्ध प्रान्तीय कांग्रेस कमेटी, पं० सत्यदेव जी विद्यालंकार सम्पादक मारवाड़ी, और पं० नरेन्द्रनाथ मिश्र का नाम विशेषतः उल्लेखनीय है।

श्री कुलपति जी—२६ एप्रिल को गुरुकुल में श्री पूज्यपाद स्वामी श्रद्धानन्द जी महाराज पधारे। आपका स्वागत करने के लिये सब ब्रह्मचारी स्टेशन पर गये हुवे थे। गुरुकुल भूमि में प्रवेश करने पर गुरुकुल के बैण्ड ने आप का स्वागत किया। कुलपति जी जन्मोत्सव के अवसर पर गुरुकुल ही रहे और उसके बाद वार्षिकोत्सव में सम्मलित होने के लिये मायापुर चले गये।

जन्मोत्सव—२७ एप्रिल को २४ वां जन्मोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया। प्रातः काल सब ब्रह्मचारी और उपाध्याय अपने अपने नियत वेष में यज्ञशाला में एकत्रित हुवे और बृहद् हवन किया गया। फिर प्रातराश कर के सब कुलवासी जन्मोत्सव मण्डप में बैण्ड के साथ पहुँचे। प्रारम्भ में कुलवन्दना गाई गई। फिर पूज्यपाद कुलपति जी ने गुरुकुलीय पताका का उद्घाटन किया। कुलवासियों की एक समिति गुरुकुल पताका का निर्माण करने के लिये नियत की गई थी। इस समिति ने सर्वसम्मति से एक बहुत ही भावपूर्ण पताका तैयार की थी। श्री कुलपति जी ने इसका उद्घाटन करते हुवे एक मार्मिक भाषण दिया, जिस में कि पताका के महत्त्व की ओर सब कुलवासियों का ध्यान आकर्षित किया। इसके बाद सभा की साधारण कार्यवाही प्रारम्भ हुई। अनेक ब्रह्मचारी उपाध्यायों तथा अन्य प्रतिष्ठित सज्जनों के व्याख्यान हुवे। अनेक स्नातक इसी अवसर पर सम्मलित होने के लिये बाहर से पधारे थे। जिस में पं० सत्यदेव जी विद्यालंकार सम्पादक मारवाड़ी नागपुर, पं० दीनदयालु जी सिद्धान्तालंकार सत्यवादी कार्यालय लाहौर, पं० विद्याधर जी विद्यालंकार आचार्य गुरुकुल वेटसोहनी, पं० मनुदेव जी विद्यालंकार, पं० अर्जुनदेव जी विद्यालंकार, पं० सत्यकाम जी विद्यालंकार, पं० सत्यानन्द जी विद्यालङ्कार और पं० सत्यदेव जी विद्यालङ्कार कलकत्ता विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। श्री सेठ जमनालाल जी बजाज तथा श्री पं० चिन्तामणि जी विनायक वैद्य भी इस सभा में सम्मिलित थे। महात्मा गान्धी, लाला लाजपतराय आदि देश के नेताओं के सन्देश पढ़ कर सुनाये गये। अन्त में श्री कुलपति जी का उपदेश हुवा। कुलगीत के साथ सभा समाप्त हुई। तदन्तर भण्डार में सब कुलवासियों का सम्मिलित सहभोज हुआ। रात के समय सब कुलबन्धुओं की कुलपति जी की अध्यक्षता में पारिवारिक सभा हुई। बड़े प्रेम के साथ सब कुलबन्धुओं ने कुल के विषय में अपने कर्त्तव्यों आदि पर विचार किया। इस तरह बड़े आनन्द के साथ जन्मोत्सव समाप्त हुआ। वार्षिकोत्सव के समीप होने के

कारण इस वर्ष जन्मोत्सव में बाहर से अन्य भी बहुत से दर्शक सम्मलित हो सके।

परीक्षायें—गुरुकुल विश्वविद्यालय की वार्षिक परीक्षायें समाप्त हो गई हैं।

महाविद्यालय का परिणाम अभी नहीं निकला है। स्नातक परीक्षा का परिणाम निकल चुका है। सब विद्यार्थी सब विषयों में उत्तीर्ण हैं।

स्वास्थ्य—वैसे तो गुरुकुल में ऋतु मनोहर है, परन्तु इस मास ब्रह्मचारियों का स्वास्थ्य बहुत अच्छा नहीं रहा। ब्र० गुरुदेव को चेचक निकल आई थी, परन्तु अब सर्वथा आराम है। पं० सत्यकाम जी विद्यालंकार को भी, जो जन्मोत्सव के लिये पधारे थे, चेचक निकल आई थी, उन्हें भी अब सर्वथा आराम है। पं० जनकदेव जी विद्यालंकार, देहली में अपना आवश्यक कार्य छोड़ कर इन रोगियों की शुश्रूषा में लगे रहे। आप रोगियों की सेवा में विशेष प्रेम रखते हैं। इसी कार्य पर उन्हें ब्रह्मचारी अवस्था में पदक भी प्राप्त हो चुके हैं। इस सेवा के लिये सारा कुल उनका बहुत कृतज्ञ है।

शिक्षक वर्ग—गुरुकुल के शिक्षकवर्ग में कुछ परिवर्तन हुवा है। पं० हरिशरण जी सिद्धान्तालंकार मुख्याध्यापक गुरुकुल मायापुर और पं० विक्रमादित्य जी विद्यालंकार, ये दोनों गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ चले गये हैं। आप दोनों ने मायापुर गुरुकुल में जो सेवायें की हैं, वे अद्वितीय हैं। आशा है कि आप दोनों गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ में भी शिक्षा तथा व्यवस्था को उच्च कोटि तक पहुंचाने में पूर्णतया समर्थ होंगे। पं० हरिशरण जी के स्थान पर गुरुकुल मायापुर के मुख्याध्यापक मा० मुक्तराम जी, लाइफ मैम्बर गुरुकुल कांगड़ी नियत किये गये हैं। मास्टर जी का सेवाभाव आदर्श है। हमें विश्वास है कि आपकी अध्यक्षता में गुरुकुल मायापुर दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति करेगा। पं० विक्रमादित्य जी के स्थान पर पं० धर्मदेव जी सिद्धान्तालंकार नियत किये गये हैं। आप बड़े निःस्वार्थ और धर्म-प्रेमी नवयुवक हैं। हमें आपसे बहुत आशायें हैं। गुरुकुल मायापुर को पंडित जी जैसे निःस्वार्थ सेवकों की उपलब्धि पर हम बधाई देते हैं।

गुरुकुल के रसायनाध्यापक प्रो० इन्द्रसेन जी त्यागपत्र देकर चले गये हैं। उनके स्थान पर प्रो० देवमित्र जी एम.एस.सी. रसायनाध्यापक नियत हुवे हैं। गुरुकुल के उपाचार्य प्रो० देवशर्मा जी विद्यालंकार एक साल के लिये अवकाश पर जा रहे हैं। उनके स्थान पर प्रो० विश्वनाथ जी विद्यालंकार नियत हुवे हैं। आप पहले भी गुरुकुल में वेद, दर्शन और रसायन का अध्यापन करते रहे हैं और इस समय आर्यसमाज के प्रमुख वैदिक विद्वानों में से एक हैं। आप के पुनः गुरुकुल पधारने से कुल की बहुत उन्नति हो सकेगी। हम प्रोफ़ेसर साहब का गुरुकुल में सादर स्वागत करते हैं।

सभायें—गुरुकुलीय सभाओं के नवीन निर्वाचन हो गये हैं। साहित्यपरिषद्

के मन्त्री ब्र० कृष्णदत्त जी और वाग्व-र्धिनी सभा के मन्त्री ब्र० विष्णुदत्त जी निर्वाचित हुवे हैं।

गुरुकुल-वार्षिकोत्सव

गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी का २४ वां वार्षिक महोत्सव २ एप्रिल से ५ एप्रिल तक बड़े समारोह के साथ मायापुर वाटिका में मनाया गया। यात्रियों के ठहरने के लिये वाटिका में ही फूस के छप्परों और छोलदारियों का प्रबन्ध था। तीन चार दिन पहले से ही यात्री आने प्रारम्भ हो गये थे। अनुमान किया जाता है कि महोत्सव में सम्मिलित होने के लिये १० हज़ार के लगभग नरनारी बाहर से पधारे थे।

चार दिन तक उत्सव की खूब धूम-धाम रही। श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी, प्रो० रामदेव जी, पं० बुद्धदेव जी विद्या-लंकार, पं० इन्द्र जी विद्यावाचस्पति, पं० सत्यव्रत जी सिद्धान्तालङ्कार, पं० विश्वनाथ जी विद्यालङ्कार, पं देवेश्वर जी सिद्धान्तालंकार, पं० धर्मेन्द्रनाथ जी एम. ए., पं० चमूपति जी एम.ए. आदि प्रसिद्ध व्याख्याताओं और उप-देशकों के उत्तम उत्तम व्याख्यान हुवे। उत्सव के साथ में अनेक सम्मेलन भी हुवे। सरस्वती सम्मेलन की प्रथम बैठक में पं० सत्यकेतु जी विद्यालंकार ने 'अथर्ववेद में मणि शब्द का अभि-प्राय' विषय पर निबन्ध पढ़ा। वेदों के प्रसिद्ध विद्वान् पं० विश्वनाथ जी विद्यालंकार ने सभापति का आसन ग्रहण किया था। सरस्वती सम्मेलन की दूसरी बैठक महाराष्ट्र के प्रसिद्ध ऐतिहासिक श्री पं० चिन्तामणि जी विनायक वैद्य की अध्यक्षता में हुई। इस में पं० भीमसेन जी विद्यालंकार ने 'मुसलमान काल में हिन्दू-मुसलिम समस्या' विषय पर निबन्ध पढ़ा। आ-युर्वेद सम्मेलन लाहोर के मशहूर वैद्य पं० नरेन्द्रनाथ जी मित्र के सभापतित्व में हुवा। पं० अत्रिदेव जी विद्यालंकार ने एलोपैथी और आयुर्वेद' विषय पर निबन्ध पढ़ा। निबन्ध उच्चकोटि के थे।

प्रसिद्ध देशभक्त सेठ जमनालाल जी बजाज और बाबू पुरुषोत्तमदास जी टण्डन भी इस महोत्सव में सम्मि-लित हुवे थे। ६ एप्रिल को सेठ जम-नालाल जी बजाज के सभापतित्व में गुरुकुलीय ग्रामसुधार—समिति की तरफ से 'ग्रामसुधार सम्मेलन किया गया। श्रीयुत टण्डन जी के सभापतित्व में गुरुकुल विश्व-विद्यालय के त्रिविध महाविद्यालयों के प्रतिनिधियों का 'भारतवर्ष को पाश्चात्य सभ्यता का अनुकरण करना चाहिये वा नहीं' इस विषय पर वाद-विवाद हुवा। श्रीयुत टण्डन जी का अध्यक्षपद से दिया हुवा व्याख्यान बहुत ही योग्यतापूर्ण और शिक्षाप्रद था।

४ एप्रिल को नवीनस्नातकों का दीक्षान्त संस्कार हुवा। इस वर्ष १३ विद्यार्थी स्नातक हुवे। इन में से ८ विद्या-लङ्कार, १ आयुर्वेदालङ्कार, १ सिद्धान्ता-लङ्कार और ३ वेदालङ्कार बने। श्री. चिन्तामणि विनायक वैद्य ने दीक्षान्त अभिभाषण पढ़ा। इस अभिभाषण के कुछ अंश आगे उद्धृत किये गये हैं। जनता की तरफ से श्रीयुत बा० पुरुषोत्तमदास जी टण्डन ने नवीन

स्नातकों को उपदेश दिया। पुरातन स्नातकों की ओर से पं० सत्यव्रत जी ने नवीन स्नातकों का स्वागत किया, जिस का उत्तर ब्रा० प्रियव्रत जी ने बड़ी योग्यता के साथ दिया। अन्त में श्री कुलपति जी के आशीर्वाद के साथ दीक्षान्त संस्कार समाप्त हुवा।

४ एप्रिल को ही सायंकाल आचार्य रामदेव जी ने गुरुकुल के लिये धन की अपील की। कुल ८६ हजार रुपये एकत्रत हुवे। श्रीयुत सेठ जमनालाल जी बजाज ने अर्थशास्त्र के अध्यापन का स्थिर प्रबन्ध करने के लिये ३० हजार रुपया दान करने की प्रतिज्ञा की।

इस वर्ष कुल ४६ नवीन ब्रह्मचारी प्रविष्ट हुवे। ५ एप्रिल को नवीन ब्रह्मचारियों का वेदारम्भ संस्कार आचार्य रामदेव जी ने करवाया।

दीक्षान्त अभिभाषण

गुरुकुल विश्वविद्यालय के दीक्षान्तसंस्कार के समय महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विद्वान तिलक विद्यापीठ पूना के वाइसचान्सलर पं० चिन्तामणि विनायक वैद्य ने जो अभिभाषण दिया था, उसके कुछ अंश यहां उद्धृत किये जाते हैं—

"श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी, गुरुकुल विश्वविद्यालय के कार्यकर्ताओ तथा ब्रह्मचारियो!

गुरुकुल विश्वविद्यालय के दीक्षान्त-संस्कार के इस पवित्र अवसर पर भाषण करने के लिये निमन्त्रण देकर आपने मेरे प्रति जो सम्मान प्रकट किया है, मैं उसके सर्वथा अयोग्य हूँ। मुझे अनुभव हो रहा है कि इस अवसर पर भाषण करने के लिए उपयुक्त व्यक्ति मैं कदापि नहीं, यह महान् आदर मुझसे योग्य किन्हीं महानुभाव को मिलना चाहिये था। तथापि मैं आप को विश्वास दिलाता हूँ कि आपके इस निमन्त्रण को मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ, क्यों कि जो महत्वपूर्ण कार्य आप सम्पादित कर रहे हैं उसके लिये मेरे दिल में अगाध प्रतिष्ठा है; देश की भावी सन्तान को प्राचीन धर्म और पुरातन संस्कृति के आधार पर जो शिक्षा दे रहे हैं उस में मेरा अटूट विश्वास है। मैं भी वेदों को पूज्य और प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखता हूँ। मैं भी उन्हें ईश्वरीय-ज्ञान मानता हूँ।

मुझे पूरी आशा है कि यह वैदिक-शिक्षा और वेद का विज्ञान जो आप इस विश्वविद्यालय में प्रत्येक विद्यार्थी को देते हैं, उनको सदा के लिए देश के सच्चे सेवक, अपने पूर्व पुरुषों के पद चिन्ह पर चलने वाला और प्राचीन वैदिक धर्म पर प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाला बनाएगा।

दौर्भाग्य से भारतवर्ष में वैदिक स्वाध्याय कुछ परिमित क्षेत्र में ही रह गया है। वैदिक मंत्रों का कण्ठस्थ करने वाले तो बहुत मिल जाते हैं परन्तु मन्त्रों के वास्तविक आशय को जानने वाले इने गिने ही हैं। भारतीय विद्वानों ने वेदों के स्वाध्याय को विवेक की दृष्टि से अभी अभी ही करना आरम्भ किया है। उसका सब श्रेय महर्षि दयानन्द सरस्वती को है जिन्हों ने न केवल आप अन्धविश्वास की खाई से निकल विवेक-दृष्टि से वेद का स्वाध्याय किया, अपितु अपने अनुयायियों में मुख्यतः हिन्दू-जाति में, ईश्वरीय-ज्ञान वेद के प्रति अटूट प्रेम

और प्रतिष्ठा के भाव को पैदा कर दिया है। उनके समय से ही अधिकांश भारतीय विद्वानों ने युक्त और विवेक से वेदों का स्वाध्याय करना आरंभ किया है परन्तु वेदों के सच्चे पण्डितों की संख्या बहुत ही न्यून है। मुझे तो एक ही वेद के विद्वान् का पता है जिनकी विद्वत्ता पाश्चात्य वैदिक विद्वानों के मुकाबले में आ सकता है, उनके पवित्र नाम लोकमान्य तिलक से प्रत्येक भारतीय परिचित है। मुझे विश्वास है कि वेद महाविद्यालय, जो विश्वविद्यालय का एक भाग है, एक समय सम्पूर्ण विश्व के लिए वैदिक स्वाध्याय का केन्द्र बन जायगा। गुरुकुल विश्वविद्यालय के स्नातक प्रो० चन्द्रमणि विद्यालंकार ने यास्क के निरुक्त का जो दो भागों में भाष्य किया है वह विश्वविद्यालय के लिए गौरव का चिन्ह है। मैंने सरसरी तौर पर निरुक्त-भाष्य का अवलोकन किया है। मैं कह सकता हूं कि उन्होंने उस निरुक्त का, जो तीन हजार वर्ष पूर्व से वैदिक मन्त्रों के सत्यार्थ को दिखाने के लिए प्रकाशस्तम्भ का कार्य करता रहा है, इस विषय की सम्पूर्ण जानकारी जमा करके यह ग्रन्थ लिखा है।

वेदों का स्वाध्याय किन विविध प्रणालियों पर हो सकता है इस विषय पर मैं अधिक नहीं कहना चाहता। तथापि मेरा विचार है कि पालिभाषा के ज्ञान के बिना जिसकी आवश्यकता प्रो० चन्द्रमणि जी ने अनुभव की है, वेदों का भाष्य पूर्ण रीति से नहीं हो सकता। ज़िन्दावस्था का अनुशीलन भी वैदिक स्वाध्याय के लिए आवश्यक है।

मुझे यह जान कर हर्ष हुआ कि वेद महाविद्यालय की पाठविधि में यहां चारों वेद, वेदाङ्ग, निरुक्त, व्याकरण, उपनिषद् तथा अन्य धर्मशास्त्रों को भी उचित स्थान दिया गया है, क्योंकि वेदों का स्वाध्याय सर्वतः नहीं किन्तु साधारणतः आश्वलायन वा अन्य प्राचीन भाष्यकारों के पद-चिन्हों चलते हुए ही नहीं हो सकता। वैदिक साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का भी गुरुकुल विश्वविद्यालय की पाठविधि में विशेष स्थान होना स्वाभाविक है। प्राचीन ऋषियों और दर्शनकारों के ग्रन्थों के अध्ययन वा अध्यापन के लिए संस्कृत भाषा का ज्ञान ही आवश्यक नहीं परन्तु उस के गूढ़ आशय को समझना भी अत्यावश्यक है; मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि आपके यहाँ पाणिनीय अष्टाध्यायी, महाभाष्य, काशिका आदि व्याकरण ग्रन्थ निम्न कक्षाओं में ही पढ़ा दिये जाते हैं, यद्यपि उनका मान ऊंची कक्षाओं के बराबर है।

आपके महाविद्यालय में योग, सांख्य, न्याय, वेदान्तादि सब दर्शन ग्रन्थ पढ़ाये जाते हैं जिस से आप प्राचीन साहित्य की शब्द प्रणाली और दार्शनिक युक्ति प्रत्युक्त के प्रकार से भली भाँति परिचित हो जाते हैं। कालिदास और भारवि जैसे उत्कृष्ट कवियों के काव्य, दण्डी और बाण जैसे लेखकों के गद्य ग्रन्थ आप पढ़ते हैं, जिस से कि आप में सब प्रकार के भावों के प्रकाशित करने का चातुर्य्य का आ जाना स्वाभाविक ही है, यही नहीं अपितु आपके यहां संस्कृत-संभाषण की ओर

भी बल दिया जाता है जिसे कि अन्य किसी भी विश्वविद्यालय में स्थान नहीं दिया गया।

संस्कृत लैटिन और ग्रीक भाषाओं की तरह मृत भाषा नहीं। दक्षिण भारत में अब भी यह धाराप्रवाह बोली जाती है। अब भी इस में वही प्रभावोत्पादक शक्ति विद्यमान है। संस्कृत भाषा की यह प्रवीणता प्राचीन ऋषियों के आशय को समझने में बहुत सहायक हो सकती है, इसके साथ ही आप संस्कृत भाषा में ही विचार करने के अभ्यासी हो सकते हैं।

परन्तु आपकी संस्था का सब से बड़ा महत्व जो कि दिल पर गहरा असर डालता है वह हरेक शिक्षार्थी विद्यार्थी को ब्रह्मचर्य पालन करने का है। आप का नियम है कि आठ वर्ष से न्यून अवस्था में ही बालक प्रविष्ट हो सकता है उसी समय उसका उपनयन संस्कार भी होता है। तदनन्तर २४ साल तक ब्रह्मचारी रह कर इस संस्था में विद्याध्ययन करता है इन्हीं गुरुकुलों में प्राचीन पुरुषों की सन्तान बाधित तौर पर प्रविष्ट होती थी। वे गुरुकुल सांसारिक चहल पहल से अलग नदी के तीर पर, किसी सुन्दर प्रदेश में होते थे, वहां आर्य बालक आचार्य के चरणों में बैठ कर ब्रह्मचर्य और तप के कठोर नियमों का पालन करते हुए वेदों तथा अन्य लौकिक विद्याओं का अध्ययन करते थे। ऐसे गुरुकुलों का वर्णन रामायण तथा महाभारत में पाया जाता है, वे बौद्ध–काल के मठों की तरह न थे, वे ऐसे आश्रम थे जिन में आठ वर्ष के बालक प्रेम और दया-मूर्ति गुरुजनों के चरणों में विद्याध्ययन के लिए आश्रम लेते थे। ये गुरुजन कुलपरिवार के पिता तुल्य होते थे, जो कि बालकों को प्रेम पूर्वक शिक्षा दिया करते थे।

इस प्रकार की संस्थाओं में कभी २ सहस्रों विद्यार्थी अध्ययन करते थे। क्योंकि कुलपति उनको कहा जाता था जो ऐसे विश्वविद्यालय का अध्यक्ष हो जिसमें १० सहस्र विद्यार्थी पढ़ते हों।

यह Residential विद्यालय, महाविद्यालय होते थे जिसमें विद्यार्थियों को उत्कृष्ट शिक्षा दी जाती थी। इन शिक्षणालयों में शिक्षा निःशुल्क होती थी क्योंकि ऐसी संस्थाओं की आवश्यकताओं को राजा महाराजा पूर्ण किया करते थे।

मुझे इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि आपकी संस्था का अभ्युदय होगा और ऐसे स्नातकों को उत्पन्न करेगी, जो अपने शारीरिक बल, नियन्त्रण, और मानसिक शक्तियों के द्वारा मातृभूमि के लिये सब से अधिक देशभक्त और सुयोग्य सिद्ध होंगे।

संसार में सैकड़ों विश्वविद्यालय हैं परन्तु भारतवर्ष को छोड़ कर अन्य किसी देश में उनके अन्दर विदेशी भाषा से शिक्षा नहीं दी जाती। इस बात की सत्यता में कोई भी सन्देह नहीं कर सकता कि विद्यार्थी अपनी मातृभाषा के द्वारा ही किसी विषय की पूरी गहराई में पहुँच सकता है और इस प्रकार उसको मानसिक परिश्रम भी कम करना पड़ता है। यह भी एक स्मरणीय बात है कि महाविद्यालय में उच्च विषयों की

विशेषतः इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र की शिक्षा जिस भाषा को माध्यम बना कर दी जाय, वह भाषा स्वयं तथा उसको व्यवहार में लाने वाला मानव सम्प्रदाय बहुत शीघ्र उन्नत होता है। मुझे पूरा निश्चय है कि आपके महाविद्यालय के द्वारा हिन्दी-भाषा का बहुत शीघ्र अभ्युदय होगा और वह सम्पूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्र भाषा बनने योग्य हो सकेगी।

इस संस्था में ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करने से आप इस काम के सर्वथा योग्य भी हैं। मुझे सन्देह नहीं कि आप अपने देशी भाईयों से प्यार करेंगे और खादी धारण करेंगे और स्वदेश के लिए स्वराज्य प्राप्ति में सहायता देंगे। मेरी आप से प्रार्थना इतनी ही है कि अपने संपूर्ण जीवन में विद्यार्थी रहे और किसी एक प्रिय विषय में इतनी उन्नति करें कि जिससे आपकी संस्था की कीर्ति फैल सके। अन्त में आपके लिए ऋषियों के शब्दों में प्रार्थना करता हूं। "तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै"—

Powerful may our learning be,
And may we be devoid of hate.

हा! भाई देवदत्त कहां चले गये!

श्री कुलपति जी, कुल के स्नातक भाइयों और कुल के अन्य प्रेमियों को यह निस्तब्धता पैदा करने वाला समाचार जानकर अत्यन्त शोक होगा कि कुल का एक लाल स्नातक देवदत्त सिद्धान्तालङ्कार ८ वैशाख मङ्गलवार की प्रातः ८½ बजे हमसे सदा के लिए बिछुड़ गया है। भाई को गुरुकुलोत्सव के समाप्त होते ही बड़ी तीव्र चेचक निकली और पीछे जाकर न्युमोनिया भी होगया। बड़े उपचार किए गये, परन्तु विधाता की इच्छा को कौन तोड़ सकता है। अपने कुलभाइयों के देखते ही देखते उन्हें रुलाकर भाई को हम से प्रभु ने छीन लियो।

देवदत्त ने स्नातक बनते ही अपने पिता से कहा था कि पिता जी! मुझे गुरुकुल के पत्ते २ से बड़ा अगाध प्रेम है, मैं चाहता हूँ कि मेरी मट्टी उसी कुल में लगे। प्रभु! तैनें हमारे भाई की इच्छा तो पूर्ण की, वह दिल्ली से चलकर गुरुकुलोत्सव के लिये यहां पहुँचा और यहीं उसकी मट्टी लग गयी, पर हा! विधातः! तैनें यह मट्टी बहुत पहले लगादी।

भाई ने मृत्यु से एक दिन पूर्व बड़ी शान्ति के साथ 'ओं सर्वं वै पूर्णं स्वाहा' का तीन बार उच्चारण किया और कहा कि अब मैं जाऊँगा, और अन्त समय में हंसमुख चेहरे के साथ चल बसा। उसी दिन सब कुलवासियों ने मिलकर शोकसभा की और रुदनक्रन्दन तथा सजल नेत्रों के साथ सब वक्ताओं के भावों का उच्चारण दिल ही करता था।

सदाकत खुद ब खुद कर देती है शोहरत ज़माने में।
मुनाफ़ा इस क़दर रखिये नमक जितना हो खाने में॥

(१) गंगाविष्णु नैनामृताञ्जनः—यह सफ़ेद सुरमा शिरीष की जड़ में ६ महीने रख कर तथा अन्य वैज्ञानिक तरीकों से शुद्ध करके १ साल की लगातार मेहनत के पश्चात् तय्यार किया गया है। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि यह सुरमा आंखों की निम्न बीमारियों में अकसीर साबित हो चुका है—

नेत्रों में खारिश का उठना, रतौंधी, दूर अथवा समीप की वस्तु का साफ़ २ नज़र न आना, धूप में जाते ही आंखों का गरमी से चौंधिया जाना, देर तक किसी वस्तु अथवा पुस्तक की ओर नज़र का न टिकना, आंखों से पानी का गिरना, नज़ले की वजह से आंखों की कमज़ोरी और विशेष करके आजकल के नवयुवकों तथा वृद्धों के लिये यह सुरमा अकसीर साबित हो चुका है। कीमत २) तोला रखी गई है। ३ माशा ।।), ६ माशा १), १ तोला २)

(२) कुकरों का शर्तिया इलाजः—एक आश्चर्य जनक औषधि। यह कोई शास्त्रीय नुस्खा नहीं है। परन्तु किसी अनुभवी वृद्ध सन्यासी का जादू है। देखने में बिलकुल मामूली खाली बत्तियें नज़र आती हैं परन्तु इसके ४, ५ दिन के इस्तेमाल से ही आपको निहायत फ़ायदेमन्द साबित होंगी—

यह बत्तियाँ आंखों के पुराने से पुराने रोहे, सुर्खी तथा पड़बाल और पानी के भर २ गिरने के लिये अकसीर है। फ़ायदे इसके अन्य भी हैं परन्तु आप इसकी एक बार परीक्षा करके हमेशा के लिये इसको अपने पास रखना चाहेंगे। सेवन विधि दवाई के साथ भेजी जाती है।

(३) मस्तिष्क पौष्टिकः—विद्यार्थी, अध्यापक, वकील, क्लर्क और व्याख्याता आदि जिन्हें काम करके काफ़ी देर के लिये आराम की ज़रूरत पड़ती है, उनकी दिमाग़ी ताकत को स्थिर रखनेके लिये यह दवाई अद्वितीय है। कम से कम १५ दिन या १ महीना इसके सेवन करने से आश्चर्य जनक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इससे आप अपने काम को दिल से कर सकेंगे तथा दिमाग़ी ताकत को ज्यादा नहीं खर्च करना पड़ेगा। विद्यार्थियों के लिये अमृत है। केवल एक बार परीक्षा की ज़रूरत है। १ शीशी १५ दिन के लिये २)

(४) केशरञ्जन खिज़ाबः—जहां अन्य खिज़ाबों के लगाने से काली चमक़ी होने के सिवाय बालों की जड़ें कमज़ोर होकर झड़ने लग जाती हैं, वहां इस के सेवन से बाल काफ़ी अरसेके लिये काले तथा खास चमकीले मालूम देते हैं। यह दो चीज़ें हैं-एक खुश्क दूसरी तर। दोनोंको उचित मात्रामें मिलाकर ब्रशसे इस्तेमाल करने से बालोंमें खास चमक आती है। १ शीशी १)

पता—पं० विष्णुदत्त विद्यालंकार, अलंकार आयुर्वेदिक फार्मेसी, कूचा लाखूमल, लुधियाना

"TARA" LEVER
"LUXOR" "C"

वर्ष २, अङ्क १२ Registered No A ;1340

ज्येष्ठ १९८३] [मई १९२६

ओ३म्

गुरुकुल समाचार

[स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र]

मुख्य संपादक

प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार

विषय सूची

विदेश से ६ शि० एक प्रति का ।=) वार्षिक मूल्य ३)

* ओ३म् *

लेखकों से प्रार्थना

१. लेख सामान्यतः अलंकार के ४ पृष्ठों से अधिक न हों।

२. लेख कागज़ के एक ओर, और सुवाच्य लिपि में लिखना चाहिये।

३. पत्र में प्रकाशन के लिये लेख या कविता प्रत्येक देशी मास की १० तारीख तक, और गुरुकुल समाचार २५ तक अवश्यमेव संपादक के पास पहुंच जाने चाहियें।

४. किसी भी लेख को घटाने या बढ़ाने का अधिकार संपादक को होगा।

५. अलंकार के परिवर्तन में पत्र, पत्रिकाएं, और समालोचनार्थ पुस्तकें "सम्पादक" के पते पर भेजनी चाहियें, नाम से नहीं।

ग्राहकों के लिये सूचना

१. अलंकार पत्र प्रत्येक देशी मास के प्रथम सप्ताह में ग्राहकों के पास पहुँच जावेगा।

२. यदि कोई संख्या किसी ग्राहक के पास न पहुंचे तो पहिले अपने डाकघर से पूछना चाहिये। यदि पता न चले तो डाक-घर से जो उत्तर आवे उसे प्रबन्धकर्ता के पास भेज देना चाहिये। यह सूचना देशी मास के तृतीय सप्ताह तक अवश्यमेव पहुँच जानी चाहिए। अन्यथा दूसरी प्रति बिना मूल्य न दी जावेगी।

३. पत्र व्यवहार करते समय अपनी ग्राहक संख्या अवश्य देनी चाहिए। अन्यथा उत्तर न दिये जाने के हम दोषी न होंगे।

४. पत्रोत्तर के लिये जवाबी कार्ड या टिकट साथ भेजना चाहिए।

५. पत्र—व्यवहार में ग्राहकों को अपना पता पूरा और सुवाच्य लिपि में लिखना चाहिए।

६. भावी ग्राहकों को चाहिए कि वे रुपये मनी आर्डर द्वारा भेजें। वी. पी. भेजने से ग्राहकों को और हमें, दोनों को कष्ट होता है। पैसे लगने पर भी समय बहुत नष्ट होता है।

७. नमूने का अंक बिना मूल्य किसी को न भेजा जावेगा।

८. प्रबन्ध सम्बन्धी सब पत्र व्यवहार प्रबन्धकर्ता "अलंकार" गुरुकुल कांगड़ी (जि० बिजनौर) के पते से करना चाहिए।

अलङ्कार में विज्ञापन का दर

	एक पृ०	आधा पृ०	चौथाई पृ०
१ वर्ष के लिये	६) मास	३।।) मास	२) मास
६ मास के लिये	७) मास	४) मास	२।) मास
३ मास के लिये	८) मास	४।।) मास	२।।) मास
१ मास के लिये	६) मास	५।।) मास	३।।) मास

विज्ञापन का मूल्य पहले लिया जावेगा।

प्रो० सत्यव्रत जी प्रिन्टर तथा पब्लिशर के लिये गुरुकुल यन्त्रालय कांगड़ी में छपा

वर्ष २, अङ्क १२] मास, ज्येष्ठ [पूर्ण संख्या २४

अलंकार

तथा

गुरुकुल-समाचार

स्नातक-मण्डल गुरुकुल-कांगड़ी का मुख-पत्र

ईळते त्वामवस्यवः कण्वासो वृक्तबर्हिषः।
हविष्मन्तो अलंकृतः॥ ऋ० १. १४. ५।

प्रार्थना

(श्री पं० वागीश्वर जी विद्यालङ्कार)

प्रभु ! दयालु ! दया यह कीजिये
अबल हैं, हमको बल दीजिये ।
विमुख हो यदि विश्व, डरें नहीं
सुपथ से तिल मात्र टरें नहीं ॥
विमल हो मति, चारु विचार हों
हृदय उन्नत और उदार हों ।
पतित-पावन ! पाप करें नहीं
अपर का अधिकार हरें नहीं ॥
विनय हो, नय हो, धन-धाम हो,
तन तथा मन से शुभ-काम हो ।
शरण में प्रभु आकर आपकी
हम न भीति करें त्रय-ताप की ॥

आध्यात्मिक पहेली।

(प्रो० धर्मेन्द्रनाथ जी तर्क-शिरोमणि)

माताओं की पहेली जो वे बच्चों को सुनाया करती हैं पाठकों ने बहुत सुनी होंगी। छोटे २ बच्चों, भाई और बहिनों को इन पहेलियों के कहने और सुलझाने में कैसा अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है। जब बच्चे बड़े होते हैं और पढ़ने लगते हैं तब वे गणित की पहेलियां सोचा करते हैं। हमारे ऋषियों ने उपनिषदों में बुढ़ापे के लिये भी आत्मिक पहेलियां बनाई हैं जिन के समझने में मनुष्य का तीसरा और चौथा आश्रम लगना चाहिये। तत्त्वदर्शी के लिये तो यह सारा संसार ही एक पहेली के रूप में है। इस लिये प्रसिद्ध तार्किक हेकल ने अपनी पुस्तक का नाम ही 'संसार की पहेली' Riddle of the Universe रखा है।

आज के लिये केन उपनिषद् में आई आत्मिक सिद्धान्त सम्बन्धी पहेली चुनी है। ईशावास्य उपनिषद् को छोड़कर जो कि स्वतः यजुर्वेद का ही एक टुकड़ा है, केनोपनिषद् हमें अत्यन्त गहरे सिद्धान्तों तक ले आने वाली है। इस छोटी सी उपनिषद् में अत्यन्त सूक्ष्म आत्म-सिद्धान्त विद्यमान हैं।

प्रारम्भ में यह दिखलाकर कि सारी इन्द्रियें ब्रह्म की ही ताक़त से अपने काम में लगती हैं, परन्तु वह ब्रह्म इन्द्रियों का विषय नहीं, उपनिषद् एक पहेली का वर्णन करती है और वह यह है:—

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। अविज्ञातं विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्॥

इसका अर्थ यह है कि जिसने उसे नहीं समझा है उसका समझा हुआ है, जिसने उसे समझ रक्खा है वह उसे नहीं जानता। न जानते हुओं का जाना हुआ है, जानते हुओं का न जाना है!

क्या ही विचित्र विरोध दीखता है, बुद्धि चक्कर खा जाती है कि इस वाक्य का क्या रहस्य है? परंतु वैदिक फिलासफी में ब्रह्म के असली रहस्य का इसी वाक्य से पता चलता है।

परन्तु एक और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है जो हम इस वाक्य से स्पष्ट करना चाहते हैं। यूरोप के कुछ विद्वानों का विचार है कि उपनिषद् अज्ञेयवाद Agnosticism का पोषक है। उपनिषदों में जगह २ ऐसे वाक्य आये हैं 'न तत्र वाग् गच्छति न मनो न विद्मो न विजानी मो' अर्थात् वाणी और मन ब्रह्म तक नहीं पहुँचता जिसका सार यह है कि न तो ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है और न बखान हो सकता है। जर्मनी के महान् तार्किक इमैनुएल काण्ट ने कहा कि हम अपनी इन्द्रियों से परम सत्ता (Noumenon) का ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते। काण्ट का सिद्धान्त अज्ञेयवाद कहलाता

है। उपनिषदों का यह सिद्धान्त कि ब्रह्म इन्द्रियों से नहीं जाना जा सकता 'अज्ञेयवाद' से मिलना जुलता मालूम पड़ता है। इसी लिये पाश्चात्य विद्वानों ने कल्पना की है कि उपनिषद् भी अज्ञेयवाद की समर्थक हैं। अब यदि यह मान लिया जावे कि उपनिषदों में अज्ञेयवाद है तो उपर्युक्त पहेली की व्याख्या यों होगी—

'पहेलो का सारांश यह है कि जो ब्रह्म को को नहीं जानते वे ही उसे जानते हैं, और जो ब्रह्म को जानते है वे उसे नहीं जानते। अर्थात्, क्यों कि ब्रह्म अज्ञेय है इस लिये जो यह जानते कि ब्रह्म नहीं जाना जा सकता और कहते हैं कि हम ब्रह्म को नहीं जानते वे वस्तुतः जानते हैं क्योंकि ब्रह्म को अज्ञेय समझना हो ब्रह्म का ज्ञान है। जो लोग ब्रह्म को जानते हैं अर्थात् कहते हैं कि ब्रह्म ज्ञेय है वे ब्रह्म को नहीं जानते क्योंकि वे अज्ञेय ब्रह्म को ज्ञेय समझ बैठे हैं। कहते हैं कि डेलफी की देवता (Oracle of Delphi) ने एक बार कहा कि ग्रीस में सुकरात सबसे अधिक बुद्धिमान् है। जब सुकरात को यह पता लगा तो उसने कहा कि वैसे तो मैं कुछ नहीं जानता, परन्तु मुझे इतना ज्ञान है कि मैं कुछ नहीं जानता, जहां दूसरो को यह भी पता नहीं है कि वे कुछ नहीं जानते। इस लिये मैं जो कुछ नहीं जानता उन लोगों की अपेक्षा बुद्धिमान् हूं जो कुछ न जानते हुये भी यह समझते हैं कि वे जानते हैं। 'मैं कुछ नहीं जानता' यह जानना हो सुकरात का ज्ञान था, जिस कारण देवता ने उसे सबसे अधिक बुद्धिमान बतलाया। ठीक इसी प्रकार जो यह जानता है कि ब्रह्म अज्ञेय है और मैं उसे नहीं जान सकता, यही उसका ब्रह्म-ज्ञान है।

उपनिषद् की पहेली का यह एक अर्थ है। कभी २ पहेली का अर्थ सुनकर कह दिया करते हैं कि यह अर्थ गलत है। उसी प्रकार हम कहते हैं कि आत्मिक पहेली का यह उपर्युक्त अर्थ ग़लत है। अब हम बतायेंगे की पहेली का असली अर्थ क्या है?

सबसे प्रथम बात यह है कि उपनिषद् ब्रह्म के विषय में पाश्चात्यों के 'अज्ञेयवाद' की पोषक नहीं है, इस लिये पहेलो का दूसरा अर्थ होना चाहिये।

(२)

जानते हुये उसे नहीं जानते और न जानते हुये उसे जानते हैं, इस पहेली का एक अर्थ जो अज्ञेयवाद मान कर किया गया है, वह हमने दिखला दिया*। वह अर्थ ठीक नहीं। इसके लिये इतना ही पर्याप्त है कि यदि उपनिषदों में अज्ञेयवाद (Agnosticism) जैसा कि उस शब्द का अर्थ युरुप में समझा जाता है, हो तो उपनिषदों की सत्ता

---

*इस पहेली के स्वा० शङ्कराचार्य ने यह अर्थ किये हैं कि जो लोग प्रत्यक्ष जगत् को ब्रह्म जानते हुये कहते हैं कि हम ब्रह्म को समझते हैं वे नहीं समझते किन्तु जो जगत् को ब्रह्म नहीं समझते वे ब्रह्म को समझते हैं। हमारी समझ में यहां शंकर स्वामी ने जगत् को ब्रह्म समझने की बात जोड़ कर उपनिषद् की गम्भीरता की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया।

व्यर्थ होगी क्यों कि 'ब्रह्मबोध' या परमसत्ता का साक्षात्कार (Realization of Ultimate Reality) ही उपनिषदों का उद्देश्य है। किञ्च ब्रह्म-प्राप्ति के लिये आश्रमों का विधान कैसे हो सकता था ? फिर उपनिषदों के 'अज्ञेयवाद' का क्या अर्थ है ? उपनिषदों ने स्पष्टरूप से यह क्यों कहा है कि ब्रह्म हमारे सारे अनुभव से परे है और अनुभव से परे होने पर भी ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे हो सकता है ? इन सारे संशयों की गांठ उपनिषद् के इस वाक्य से खुल जाती है। 'ब्रह्मदर्शन' का रहस्य बताने वाला ऐसा वाक्य सारे संसार के तत्वशास्त्र में न मिलेगाः—

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ।

अर्थात् स्वयम्भू परमात्मा नेः—

(१) हमारी इन्द्रियों को बाह्य विषय में जाने वाली बनाया है । इस लिये मनुष्य बाह्य विषयों को देखते हैं अन्तरात्मा को नहीं ।

(२) कोई धीर अमृत (मोक्ष) को चाहता हुआ आंख मूंद कर अन्दर की ओर आत्मा को देखता है ।

उपनिषद् के पहिले वाक्य में केवल इतना बतलाया है कि हमारा ऐन्द्रियिक ज्ञान हमें बाह्य विषयों से आगे नहीं ले जा सकता अर्थात् हमारा ऐन्द्रियिक अनुभव बाह्य जगत् तक सीमित है। परन्तु इसके आगे उपनिषद् एक निश्चित रीति ऐन्द्रियिक अनुभव से आगे आत्मा तक पहुँचने की बतलाती है और वह यह है किः—

आँखों को मूंद लो

आंखों को मूंदने से अन्तरात्मा का दर्शन हो सकता है, इसका क्या अर्थ है ? पहिली बात यह है कि 'आंख' यह सब इन्द्रियों के लिये उपलक्षण आया है (एक को मुख्य कह कर शेष का भी ग्रहण कर लेना उपलक्षण कहलाता है) तात्पर्य यह हुआ कि सब इन्द्रियों को मूंद लो अर्थात् इन्द्रियों के विषयों को बन्द कर दो। इन्द्रियों के सारे विषय हम कैसे बन्द कर सकते हैं; यदि सारी इन्द्रियों को हम बाहर से बन्द भी करलें तब भी हमारे अन्दर विषयों की भावना बनी रहती है। सारे ऐन्द्रियिक विषयों को रोक देना जिसे चित्तवृत्तिनिरोध भी कहते हैं योगशास्त्र सिखाता है। और जब सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है, केवल एक मात्र एक विषय जिस पर ध्यान होता है रह जाता है तब योग में समाधि के दो प्रकार बतलाये हैंः—

(१) एक समाधि शब्दार्थ ज्ञान से सङ्कीर्ण अर्थात् मिश्रित होता है। उस में यह भासित होता है कि मैं अमुक पदार्थ का ध्यान कर रहा हूँ, यह उस का नाम है और यह अर्थ है तथा मैं ध्यान करने वाला हूँ ।

(२) समाधि की उत्कृष्ट अवस्था ऐसी आती है जिसमें केवल ध्येय पदार्थ का स्वरूप से भान होता है। उस में यह भी बोध नहीं होता कि मैं अमुक पदार्थ का ध्यान कर रहा हूँ और मुझे उसका ज्ञान है किन्तु केवल उस पदार्थ

का ही ज्ञान रहता है। इसे स्पष्ट रूप से समझने के लिये यह देखना चाहिये कि

(१) 'घट-ज्ञान'

(२) मैं घट को जानता हूं,

इन दोनों ज्ञान शक्तियों में भेद है। समाधि की उच्च अवस्था में केवल पदार्थ का स्वरूपेण ज्ञान होता है। परन्तु यहां तक तो सम्प्रज्ञात समाधि है क्योंकि अन्तःकरण में कोई न कोई ध्येय विषय बना रहता है। इसके आगे असम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें कोई भी ध्येय नहीं रहता और चित्त विषय-शून्य हो जाता है और इस अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब चित्त में कोई बाह्य विषय नहीं रहता तो समझना चाहिये कि इन्द्रियें मुंदी हुयी हैं और तब बाह्य विषय न होने के कारण **आत्मा को स्वरूप का दर्शन** होता है और अपने अन्दर वह परमात्मा को पाता है। इस अवस्था में उसे (१) आत्मा का साक्षात् दर्शन होता है, परन्तु (२) 'मैं आत्मा जान रहा हूं, ऐसा प्रत्यय नहीं होता और न उसका बाह्य जगत् से कोई सम्बन्ध ही रहता है। यह उपनिषदों का असली सिद्धान्त है।

अब पहेली का अर्थ समझना हमारे लिये कुछ भी कठिन नहीं रहा:-

'आत्मदर्शन' असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा होता है और असम्प्रज्ञात समाधि में 'मैं आत्मा को जानता हूँ, ऐसा बोध नहीं हो सकता, इस लिये जिसे 'मैं आत्मा को जानता हूँ, ऐसा बोध नहीं हो रहा वही आत्मा को जानता है, परन्तु जिसे यह बोध हो रहा है कि मैं आत्मा को जानता हूँ वह वस्तुतः उसे नहीं जानता, यह इस पहेली का कि जाने हुआ का न जाना, और न जाने हुआ का जाना हुआ है, रहस्य है। जो बात ऊपरी दृष्टि से परस्पर विरोधपूर्ण दीखती है, वही ब्रह्मविद्या के विषय में ठीक सिद्ध होती है।

शाक्यवंश का उदय और अस्त

(ले० श्रीयुत पण्डित चन्द्रमणि जी विद्यालङ्कार गुरुकुल कांगड़ी)

(१)

भारतवर्ष के प्राचीन इतिहास में प्रतिदिन नई २ खोजें की जारही हैं। उनका आधार अधिकतर संस्कृत भाषा की पुस्तकें होती हैं। पाली भाषा के ग्रन्थों की ओर दृष्टि डालें तो उनसे भी कम सहायता नहीं मिलती। उसका भी साहित्य किसी समय पर्याप्त प्रसिद्ध पा चुका था। संस्कृत और पाली, यही दो भाषायें हैं जिनकी पुस्तकों के आधार पर हम बहुत कुछ भारतीय प्राचीन इतिहास को बना सकते हैं। इनमें से यदि हम एक की भी सहायता छोड़ दें तो हमारा भवन कच्चा तथा बहुत अधूरा रह जावेगा। विशेषतः बौद्ध इतिहास को पालीग्रन्थों की सहायता के बिना लिखना कठिन ही नहीं प्रत्युत असम्भव है। आज मैं जिस

विषय पर लिखने लगा हूं उस पर इतिहास में अभी तक कुछ प्रकाश नहीं पड़ा। इसका कारण यही है कि पाली की ओर अभी तक ऐतिहासिकों ने पूर्णतया परिश्रम नहीं किया। इस सारे लेख का आधार पाली पुस्तकें हैं। इसमें कोई सन्देह नहीं कि सृष्टि के आरम्भ में जब आर्यों में राज्य करने का विचार उठा तो उनका एक ही राजा बनाया गया था। वह राजवंश एक ही था। पुनः ज्यूं २ जनसंख्या बढ़ती गयी और बड़ा बनने तथा स्वतन्त्र होने की इच्छायें प्रबल होती गईं त्यूं त्यूं उसी एक राजवंश की शाखा प्रशाखा रूप अनेक वंश स्थापित होते गये। इसी प्रकार शाक्यवंश भी उसी का एक शाखा था। उसका किस प्रकार उदय हुआ इसी बात को हम इस लेख के पहले भाग में दर्शायेंगे। महावंश टीका* के द्वितीय परिच्छेद के आरम्भ में लिखा है कि सृष्टि की आदि में जब मनुष्यों में बढ़ी हुई इच्छायें पैदा होने से क्लेशादि दोष उत्पन्न हो गये, अपना आत्म-प्रभाव नष्ट होगया, अपने आप को स्वामिरहित समझने लगे, घात बध बन्धनादि से दुःखित हुए और किसी को स्वामी बनाकर जीवन व्यतीत करने की इच्छा उत्पन्न हुई; तब वे एक शक्तिशाली पुरुष की शरण में गये और प्रार्थना की "अम्भो महापुरिस तया इतो पट्ठाय अम्हाकं रक्खावरणगुत्तं कातुं वट्टति, तं हिनो मयं राजं करिस्साम" अर्थात् हे महापुरुष! अब से लेकर तुम हमारी रक्षा करो, हम तुम्हें अपना राजा बनावेंगे। इस प्रकार इकट्ठे होकर महान् जनसमूह ने एक सम्मत हो इसे अपना राजा बनाया, इसलिये इस आदि राजा का नाम 'महासम्मत' पड़ा। इसी का दूसरा नाम 'मनु' है जो कि संस्कृत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। इसके भी वही अर्थ हैं जो कि 'महासम्मत' के हैं। अर्थात् जिसका राजा होना सबको मत हो वह मनु। संस्कृत साहित्य में भी मनु को आदि राजा कहा जाता है।

इसी से महासम्मत-वंश या मनु-वंश चलता है। इस वंश का यही आदि पुरुष है। महाराजा इक्ष्वाकु से पूर्व तक मनुवंश में २,२५,६६ राजा हुए। इनका ब्योरा देने से लेख बहुत लम्बा हो जावेगा अतः इसे छोड़ दिया जाता है।

इक्ष्वाकु* (इसका पाली में ओक्काक नाम है) का पिता सुजात और बाबा अम्बरंसि था। इसकी राजधानी बाराणसि थी।

इक्ष्वाकु की पांच स्त्रियां थीं। जिन में से हत्था महाराणी और अन्य चार-चित्ता, जन्तु, जालिनी, और विसाखा-राणियां थीं। प्रत्येक स्त्री के लिये ५०० परिचारिकायें थीं। हत्था से ओक्कामुख, करकण्डु, हत्थिक, निपुर नामी ४ पुत्र तथा पिया, सुप्पिया, नन्दा, विजिता, विजितसेना, ये पांच पुत्रियां उत्पन्न हुईं। इन ९ सन्तानों की उत्पत्ति के पश्चात् महाराणी मर गई। राजा ने किसी अन्य राजकन्या से विवाह करके उसे महाराणी के स्थान पर रक्खा। कुछ काल के पश्चात् उससे जन्तु नामी पुत्र पैदा हुआ। वह

* महावंश टीका परिच्छेद २ श्लोक ११ देखो। यह इसने सीहलट्ठ कथा नामी प्राचीनतर पुस्तक के अनुकूल किया हुआ है।

* महावंश पुस्तक में सीलोन निवासी सीहल जाति का प्राचीन इतिहास है, उसकी यह टीका है। यह भी बहुत प्राचीन है।

बड़ा ही सुन्दर तथा चित्ताकर्षक था। महाराणी पांचवें दिन उसे सुभूषित करके राजा के पास दिखाने के लिये ले गई। राजा देख कर बड़ा प्रसन्न हुआ और महाराणी से कोई वर मांगने को कहा। उसने बंधुओं से मन्त्रणा करके यह वर मांगा कि मेरा पुत्र जन्तु आपके पीछे राजगद्दी पर बैठे। इसको सुन कर राजा क्रुद्ध हुआ और कहा 'वृषली ! तेरा नाश हो जाये तू मेरे पुत्रों का विनाश चाहती है" परन्तु वह "महाराज ! आपका झूठ नहीं बोलना चाहिये" इत्यादि वचनों से बार बार वही वर मांगती रही। तब ओक्काक ने दुःखित-हृदय से अपने पुत्रों को बुलाया और कहा "पुत्रो ! मैंने तुम्हारे सब से छोटे भाई जन्तु को देख कर सहसा उसकी माता को वर प्रदान किया था। वह अपने पुत्र के लिये राज्य-गद्दी मांगती है। तुम मङ्गल-हस्ती तथा मङ्गलरथ (हस्ति, रथ का भेद है नाम विशेष नहीं) को छोड़ कर हस्ती अश्वरणादि जितना सेनाङ्ग लेना चाहो लेकर कहीं अन्यत्र चले जाओ, मेरे मरने पर पुनः आकर राज्य करना"। इस प्रकार उन्हें राज्य तथा युद्ध की सामग्री देकर आठ मंत्रियो समेत राज्य से बाहर अन्यत्र कहीं जाने को कहा।

इस कठोर आज्ञा को सुन कर निरपराधी पुत्र बड़े रोये चिल्लाये और पिता तथा माताओं से पुराने दोषों, व्यतिक्रमों को भूल जाने के लिये क्षमायें मांग कर चतुरंगिनी सेना समेत राजधानी से निकल पड़े। भाइयों के बिछुड़ाव को देख कर बहिनों से भी नहीं रहा गया। वे भी पिता से आज्ञा लेकर उन्हीं के साथ चल पड़ीं। प्रजा को जब इस बात का पता लगा कि महाराजा की मृत्यु के पश्चात् फिर आकर इन्हींने ही राज्य करना है तो उनकी अनेक प्रकार से पूजा करने लगे। ज्यों २ वे राज्य में से गुज़रते थे अनेक आदमी उनके साथ होते जाते थे। तीन दिन में तीन योजन मार्ग में सेना विस्तृत हो गई। इसे देख कर राजकुमार सोचने लगे कि हमारे पास इतनी सेना हो गई है कि किसी सामन्त राजा को परास्त करके उसका राज्य छीन सकते हैं परन्तु किसी को दुःख देने से क्या लाभ। जम्बूद्वीप (भारतवर्ष) बहुत बड़ा है, कहीं जङ्गल में अलग ही राज्य स्थापन करेंगे। इस धुन में वे हिमालय की ओर चल पड़े। उस समय कपिल नामी ब्राह्मण ऋषि घर से निकल कर उस वन में पुष्करिणी नदी के तट पर कुटिया बना कर रहता था। वह भौम्यलक्षण (भुम्म लक्खण) विद्या को जानता था जिससे ८० हाथ तक आकाश के ऊपर और ८० हाथ तक भूमि के नीचे गुण दोष देख सकते हैं। उस स्थान में तृण, गुल्म लतादि दहिनी तरफ़ मुड़ने वाले और पूर्व दिशा की ओर मुख वाले होते थे। सिंह व्याघ्र सर्प बिडालादि हिंसक जीव, मृग, सूकर, मण्डूक, मूषकादि का पीछा करते हुए उस पुण्यभूमि में पहुँचने पर उनका पीछा छोड़ कर लौट जाते थे। कपिल ने इस प्रदेश को निर्विघ्न सर्वगुणसम्पन्न तथा उत्तम जान कर यहीं अपनी पर्णकुटिया बनाई थी। ओक्कामुखादि समूह के वहां पहुं-

चने पर उसका हृदय अनुकम्पा तथा करुणा से पिघल गया और बोला "इस पर्णकुटिया के स्थान में बसा हुआ नगर भारतवर्ष में मुख्य नगर होगा। यहां उत्पन्न हुए मनुष्यों में से अकेला मनुष्य अन्य देशीय १०० और सहस्र मनुष्यों को भी पराजित कर सकेगा। तुम यहीं नगर बसाओ, पर्णकुटिया की जगह राजमहल बनाओ, इस स्थान में रहता हुआ चाण्डालपुत्र भी चक्रवर्ती के बल को उलङ्घन कर जावेगा"। इन शब्दों में जहां उस भूमि की महत्ता तथा मान्यभाव को दर्शाते हैं वहां उन दु:खी हृदयों को सान्त्वना देकर प्रोत्साहित करते हुए उनके अन्दर वीरता के भाव कूट कूट कर भरने का यत्न किया जाता है और वीरभूमि की सन्तान के नाम से अजेयभाव की अपील की जाती है। यह अपील, यह भविष्यवाणी व्यर्थ नहीं गई वरन् आगे जाकर वह भारत में एक शिरोमणि राष्ट्र बनाती है। नाश किस राष्ट्र या जाति का नहीं होता, प्रत्येक को अपने अस्तित्व से हाथ धोना पड़ता है। किसी राष्ट्र का उदय होता है और किसी राष्ट्र का अस्त होता है। इसके प्रभाव से कोई सुरक्षित नहीं रह सकता। इसी प्रकार अन्त में शाक्यवंश भी छिन्न भिन्न हो गया। परन्तु उसने अपनी युवावस्था में अपने को कई वंशों का सिरताज बनाये रक्खा और कपिल के वाक्यों को पूर्णतया चरितार्थ कर दिखाया।

कपिल के उदारता पूर्ण वचनों को सुन कर राजकुमार बोले भगवन् यह तो आपका निवासस्थान है? जिसके उत्तर में कपिल ने और उदारता दिखाई और कहा "मेरा निवासस्थान है, ऐसी चिन्ता मत करो, मेरे लिये एक तरफ पर्णकुटि छोड़ कर नगर बसालो और उसका नाम कपिलवस्तु (कपिलवत्थु) रखो" राजकुमारों ने उसके कथनानुसार वहां नगर बसा लिया और कपिल नाम पर उस राजधानी का नाम 'कपिलवस्तु' रक्खा। इससे पाठकों को कपिलवस्तु की उत्पत्ति के इतिहास का भी परिचय मिल गया होगा।

जब राज्य भली प्रकार स्थापित होगया तब आठों मन्त्री इस चिन्ता में पड़े कि "ये राजकुमार यौवनावस्था को प्राप्त हो चुके हैं, यदि इनका पिता पास होता तो वह इन का विवाह अवश्य ही करता, अब यह भार हमारे ऊपर है"। उन्होंने राजकुमारों से मंत्रणा की। परन्तु वे सोचते हैं "हमें अपने सदृश कोई राजपुत्रियें नहीं दीखतीं, नाहीं भगिनियों के सदृश कोई राजकुमार दृष्टिगोचर होते हैं। असदृश विवाह होनेपर उत्पन्न पुत्र माता या पिता की ओर से अपरिशुद्ध हुए तो जाति-भेद को प्राप्त होंगे। (अदिससम्पयोगे च नो उप्पन्ना पुत्ता मातितो वा पितितो वा अपरिसुद्धा जातिसम्भेद पापुणिस्सन्ति), इस लिये हम भगिनियों के साथ ही विवाह कर लेते हैं"। उस हिमालय वन में ओक्कामुख आदि चार राजकुमार और ५ राजकुमारी भगिनियों के अतिरिक्त अन्य कोई कुमार या कन्या राजवंश की नहीं थीं जिस

से वे विवाह करते। इसलिये जाति-बन्धनसे जकड़े हुये तथा जातिभेद से भयभीत होने के कारण बड़ी बहिन को माता के स्थान पर मान कर अन्य चारों बहिनों से चारों कुमारों ने विवाह कर लिया। कैसा विचित्र दृश्य है: पवित्र संबन्ध तथा धर्म को तिलाञ्जलि देकर पाप के गढ़े में गिरना स्वीकार किया परन्तु जातिभेद को तोड़ना उन्हें अच्छा नहीं लगा। शायद उस समय देश में यही नीच-प्रथा प्रचलित हो और प्रथा को तोड़ना जरा कठिन ही हुआ करता है। केवल महापुरुष ही कुरीतियों का मुकाबला कर सकते हैं। साधारण जनों का उनके सामने सिर झुक ही जाता है।

जब राजकुमारों के पिता महाराजा इक्ष्वाकु को कपिलवस्तु में राज्यस्थापना की खबर लगी तब उसके मुखसे एक दम ये शब्द निकले "सक्का वत भो राजकुमारा परमसक्का वत भो राजकुमारा" अर्थात् वाह! राजकुमारो तुम राज्य-स्थापनादि करने में शक्त हो, वाह! राजकुमारो तुम राज्यस्थापनादि करने में खूब शक्त हो। इसी पितृवचन को लेकर उन राजकुमारों और उनके वंश का नाम शक्य या शाक्य पड़ गया। पालीभाषा में 'शक्य' की जगह 'सक्क' हुआ करता है।

इससे पाठकों को भली प्रकार विदित होगया होगा कि किस प्रकार इक्ष्वाकुवंश में से शाक्यवंश की उत्पत्ति हुई जिसका आदि राजा ओक्कामुख था और जिस वंश का प्रारम्भिक राज्य कपिलवस्तु में था।

* स्वतन्त्रता *

(श्री पं० श्रीहरि)

नीच प्रसङ्ग, सदा खल सङ्ग, प्रवास को वास हू लीबो भलो।
पात्र कुपात्र विचार बिना निज सर्वस दान को दीबो भलो॥
राज सिंहासन को तजि कै, हंसि कै विष घूंट को पीबो भलो।
"श्री हरि" पै निज प्यारी स्वतन्त्रता खोय नहीं पल जीबो भलो॥

आवश्यक सूचना—कई पाठकों की शिकायत आती है कि "अलंकार" का कोई २ अङ्क उनकी सेवा में नहीं पहुंचता। ऐसे भाइयों से निवेदन है कि वे प्रत्येक देसी मास की ७वीं तिथि तक "अलङ्कार" की प्रतीक्षा किया करें। तब तक यदि पत्र न मिले तो हमें तत्काल सूचना दे दें, उनकी सेवा में नया अङ्क भेज दिया जायगा। देर से सूचना मिलने पर हम कुछ न कर सकेंगे—प्रबन्धकर्ता।

महाकवि कालिदास

(ले० पं० वागीश्वर जी विद्यालङ्कार)

[३]

हमारे पहले लेख का आशय यह है कि शंकराचार्य किसी प्रकार भी ६ वीं शताब्दी से पूर्ववर्ती स्वीकार नहीं किये जा सकते। अतः यदि रघुवंश आदि काव्यों तथा शाकुन्तल आदि नाटकों के प्रणेता एक ही कालिदास माने जावें तथा उनका समय भी विक्रमाब्द का प्रारम्भ स्वीकार किया जावे तो भी कोई क्षति नहीं। राजशेखर तथा अभिनन्द आदि कवियों की सम्मति, अर्थात् कालिदास एक ही हुवे या अनेक, पर हम आगे विचार करेंगे।

स्वपक्ष स्थापन

उपर्युक्त पांच पक्षों के बलाबल का विचार हम अपने सुयोग्य पाठकों के सन्मुख निष्पक्षपात दृष्टि से कर चुके हैं। अब हम अपना मन्तव्य प्रकाशित करते हैं। हमारी सम्मति में- इस्वी सन् से ५७ वर्ष पूर्व विक्रमादित्य की सभा में कवि कालिदास विद्यमान थे। इस स्थापना को करने से पूर्व हमें यह सिद्ध करना पड़ेगा कि उस समय में कोई विक्रमादित्य नाम का सम्राट् भारतवर्ष में मौजूद था। प्रसन्नता का विषय है कि हमारे पास इसका एक ही नहीं, अनेकों प्रमाण उपस्थित हैं। देखिये-

(१) विन्सैण्ट स्मिथ महोदय के मतानुसार इस्वी सन् ६८ में दक्षिण में शातवाहन वंशीय 'हाल' नामक एक राजा हुवा है जिसने "गाथा सप्तशती" नाम की पुस्तक लिखी है। उसका पैंसठवाँ पद्य यह है :-

संवाहन सुखरस तोषितेन ददता तव करे लक्षम्।
चरणेन विक्रमादित्य चरित मनु शिक्षितं तस्याः॥

अर्थ-"मुट्ठी-चापी से प्रसन्न होकर तुम्हारे हाथ में लक्ष = निशान देते हुवे उसके पांव ने विक्रमादित्य के चरित्र का अनुकरण किया है। विक्रमादित्य भी प्रसन्न हो कर अपने सेवकों के हाथ में लक्ष = एक लाख रुपये दे दिया करते थे"।

इस से सिद्ध है कि 'हाल' राजा से पूर्व भी कोई दान-शील विक्रमादित्य दक्षिण तक प्रसिद्ध था। यही दानी विक्रम शकारि हो सकता है या नहीं- इस का उत्तर यह है कि-विन्सैण्ट स्मिथ महोदय ने प्राचीन भारत के इतिहास में लिखा है कि ईसा से १५० वर्ष पूर्व शक लोगों ने भारत के उत्तर पश्चिम के प्रदेशों पर आक्रमण किया। वे दो भागों में विभक्त हो गये। एक शाखा ने ईसा की प्रथम शताब्दी में काठियावाड़ को जीता और उज्जैन को अपने वश में कर लिया। इन्हें गुप्तवंशीय राजाओं ने निकाल दिया। दूसरी शाखा तक्षशिला तथा मथुरा में फैली। यही शाखा क्षत्रप नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके सिक्कों का पता ईसा के १०० वर्ष पूर्व तक चलता है। इसके अनन्तर इसका अस्तित्व एक दम लुप्त है। इस लेख से क्या हम यह परिणाम नहीं निकाल सकते कि विक्रमादित्य ने ही इस शाखा का अन्त किया होगा।

(२) और लीजिये— पेशावर के पास तख्तेबाही में एक शिलालेख पार्थियन राजा गुडुफ़र्न के समय का उपलब्ध हुआ है। गुडुफ़र्स भारत के उत्तर पश्चिम प्रदेश का राजा था। उक्त शिलालेख इस राजा के सिंहासनाऽऽसीन होने के २६ वर्ष पश्चात् का है। उस पर १०३ का अङ्क अङ्कित है। पर संवत् का नाम नहीं लिखा है। डा० फ़्लीट तथा स्मिथ महोदय का मत है कि यह संवत्, विक्रम-संवत् ही है। ईसा की तीसरी सदी मे लिखित, यहूदियों की एक पुस्तक में गुडुफ़र्स का नाम मिलता है। इससे सिद्ध है कि तीसरी सदी से पूर्व होने वाले गुडुफ़र्स से पूर्व भी विक्रमीय-संवत् का प्रचार न केवल मालवा अपितु पेशावर आदि तक भी हो चुका था।

(३) ब्राह्मण लोग संकल्प पढ़ते समय सृष्टि संवत् और विक्रम-संवत् का उच्चारण करते हैं तथा प्रति वर्ष उसमें एक एक संख्या बढ़ाते जाते हैं। इस प्रकार प्राचीन काल से यह गणना होती चली आरही है। इस को मिथ्या मानने का कोई कारण हम नहीं देखते। अतः विक्रमीय संवत् विश्वास योग्य है।

(४) कालिदास तथा विक्रमादित्य का संबन्ध प्रसिद्ध है। यदि किसी प्रकार यह सिद्ध हो सके कि कालिदास ईसा से पूर्व पहली या दूसरी सदी में उपस्थित थे तो विक्रमादित्य को भी उस समय के लगभग स्वीकार करने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। कालिदास ईस्वी सन् से लगभग १०० वर्ष पूर्व विद्यमान थे इसमें निम्न हेतु है—

पुरातत्त्व विभाग ने संवत् १९६९ में प्रयाग के निकट भीटा ग्राम में एक मैडीलियन खोद कर निकाला है। इसमें दो दृश्य खुदे हुवे हैं। एक दृश्य में दो पुरुष हैं। एक तो राजा प्रतीत होता है, दूसरा उसका कोई अन्य साथी है। उनके सामने कुछ दूर पर एक तपस्वी दोनों हाथ उठा कर उनसे आश्रम-मृग को न मारने के लिये निवेदन कर रहा है। इस दृश्य को कालिदास के शाकुन्तल के प्रारम्भिक दृश्य से मिलाकर देखिये—

* "(नेपथ्य में) हे हे राजन्! यह आश्रम का पालतू हरिण है इसे न मारिये, न मारिये।

सारथि— (सुनकर तथा देखकर) आयुष्मन्! आपके तीर के लक्ष्य बने हुवे इस मृग के और आपके

(नेपथ्ये)

* भो भो राजन्, आश्रम मृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

सूतः (आकर्ण्यावलोक्य च) अस्य खलु बाणपातवर्त्तिनः कृष्णसारस्यान्तरे तपस्विनउपस्थिताः।

राजा— (ससंभ्रम) तेनहि प्रगृह्यन्तां वाजिनः।

सूतः— तथा (इति रथं स्थापयति) (ततः प्रविशत्यात्मना तृतीयो वैखानसः)

वैखानसः— (हस्तमुद्यम्य) राजन् आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो न हन्तव्यः।

(शाकुन्तलं प्रथमाङ्कं)

बीच में तपस्वी आगये हैं।

राजा— (शीघ्रता के साथ) तब तो घोड़ों को रोक लो।

सारथि— जैसी आपकी आज्ञा (रथ को रोक लेता है)

(तीन तपस्वियों का प्रवेश)

एक तपस्वी— (हाथ उठाकर) हे ! राजन् ! यह आश्रम का पालतू हरिण है इसे मत मारिये।"

(शाकुन्तल प्रथमाङ्क)

दूसरे दृश्य में एक ऋषि की कुटिया है। एक लड़की वृक्षों को जल दे रही है। पुरातत्त्व-वेत्ताओं ने इस "धातु-पत्र" को शुङ्गकाल का निश्चित किया है। शुङ्गकाल ईसा से पूर्व दूसरी सदी के लगभग प्रारम्भ होता है। जो दृश्य इस धातु-पत्र में खुदे हुवे हैं, वे कालिदास के शाकुन्तल के आधार पर ही बने हुवे प्रतीत होते हैं। सर जान-मार्शल कहते हैं कि ये दृश्य किसी अज्ञात पुस्तक के पाठ्य के आधार पर बनाये गये हैं, शाकुन्तल के आधार पर नहीं, क्योंकि कालिदास तो बहुत पीछे हुवे हैं। अतः कालिदास ने ही उस पुस्तक के आश्रय पर अपनी कल्पना खड़ी की है, इत्यादि। हमें मार्शल साहब के मार्शल निर्णय पर आश्चर्य होता है। यद्यपि पद्म-पुराण तथा महाभारत में भी शाकुन्तलोपाख्यान पाया जाता है तथापि उन में वर्णित कथा के अनुसार वे दो चित्र नहीं बन सकते। इसके अतिरिक्त पद्म-पुराण तो बना भी कालिदास से बहुत पीछे है। इस विषय में मैकडानल आदि विद्वान् भी सहमत हैं। इसलिये कालिदास ईस्वी संवत् से पूर्ववर्त्ती होने चाहियें। अतः विक्रम का भी वही काल निश्चित हुआ।

वर्ण-व्यवस्था का तुलनात्मक—अनुशीलन

(ले० पं० धर्मदेव सिद्धान्तालङ्कार, विद्यावाचस्पति)

वर्णव्यवस्था भारतीय समाज शास्त्र की आधार शिला है। श्रम-विभाग के द्वारा सारे समाज का संरक्षण इसका मुख्य तत्त्व है। वर्ण व्यवस्था इस कल्पना वा भावना को पहले से मान कर प्रवृत्त होती है कि सारा समाज एक शरीर के समान है और व्यक्ति उसके भिन्न २ अंगों के समान हैं जिनके परस्पर सहयोग से ही समाज-रूपी शरीर की स्थिति रह सकती है, अन्यथा नहीं। इस विषयक कल्पना पर जब हम तुलनात्मक विचार प्रारम्भ करते हैं तो हमारी दृष्टि इङ्गलैंड के समाज शास्त्रों के शिरोमणि हर्बर्ट स्पेन्सर के Principles of Sociology नामक ग्रन्थ पर जाती है जिसमें Society is an Organism शीर्षक का लेख विशेष मनन करने योग्य है। वैसे तो इस सारे लेख के अन्दर ही समाज शास्त्र विषयक उत्तम तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है, पर निम्न लिखित कुछ उद्धरणों का देना यहां अत्यावश्यक मालूम देता है, जो वर्ण व्यवस्था के आधार भूत श्रम-विभाग (division of labour के) सिद्धान्त पर प्रकाश डालने वाले हैं।

अपने 'समाज शास्त्र के सिद्धान्त'

नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग के २ रे अंश में हर्बर्ट स्पेन्सर लिखते हैं:—

"The division of labour is that which in the Society, as in the animal, makes it a living whole. Scarcely can I emphasize enough the truth that in respect of this fundamental trait, a social organism and an individual organism are entirely alike. we can not but admit that mutual dependence of parts is an essential characteristic."

Principles of Sociology
by Herbert Spencer
vol I. Part II. P. 440

इसका तात्पर्य यह है कि यह श्रम विभाग ही है वो एक जानवर और मनुष्य समाज को बनाता है। मैं इस सचाई को जोरदार शब्दों में प्रकट किये बिना नहीं रह सकता कि इस मुख्य चिन्ह के बारे में सामाजिक और वैयक्तिक शरीर बिल्कुल एक जैसे हैं। यह माने बिना हम नहीं रह सकते कि अवयवों का एक दूसरे पर आश्रय—यही दोनों का प्रधान चिन्ह है।

वर्ण व्यवस्था के मूल में यह सिद्धान्त काम करता है कि जो जिस काम के लिये सब से अधिक योग्य है उसे उसी काम में लगाना चाहिये। प्रत्येक को बिना अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों का ख्याल किये हुए हर एक तरह के काम में नहीं लग जाना चाहिए। इस तरह काम करने का परिणाम यह होता है कि कार्य योग्य रीति से योग्यों द्वारा नहीं हो सकता। भगवान् श्री कृष्ण ने 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः पर धर्मो भयावहः॥' इत्यादि श्लोकों में इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है। स्वधर्म का तात्पर्य वहां आन्तरिक प्रवृत्तियों से ही है। कल्पित मतमतान्तरों से नहीं। वर्ण व्यवस्था का आधार श्रम विभाग पर है जिसका तत्त्व ही यह है कि यतः समाज में सब व्यक्ति एक ही तरह के शारीरिक या मानसिक कार्य नहीं कर सकते अतः प्रत्येक अपनी २ योग्यता और शक्ति के अनुसार समाज सेवा करे। प्राचीन समय में इसी लिये यह यत्न होता था कि ब्राह्मणकुलोत्पन्नों के अन्दर ब्राह्मणोचित प्रवृत्तियों की ही निरन्तर वृद्धि की जाए ताकि वे उनके द्वारा समाज की सेवा खूब अच्छी तरह कर सकें-यही नियम क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों पर भी लागू था। इस विचार के साथ हर्बर्ट स्पेन्सर के निम्न लिखित लेख की तुलना बड़ी आश्चर्य जनक है—

"There is the truth that in both kinds of organism, the vitality increases as fast as the functions become specialized. In either case, before there exist structures severally adapted for unlike actions, they are ill-performed, and in the absence of the developed appliances for furthering it, the utilization of one another's service is but slight. But along with advance

of organisation, every part more limited in its office, performs its office better, the means of exchanging benefits become greater, each aids all and all aid each with increasing efficiency, and the total activity we call life, individual or national, augments."

Principles of Sociology P. 477

अर्थात् यह एक सच्चाई है कि वैयक्तिक और सामाजिक शरीरों में जब उनके व्यापारों का विशेषीकरण हो जाता है अर्थात् उन्हें करने वाले पृथक् २ होते हैं तो उनकी कार्य शक्ति बढ़ जाती है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उनका व्यापार ठीक तौर पर नहीं होता और वे एक दूसरे की सेवा से पूरा २ लाभ नहीं उठा सकते। किन्तु जब व्यवस्था की वृद्धि हो जाती है अर्थात् भिन्न २ कार्य भिन्न अवयवों और व्यक्ति समुदायों को सौंप दिये जाते है तब प्रत्येक अवयव अपने कार्य के नियमित होने के कारण उस कार्य को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता है। एक दूसरे से लाभ उठाने के साधन बढ़ जाते हैं, प्रत्येक अवयव समुदाय की और समुदाय प्रत्येक अवयव की अधिक क्षमता के साथ सहायता करता है और इस तरह सम्पूर्ण क्रिया-कलाप जिसे हम वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन के नाम से कहते हैं वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

यह लेख स्पष्ट रूप से वर्णव्यवस्था के आधार भूत सिद्धान्तों का समर्थन करने वाला है।

भारतीय समाज शास्त्र व्यष्टि-वाद और समष्टिवाद का विरोध नहीं मानता बल्कि वर्णव्यवस्था के द्वारा उन दोनों का मिलाने का यत्न करता है। वस्तुतः जब तक इन दोनों वादों को मिलाया न जाए तब तक यथार्थ सुख और कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। वर्णव्यवस्था के अनुसार एक ओर तो प्रत्येक व्यक्ति को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में से किसी भी वर्ण-वृत्ति को चुनने की पूरी स्वतन्त्रता होती है और दूसरी ओर उस वृत्ति के द्वारा समाज सेवा करना व्यक्ति का मुख्य कर्तव्य होता है जिसके कारण व्यक्तियों को समाज पर और समाज को व्यक्तियों पर आश्रय रखना होता है। इसी व्यवस्था से ही व्यक्ति और समाज का कल्याण हो सकता है। इस विषय में हर्बर्ट स्पेन्सर ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक Social statics के General considerations नामक लेख में बताया है कि "अधिक से अधिक सुख की मात्रा प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि जहां एक ओर परस्पर आश्रय और सहायता (Mutual dependence) पर जनता का आधार हो वहाँ प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आन्तरिक इच्छा या प्रवृत्ति के अनुकूल काम करने का अवसर मिले।"

वर्णव्यवस्था में ही ये दोनों शर्तें पूरी हो सकती हैं इस में कोई सन्देह नहीं।

बौद्ध-धर्म का विदेशों में विस्तार

(ले० प्रो० सत्यकेतु जी विद्यालङ्कार)

५. खोतान (लीयुल) में कुमार कुस्तन

[२]

सम्राट् अशोक के समय विदेशों में बौद्ध-धर्म का प्रचार करने के लिये 'मोद्गलिपुत्त तिस्स' द्वारा जो महान् आयोजना हुई, उसी द्वारा खोतान में भी अनेक बौद्ध-भिक्षु धर्म का प्रचार करने के लिये गये। अशोक का पुत्र राजकुमार कुस्तन इस बौद्ध-मिशन का मुखिया था। इन भिक्षुओं ने किस तरह खोतान जैसे देश में बुद्ध की शिक्षाओं का प्रचार किया, इसका वर्णन कुछ तिब्बती ग्रंथों में उल्लिखित है। सम्भवतः ये तिब्बती ग्रन्थ खोतान की प्राचीन पुस्तकों के अनुवाद हैं। आज खोतान देश सभ्यता की दृष्टि से बहुत पीछे है। प्रायः यह देश मरुस्थल और जङ्गलों द्वारा आच्छादित है। परन्तु अब से कुछ सदी पूर्व ही यह एक उन्नत सभ्यता का केन्द्र था। यह मरुभूमि न होकर शस्य श्यामल क्षेत्रों से परिपूर्ण था। उस समय इसमें बौद्ध-धर्म का प्रचार था। सहस्रों ऊंचे ऊंचे स्तूप और बौद्ध विहार इस के हरे भरे मैदानों की शोभा बढ़ाते थे। पांचवीं सदी में फाइयान और सातवीं सदी में ह्यूनसांग भारत की यात्रा करते हुवे खोतान में भी पधारे थे। इन चीनी यात्रियों ने इस देश का जो वर्णन किया है, उस से प्रतीत होता है कि उस समय में सम्पूर्ण खोतान देश बौद्ध-धर्म का अनुसरण करता था। यहां पर अनेक शहर बौद्ध-सभ्यता और बौद्ध-शिक्षा के केन्द्र थे। विहारों में सहस्रों भिक्षु निवास करते थे। आजकल तुर्किस्तान और विशेषतः खोतान में जो खुदाई हुई है, उस से इस प्रदेश में बौद्धमूर्ति, स्तूप तथा विहार प्रचुर—मात्रा में उपलब्ध हुवे हैं। इन अन्वेषणों द्वारा इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं रह जाता कि एशिया के अन्य देशों की तरह खोतान भी बहुत समय तक बौद्ध-धर्म का अनुसरण करता रहा है। तिब्बती ग्रन्थों में खोतान में राजकुमार कुस्तन के प्रचार का जो वर्णन मिलता है, वह सर्वांश में विश्वसनीय नहीं है। अन्य प्राचीन इतिवृत्तों की तरह उस में भी बहुत सी असम्भव गाथायें मिला दी गई हैं। परन्तु सत्य वृत्तान्त को समझ सकना कठिन नहीं है। इधर उधर की असम्भव गाथाओं को अलग कर के असली कथा सरलता से पता लगाई जा सकती है। तिब्बती ग्रन्थों में उपलब्ध वृत्तान्त को संक्षेप में इस तरह लिखा जा सकता है:—

"बुद्ध काश्यप के दिनों में कुछ ऋषि लोग खोतान देश में आये। परन्तु लोगों ने उनके साथ बुरा बर्ताव किया। इस लिये वे वहां से चले गये। इस पर नागों को बहुत

कष्ट हुआ। उन्हों ने सारे खोतान देश को झील के रूप में परिणत कर दिया। जब बुद्ध शाक्यमुनि इस संसार में विद्यमान् थे, वे खोतान पधारे। उन्हों ने खोतान की झील को प्रकाश की किरणों से घेर लिया। इस प्रकाश से ३६३ फूल उत्पन्न हुवे। प्रत्येक कमल के मध्य में एक एक प्रदीप दीप्त हो रहा था। सारे कमलों का प्रकाश एक स्थान पर एकत्रित हो गया। इस प्रकाश ने झील के चारों ओर, बाईं तरफ से दाईं तरफ, तीन तरफ चक्कर लगाया। इसके बाद प्रकाश लुप्त हो गया। बुद्ध शाक्यमुनि ने अन्य भी अनेक इसी प्रकार के प्रयोग किये जिन के प्रभाव से यह झील सूख गई और फिर खोतान देश शुष्क हो गया।

"राजा अजातशत्रु ने ३२ वर्ष तक राज्य किया। अजातशत्रु के राज्याभिषेक के पांच वर्ष बाद भगवान् बुद्ध की मृत्यु हो गई। उनकी मृत्यु के बाद भी अजातशत्रु २५ साल तक राज्य करता रहा। अजातशत्रु से धर्माशोक तक कुल १० राजा हुवे। धर्माशोक ने ५४ वर्ष तक राज्य किया।

"बुद्ध भगवान् की मृत्यु के २३४ वर्ष बाद भारतवर्ष पर सम्राट् धर्माशोक का राज्य था। पहले यह राजा बहुत अत्याचारी और क्रूर था। इसने बहुत से आदमियों की हत्या की थी। परन्तु पीछे से अशोक धार्मिक बन गया। उसने 'अर्हत यश' द्वारा बौद्ध-धर्म की दीक्षा ली और भविष्य में कोई भी पाप न करने की प्रतिज्ञा की। .... इस समय तक खोतान की झील सूख चुकी थी परन्तु देश अभी आबाद नहीं था।

"राज्याभिषेक के ३० वें साल में महारानी के एक पुत्र उत्पन्न हुआ। ज्योतिषियों ने बतलाया कि इस बालक में प्रभुता के अनेक चिन्ह विद्यमान् हैं। यह अशोक के जीवनकाल में ही राजा हो जायगा। सम्राट् अशोक यह सुन कर घबराया। उस ने आज्ञा दी कि बालक का परित्याग कर दिया जाय। परित्याग कर देने पर भी भूमि द्वारा बालक का पालन होता रहा। इसी लिये उसका नाम कु-स्तन (कु = भूमि है = स्तन जिस की) पड़ गया।

'उस समय में रीगा (चीन) में एक बोधिसत्व राज करता था। उस के ९९९ पुत्र थे। रीगा के शासक बोधिसत्व ने वैश्रवण से प्रार्थना की कि उसके एक और पुत्र हो जाय ताकि संख्या पूरी एक हजार हो जावे। वैश्रवण ने देखा कि कुस्तन का भविष्य बहुत उज्वल है। वह उसे रीगा ले गया और बोधिसत्व के पुत्रों में सम्मिलित कर दिया। रीगा के राजा ने उस का पुत्रवत् पालन किया। परन्तु एक दिन जब कि उसका रीगाधिपति के पुत्रों के साथ झगड़ा हो रहा था, उन्हों ने उस से कहा— 'तू रीगा के सम्राट् का पुत्र नहीं है।' यह सुन कर कुस्तन को बहुत कष्ट हुआ। इस बात की सत्यता का निश्चय कर के उसने राजा से अपने देश का पता लगाने और वहां जाने की इजाज़त मांगी। इस पर राजा ने कहा—' तू मेरा पुत्र है, यह मेरा अपना देश है, तुम्हें दुखी नहीं होना चाहिये।' यद्यपि राजा ने

उसे यह कई बार कहा, पर उस ने एक न सुनी। कुस्तन ने यही चाहा कि उस का एक अपना राज्य हो। इस लिये उस ने अपने साथ १० हजार आदमियों को एकत्रित किया और उनके साथ अपना पृथक राज्य ढूंढने के लिये पश्चिम की तरफ चल पड़ा। इस तरह चलते चलते वह खोतान के 'मेस्कर' नामक स्थान में आ पहुँचा।

"सम्राट् धर्माशोक के मंत्री का नाम 'यश' था। इसका प्रभाव बहुत बढ़ रहा था। धीरे धीरे यह राजा को खटकने लगा। अतः 'यश' ने अपना पृथक् प्रदेश ढूंढने का निश्चय किया। वह अपने सात हज़ार आदमियों के साथ भारत छोड़ कर चला गया और पश्चिम तथा पूर्व में नये प्रदेश का अनुसन्धान करने लगा। इस प्रकार वह 'उ-थेन' नदी के दक्षिणवर्ती प्रदेश में जा पहुंचा।

"अब यह हुआ कि कुस्तन के आनुयायियों में से दो व्यापारी घूमते फिरते 'तो-ला' नामक प्रदेश में आये। यह प्रदेश ग़ैर-आबाद था। इस की रमणीकता को देख कर उन्हों ने विचार किया कि यह प्रदेश कुमार कुस्तन के रहने योग्य है। इसके बाद वे मन्त्री-यश के शिविर में पहुंचे। मन्त्री—यश 'तो-ला' स्थान से दक्षिण की तरफ ठहरा हुआ था। जब 'यश' को 'कुस्तन' के सम्बन्ध में पता लगा, तो उसने यह सन्देशा उसके पास भेजा— 'तुम राज घराने के हो और मैं भी एक उच्च घराने (मंत्री का घराना) का हूं। अच्छा हो कि हम मिल जावें और इस 'उ-थेन' प्रदेश में मिल कर बस जावें। तुम राजा बनो और मैं तुम्हारा मंत्री।' सन्देश को सुन कर कुस्तन अपने अनुयायियों के साथ यश के पास आया और कुस्तन नदी के दक्षिण में बस गया। यह देश 'हङ्ग-गु-जो' कहलाता है।

"कुमार और मन्त्री इस बात पर सहमत न हो सके कि कहां अपने घर बनाये जावें। उन के आनुयायियों में भी भेदभाव था। इस लिये वे आपस में झगड़ने लगे। परन्तु अब वैश्रवण और श्रीमहादेवी उनके सन्मुख प्रगट हुये। कुमार और मन्त्री ने दोनों देवों के लिये उस स्थान पर मन्दिर बनवा दिये और उन्हें अपने राज्य का शासक मान कर उन का सम्मान किया।

"इस तरह कुमार कुस्तन और मन्त्री यश में परस्पर समझौता हो गया। कुस्तन राजा बन गया और यश मन्त्री। कुमार के चीनी आनुयायी 'उ-थेन' नदी के निचले भाग में और मन्त्री के भारतीय अनुयायी 'उ-थेन' के उपरले भाग में बस गये। बीच में चीनी और भारतीय मिल जुल कर रहने लगे। तदनन्तर उन्हों ने एक दुर्ग का निर्माण किया।

"खोतन देश आधा चीनी है और आधा भारतीय, अतः लोगों की भाषा न तो भारतीय ही है और न चीनी, अपि तु दोनों का मिश्रण है। अक्षर बहुत कुछ भारतीय लिपि से मिलते जुलते हैं। लोगों की आदतें बहुत कुछ चीन से मिलती हैं। धर्म और भाषा

भारत के साथ मिलती हैं। खोतान में वर्तमान भाषा का प्रवेश आर्यों (बौद्ध प्रचारकों) द्वारा हुवा है।

"जिस समय कुस्तन रीगा के राज्य को छोड़ कर नये राज्य का अन्वेषण के लिये चला, उस समय उस की आयु १२ साल की थी। जब उसने ली-युल (खोतान) के राज्य की स्थापना की, तब वह १६ वर्ष की आयु का था। यदि भगवान् बुद्ध के निर्वाण से ठीक ठीक हिसाब लगाया जाय, तो निर्वाण के ठीक २३४ साल बाद लीयुल (खोतान) के राज्य की स्थापना हुई।"

इस के बाद तिब्बती ग्रन्थों में खोतान के अन्दर बौद्ध धर्म के इतिहास का उल्लेख है। इसे यहां उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। बौद्ध धर्म के प्रवेश के सम्बन्ध में इतना वृत्तान्त ही पर्याप्त है।

इस वृत्तान्त के अनुसार 'कुस्तन' और 'यश' अपने अनुयायियों के साथ खोतान में प्रचारक के रूप में नहीं गये अपि तु उपनिवेश-संस्थापकों के तौर पर गये। सम्राट् अशोक के समय भारत की राजनीतिक शक्ति प्रबल थी। विदेशों के साथ भारत का सम्बन्ध था। यहां से भारतीय लोग विदेश में आते जाते रहते थे। अनेक बौद्ध-प्रचारक धर्म का प्रचार करने के लिये बाहर गये। परन्तु तिब्बती ग्रन्थों का यह वृत्तान्त इतिहास के एक नवीन पहलू पर भी प्रकाश डालता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मौर्य-काल में उत्साही धर्म प्रचारकों ने नये नये प्रदेशों में बस्तियां बसाई। धार्मिक क्रान्तियों के समय प्रायः ऐसा हुआ भी करता है। धार्मिक सुधारणा के आवेश से नव-जीवन-प्राप्त जातियों का विकास एक ही दिशा में नहीं होता। वह विकास सर्वतो-मुख होता है। इस्लामी धार्मिक सुधारणा के बाद अरब लोगों का सर्वत्र प्रसार हुआ। यूरोप में १६ वीं सदी में जो धार्मिक सुधारणा हुई, उस के बाद नये आवेश के साथ यूरोपियन लोग सर्वत्र फैले। क्या आश्चर्य है कि बौद्ध धार्मिक सुधारणा के बाद भारत में भी यही हुआ हो! मौर्य साम्राज्य के प्रारम्भ में राजनीतिक विजेता के रूप में भारत की कीर्ति सर्वत्र फैली। अशोक ने इस विजय को तो जारी रक्खा, परन्तु शस्त्र-विजय के स्थान पर 'धर्म-विजय' का अलम्बन किया। यह 'धर्म-विजय' अन्य विजयों से अधिक उत्कृष्ट और स्थायी थी। अशोक के समय में धर्म प्रचारकों के रूप में भारतीय सर्वत्र विदेशों में गये। परन्तु इतिवृत्त से तो यह सूचित होता है कि वे उपनिवेश संस्थापक हो कर भी गये। खोतान के आबादी-शून्य प्रदेश को 'यश' की अध्यक्षता में भारतीयों ने और 'कुस्तन' के नेतृत्व में चीनियों ने आबाद किया। इन दोनों तत्त्वों से खोतान में जिस बौद्ध सभ्यता का विकास हुआ, उस में भारतीय और चीनी दोनों ही अंश विद्यमान थे। तिब्बती ग्रन्थों के इतिवृत्त से निम्नलिखित तथ्यों को पता लगा सकना कुछ भी कठिन नहीं है:—

(१) अशोक से पूर्व भी भारतीय प्रचारक खोतान में गये, परन्तु वहां वे अपना प्रचार करने में समर्थ

नहीं हुवे। उन्हें अपमानित हो कर वहां से लौटना पड़ा।

(२) किन्हीं दैवी आपत्तियों से यह देश नष्ट-भ्रष्ट हो गया और इसकी पुरानी आबादी का अन्त हो गया। भौगोलिक व भौतिक परिस्थितियों के परिवर्तन से प्रायः ऐसा होता रहता है।

(६) अशोक के समय 'मन्त्री-यश' इस प्रदेश में उपनिवेश बसाने के लिये गया। उधर चीनी लोग भी यहीं पर उपनिवेश की स्थापना के लिये आये। सम्भवतः, कुस्तन से पूर्व ही चीन में बौद्ध-धर्म का सन्देश पहुंच चुका था। कुस्तन के नेतृत्व में चीनी लोगों का एक दल खोतान में गया और वहां पर एक सम्मिलित (चीनी और भारतीय) बौद्ध सभ्यता का विकास हुआ।

हो सकता है, कि नागों द्वारा खोतान के जल-मय होने की बात सर्वथा गप्प ही हो। सत्य यही हो कि कुस्तन और यश के नेतृत्व में चीनियों और भारतीयों के दो दल खोतान में पहुँचे हों और इन्होंने वहां बौद्ध धर्म की स्थापना की हो। वास्तविक बात का पता लगाना असम्भव है, केवल कल्पना ही की जा सकती है। परन्तु इतना निश्चित है कि अशोक के समय में विदेशों में बौद्ध-धर्म को प्रचार करने के लिये जो बलवती लहरें भारत से चलीं थीं, उन्हीं द्वारा खोतान में भी बौद्ध-धर्म की स्थापना हुई थी।

टिप्पणीः—

जिन तिब्बती ग्रन्थों में खोतान में बौद्धधर्म के प्रचार की ये गाथायें उल्लिखित हैं, उनके तिब्बती नामों तथा उनके अभिप्राय को Rockhill ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक The Life of Buddha में दिया है।

"बुलबुल"

(ले० आचार्य)

ऐ सय्याद! तूने बुलबुल को क्यों कैद किया है? वह तो खुली हवा में स्वच्छन्द विचरने वाली चिड़िया है। यह सोने के पिंजरे का और अच्छे अच्छे खानों का लालच किसे देता है? यह लालच दे कुत्ते को, जो सूखे टुकड़े खाकर दिन-रात दुम हिलाता फिरेगा। बुलबुल से यह खुशामद न होगी। इसे तू दे ही क्या सकता है? वह तो खिले कमलों पर पड़े ओस के मोतियों की मालकिन है, आम्रवन में वसन्त में आयेहुए सुनहले मौर की अधीश्वरी है, बहते हुए रुपहले झरनों की रानी है। वह कैद हुई है तो भी रानी हो कर रहेगी। इस की शान वही होगी जो आम्र के सिंहासन पर बैठे बाग की हुकूमत करते वक्त होती थी। कैदिन होकर यह नौ-

किरानी न बनेगी। यह तेरी जय बुलाती न फिरेगी। वह तो सूरज के निकलने पर चमन में खिलते हुए फूलों से रोज़ अपनी जय जय सुनने की आदी है।

* * *

रे पागल, क्या सिखाता है! —बोलना। बुलबुल बोलना नहीं जानती। वह कभी जानेगी भी नहीं। 'गंगाराम' बोलना सिखा तोते को। बुलबुल 'गंगाराम' रटने के लिये पैदा ही नहीं हुई। वह पैदा हुई है सिर्फ गाने के लिये। गाने के अलावा बुलबुल ने दूसरी आवाज़ निकाली ही नहीं। जिस समय झरने की आवाज़ ताल दे रही हो, उपवन में साँ साँ करती हुई हवा तबला बजाती हो, उस समय बुलबुल तान छेड़ा करती है। बुलबुल हरेक को अपनी कूक नहीं सुनाया करती। यह गाना उस की खुशी और तबीयत की चीज़ है, बाज़ारू आदमियों के दिल बहलाव का सामान नहीं है। इस गाने के लिये तुम्हें खुद कैदी बनना होगा। बुलबुल खुद कैदी हो कर न सुनायेगी।

* * *

रे मूर्ख, तू हँसता है कि बुलबुल तेरी तरह गन्दी गलियों में घूमना नहीं जानती। तू सिखा रहा है 'चलना'। देख, बुलबुल के पैर गन्दगी में चलने के लिये नहीं बने हैं। वह तो उड़ा करती है—इस दुनियाँ से ऊपर नीले आकाश में विचरा करती है। वही इस की विहार भूमि है। झिलमिल करते हुए सप्तर्षि, लहराती हुई आकाशगंगा और लुकाछिपौनी खेलते हुए बादलों में चक्कर मारा करती है। गन्दी गलियों में घूमने के लिये किसी सूअर को ढूँढ-बुलबुल से यह काम न होगा। वह तो उड़ने वाली है। कल्पना के ऊपर संसार में वह उड़ा करती है। इस गन्दे संसार में वह चला नहीं करती, यहाँ तो वह कभी कभी दर्शन देने आया करती है। उस का निवासस्थान तो ऊपर, सब चिन्ता, दुःख, निराशा से पार, उस रुपहले लोक में है जहाँ गाना, सुख और आनंद के सिवा कुछ नहीं है।

* * *

रे ज़ालिम! तूने क्या किया! इस बुलबुल को हलाल कर डाला। इस की कीमत उस बाग से पूछना जहाँ वह तान छेड़ा करती थी। इस की कीमत जूही और चमेली से पूछना, जो इस के गुज़रने पर झुक झुक कर सलाम किया करती थीं।

इस की कीमत उन हिरणों से पूछना, जो इस के गाने पर आने को भूल जाते थे। इस की असली कीमत पूछनी हो तो उन ज़ख्मी हृदयों से पूछना, जो इस के गाने पर कभी आने को बलि दे चुके थे। बुलबुल चली गई ! कहाँ ?–ऊपर, जहाँ वह कभी गाने जाती थी। गई, जहाँ वह सैय्याद के पंजे में कभी न आयगी। गई, जहाँ अप्सरायें उस के साथ हर वक्त गाया करेंगी। जाती हुई उन रसिकों के हृदयों को भी चुरा ले गई जिन्हों ने उसे अपने दिल देकर बदले में पाया था: —

"तान, स्वर और मिठास"

कर्मयोग क्या है ?

(ले० श्री पं० देवेश्वर जी सिद्धान्तालङ्कार)

यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय वैदिक कर्मयोग की सुन्दर परन्तु संक्षिप्त व्याख्या है। "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छत ं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे"—यह कर्मयोग का उपदेश है। 'वासना' अर्थात् 'विषयसुख' की इच्छा और निचले दर्जे के स्वार्थ का त्याग कर के, कर्म करो, यह वेद की आज्ञा है। अपने पुरातन कर्मों के अनुसार जिस अवस्था मे हम है, जिन देश–काल तथा निमित्तों से हम घिरे हुए हैं, उन अवस्थाओं में हमारे जो कर्तव्य हैं उनका धैर्य, शान्ति और परमेश्वर पर विश्वास रख के पूरे करते जाना ही कर्मयोग है। सांसारिक पुरुषों के कार्यों में प्रायः कर्तृत्व का अभिमान और स्वार्थ सर्वत्र मिला रहता है। मैंने अमुक काम किया, इस का फल मुझे ऐसा मिलेगा वा मिलना चाहिये—इस प्रकार की 'फल–याचनात्मक–वृत्ति' को परे रख कर कार्य करना और वासना का लेशमात्र भी मन में प्रवेश न होने देना,—बस यही कर्मयोग का लक्षण है।

'उद्देश्य' और 'फल' में फर्क करना चाहिए। उद्देश्य को 'प्रयोजन' भी कह सकते हैं। बगैर प्रयोजन के कार्य करना तो संभव ही नहीं। यदि बगैर आदर्श को सम्मुख रक्खे कार्य किया जावेगा तो वह सिद्धि दायक नहीं हो सकता क्योंकि उस में मनुष्य की प्रवृत्ति ही नहीं होगी। लोकोक्त है,—प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोपि प्रवर्तते। बगैर इष्ट को सामने रक्खे मूर्ख आदमी भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता। प्रत्येक कार्य करने में मनुष्य का इष्ट वा ध्येय तो अवश्य होगा परन्तु यह इष्ट या ध्येय यदि तो कोई ऊंचा आदर्श है, कोई सात्विक उद्देश्य है तब तो उस के कर्म 'निष्काम' होंगे और यदि स्वार्थमय कोई सांसारिक–फल–प्राप्ति ध्येय है तब उसके कर्म 'सकाम' कहे जावेंगे।

सकाम कर्म करने वालों को यदि

किसी कारणवश फल प्राप्त नहीं होता वा उस में देरी होती है तो वे धैर्य को हाथ से खो देते हैं जिससे उन का कार्य कभी स्थिर और पूर्ण नहीं होता। जो मनुष्य यश के लिए, मान प्रतिष्ठा के लिए ही काम करता है उसको यश वा मान न मिलने, वा मिले भी तो देरी से मिलने पर वह कातर हो जाता है परन्तु जो मनुष्य दूसरों की सेवा और सत्य के प्रचार का अपना कर्तव्य और ईश्वर की सेवा समझ कर करता है वह फल की प्रतीक्षा में नहीं रहता और इस प्रकार उसकी मानसिक दृढ़ता सदैव एक सी बनी रहती है। वह मनुष्य एक ही धुन से काम करता रहता है। उसके कार्य का परिणाम दूसरे मनुष्य से जो किसी वासना-यश वा तुच्छ स्वार्थ से प्रेरित हो कर काम करता है कई गुणा अधिक होता है। निष्काम कर्म करने का मतलब यह नहीं कि कर्म करते हुए कोई लक्ष्य हमारे सन्मुख न हो; तात्पर्य केवल इतना है कि निज के लिये कर्ता किसी स्वार्थ-प्राप्ति को दृष्टि में न लावे—कार्य कर के यह समझे कि मैंने परमेश्वर की आज्ञा पूरी की है, अपना कर्तव्य निबाह दिया है, इस का फल उसी परमदेव के अर्पण है जिस की शक्ति से मैं और यह सारा ब्रह्माण्ड रचा गया और चलायमान है और जिसकी शक्ति हमें कर्म करने का सामर्थ्य दे रही है। यह भी स्मरण रखने योग्य बात है कि निष्काम कर्म करने से कर्म का फल रुक नहीं जाता और न सकाम कर्म करने से कर्म का फल जल्दी प्राप्त होने लगता है। कर्म का फल तो सृष्टि के नियमों के अनुसार मनुष्य को मिलता ही है, पर कार्य जिस २ भावना से किया जाता है उस २ के अनुसार उस के फल में बहुत अन्तर पड़ जाता है। उच्च सात्विक भावना और ईश्वरभक्ति से किए काम न केवल शुद्ध, पवित्र और धार्मिक होते हैं अपितु उनका फल भी चाहे देर में निकले पर स्थिर और महान् होता है। 'यत्तदग्रेविषमिव परिणामेऽमृतोपमम्'—ऐसे काम शुरू २ में कड़वे होते हैं, उन से कोई आनन्ददायक फल प्राप्ति नहीं होती, पर पीछे से अमृत के समान मीठा फल होता है। ऐसे काम वही कर सकता है जो ईश्वर पर विश्वास रखता हो वा कर्मों के नियम में अटल श्रद्धा रखता हो और जिसका चित्त तात्कालिक-फल-प्राप्ति-रूप-वासना से दोलायमान न हो। सकाम कर्म करने वाले सांसारिक लोगों की दृष्टि दूर तक नहीं जाती और यदि उन के किसी काम का फल साल दो साल वा चार साल में उन के सन्मुख न आ जावे तो वे विह्वल हो जाते हैं, उस कार्य को त्याग देते हैं, जब कि योगी महात्मा सारे दुःखों का सहन करते हुए आयु भर परोपकार में लगे रहते हैं और मरते हुए कभी इस बात से कातर नहीं होते कि हमारे किए का फल नहीं निकला, लोगों ने हमारे कार्य की कदर नहीं की, हमें यश नहीं मिला, लोग हमारे पीछे नहीं चले—उनका यह विश्वास रहता है कि अभी फल नहीं निकला तो हमारे पीछे निकलेगा—और चाहे फल ना ही

निकले, यह हमारा कर्तव्य था, इस को हम ने पूरा कर दिया, हम ने परमेश्वर की आज्ञा का पालन किया। कर्मयोगी कहता है कि "हे प्रभु! किसी को धन की, किसी को यश की, किसी को पुत्रों की, किसी का स्वर्ग की कामना है, पर मुझे तो तेरी ही प्रसन्नता और भक्ति अभीष्ट है।" ऋषि दयानन्द के कार्य की उन के जीवन काल में इतनी कदर नहीं हुई बल्कि विरोध ही अधिक रहा—पर मरते हुए वह इस से निराश न थे, मृत्यु के समय इस महात्मा योगी ने यह कहते हुए प्राण त्यागे —"हे प्रभु! अहा! तूने अच्छा किया! अहा! तूने अच्छी लीला की! तेरी इच्छा पूर्ण हो!!"

यह है कर्मयोगी का जीवन। सारी आयु भर जो कुछ काम किया, वह ईश्वर के अर्पण कर के किया। स्वार्थ के लिये फल की कोई आशा उन्हों ने नही रक्खो। इस बात के लिए उन्हें मरते हुए कोई चिन्ता न थी कि उनके काम का लोगों ने मान किया वा नहीं अथवा उन्हें उसमें सफलता हुई वा नहीं। ऋषि दयानन्द के सन्मुख जो लक्ष्य रहता था वह भर्तृहरि के श्लोक में उन्होंने स्वयं ही लिखा है:—

> निन्दन्तु नीति निपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
> लक्ष्मी समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
> अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
> न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

जो कर्मयोगी होता है, वह अपने लक्ष्य को प्राप्ति में लगा हुआ इस बात की कुछ भी परवा नहीं करता कि राजनैतिक लोग उस की प्रशंसा करते हैं वा निन्दा, क्यूंकि Polititians और Diplomats तो वक्त २ के अनुसार अपनी सम्मतियें सदैव बदला ही करते हैं। और धार्मिक को न इस बात की कुछ परवा होती है कि संसार का ऐश्वर्य और धन संपत्ति उसे प्राप्त होती है, वा उसे गरीबों का जीवन बिताना पड़ता है, यहां तक कि न्याय वा धर्म मार्ग पर और सचाई का पालन करते हुए मृत्यु भी आये तो उसे वह आनन्द से स्वीकार करता है।

कर्मयोगी अपने लक्ष्य की प्राप्ति और उसके साधन में इतना मग्न रहता है कि उसे अपने सुख, दुख वा भोगों की तो क्या, अपने शरीर का भी मोह नहीं रहता और जनकदेव की तरह कर्मयोगी विदेह अर्थात् देह की ममता से शून्य हो जाता है। ऐसे कर्मयोगियों की कक्षा में सुकरात, बुद्ध-भगवान् और ईसा मसीह का नाम भी लिखा जायगा। इन सब का लक्ष्य अपने जीवन को परमेश्वर के चरणों में अर्पण कर के काम करने का रहा है और भगवान् की कर्ममयी उपासना करते हुए ही इन लोगों ने प्राण त्यागे हैं। कर्मयोगी का ध्येय भर्तृहरि ने एक दूसरे श्लोक में यूं वर्णन किया है:—

> क्वचित्कन्थाधारी क्वचिदपि च दिव्याम्बरधरः,
> क्वचिद्भूमिशय्यः क्वचिदपि च पर्यंकशयनः।
> क्वचिद्भक्ष्यावृत्तिः क्वचिदपि च मिष्टाशन रुचिः,
> महात्मा योगज्ञो न गणयति दुःखं न च सुखम्॥

कर्मयोगी पुरुष अपने लक्ष्य में लगा हुआ जीवन के सुखों और दुःखों को नहीं गिनता। अपने लक्ष्य की प्राप्ति में लगे हुए यदि कभी चिथड़े भी पहनने पड़ें तो वह उन्हें इतनी ही प्रसन्नता से

पहनता है जैसे कोई उत्कृष्ट वस्त्रों को धारण करता है। भूमि पर सोना पड़े तो वह इतनी ही प्रसन्नता से गाढ़ नींद में सोता है जैसे कि कोई गद्देलों वाले पलंग पर। इसी तरह भीख मांग कर प्राप्त किए भोजन को को, जिस के मिलने का कोई समय नियत नहीं, खाता हुआ वह उसी आनन्द को अनुभव करता है जैसे कोई रुचि और इच्छानुसार बने हुए षट्रस पदार्थों के भोजन में करता है। इस के साथ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि कर्मयोगी उसे नहीं कहते जो फटे पुराने कपड़ों में रहे, ज़मीन पर साने वाला हो या भीख माँग कर आज कल के मगते साधुओं का तरह मुश्किल और तंगी से वक्त गुज़ारे और अपनी शक्ति या समय का वृथा नष्ट करे, प्रत्युत् कर्मयोगी वह है जो धर्म और परोपकार या आत्मिक उन्नति के मार्ग पर चलता हुआ इन सब कष्टों को भी, आ पड़ने पर सुखवत् धारण करे। हमें इस समय उदयपुर के स्वनामधन्य महाराणा प्रतापसिंह का स्मरण हो आता है जिन्होंने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए व्रत धारण किया था कि जब तक उदयपुर स्वतन्त्र नहीं हो जावेगा वे भिक्षुकों की तरह पत्तों की थाली में भोजन करेंगे और भूशय्या को ही अपना बिस्तर बनावेंगे। महाराणा ने जङ्गलों में वृक्षों के तले तपस्वी बनवासियों की तरह अपना जीवन उसी प्रकार सुख और धैर्य से बिताया जैसे कि सुख से राजमहलों में रहते थे और अन्त को अपने ध्येय को प्राप्त किया। सुकरात ने सत्य का प्रचार करते हुए दूसरों के उपकार में अपना तन और मन लगा दिया, अतन्तः सत्य की रक्षा के लिए विष का प्याला भी पी लिया, पर जान बचाने के लिए सत्य से विमुख होना स्वीकार नहीं किया। उसी दिन उसका नाम कर्मयोगियों में लिखा गया। ईसामसीह ने भी दूसरों को सत्य के मार्ग पर ले जाने की कोशिश में ही अपने प्राण दिए और लोगों ने तब से उसको ईश्वर का पुत्र करके मानना शुरू कर दिया। बुद्ध ने तो अपना सारा जीवन ही— 'अहिंसा परमो धर्मः'— प्राणिमात्र की रक्षा ही शुद्ध धर्म है, अपने जीवन को शुद्ध और धार्मिक बना के दूसरों की रक्षा और सेवा ही उच्च आदर्श है इस सिद्धान्त के प्रचार में लगा दिया। इस से प्रतीत हुआ कि कर्मयोगी वह है जो परमार्थ को ही स्वार्थ बनाता है और जो अपनी सारी शक्ति बुद्धि और संपत्ति उस विश्व की नियन्त्रिणी शक्ति के अर्पण कर देता है जिस का ये सब खेल है। ऐसा कर्मयोगी कभी पाप नहीं कर सकता, न पाप मार्ग में उस की प्रवृत्ति हो सकती है। वह मनुष्य जो अपना मन, प्रेम, और शारीरिक शक्ति सच्चे भाव से भगवान् के चरणों में भेंट चढ़ा चुका है कैसे काम, क्रोध, लोभादि विषयों में अपने को बली दे सकता है। ऐसा कर्मयोगी अगाध समुद्र की तरह शान्त, हिमालय पर्वत के सदृश स्थिर और पृथ्वी की तरह धैर्ययुक्त होता है। उसके जीवन को देख कर यह अनुभव हो सकता है कि "ईश्वर-भक्ति" के क्या अर्थ हैं।

कर्मयोगी दीर्घदर्शी होता है, वह शीघ्र किसी कर्म के फल की आशा नहीं रखता और ना ही वह कभी अधीर होता है। ईश्वर के चरणों में धरी हुई भेंट, उपासक को कई गुणा अधिक कीमत की बन कर वापिस मिलती है, इस सिद्धान्त पर उसका विश्वास रहता है। ऋषि दयानन्द उन सब ही कर्मयोगियों में जिन के नाम हमने गिनाए हैं उच्च दर्जे के कर्मयोगी थे। ऋषि दयानन्द जब रावलपिंडी में ठहरे हुए थे तब एक दिन सायंकाल को वह भ्रमण के लिये सर्दारों के बाग़ की तरफ़ बाहर गए। उनके साथ कुछ नव युवक थे। रास्ते में से एक ने स्वामी जी से मार्ग पर लगे वृक्षों की तरफ़ संकेत करके कहा— "स्वामी जी! देखिये, वृक्षों में जो बड़े कागज़ (बोर्डस्) लटक रहे हैं उन पर क्या लिखा है?" स्वामी जी ने पढ़ कर उत्तर दिया— "बच्चा! जिन वृक्षों के ऊपर तुम हमारे प्रति आज गालियां लिखी हुई देखते हो इन्हीं के नीचे कभी तुम हमारा यशगान भी सुनोगे।" जिस सज्जन ने स्वामी जी से यह मज़ाक का सवाल किया था, उसी ने बतलाया कि सुनने की तो क्या बात थी हम ने स्वयं उन्हीं वृक्षों के नीचे स्वामी जी महाराज का यशगान किया। यह कर्मयोग का जीवन है। कर्मयोगी इस विश्व के कर्त्ता को उसकी रचना में देखता है और सब भूतों में आत्मदर्शन करता हुआ राग और द्वेष से अलग रहता हुआ भी यावज्जीवन परोपकार के कर्मों में लगा रहता है। निष्काम कर्म, कर्मयोग तथा ईश्वर भक्ति एक ही भाव के अभिव्यञ्जक तीन शब्द हैं।

सम्पादकीय

दूसरा वर्ष

इस अङ्क के साथ "अलंकार" का दूसरा वर्ष समाप्त होता है। जिस उद्देश्य से यह पत्र प्रारम्भ किया गया था उसे सन्मुख रखते हुए हम ने एक और साल पाठकों की सेवा में व्यतीत कर दिया है। गम्भीर विषयों पर उच्च कोटि के विद्वानों तथा योग्य स्नातकों के लेखों की कमी नहीं रखी गई। धर्मों तथा सभ्यताओं के तुलनात्मक अध्ययन पर योग्यतापूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे हैं। आध्यात्मिक विषयों पर भी अनेक लेख निकल चुके हैं। पिछले दिनों "अलंकार" का सन्तति-शास्त्राङ्क (Eugenics-Number) प्रकाशित हुआ था, जिस की हिन्दी के सभी समाचार पत्रों ने मुक्त-कण्ठ से प्रशंसा की थी। हिन्दी संसार में यह नया ही काम था। इस आवश्यक विषय पर इतना कम लिखा पढ़ा गया है कि "अलङ्कार" का सन्तति-शास्त्रांक तो हाथोंहाथ निकल ही गया, परन्तु उसके साथ हमारे पास सैंकड़ों पत्र भी आये जिन में इसी प्रकार के और भी विशेषाङ्क निकालने पर अनुरोध किया गया था। इस प्रकार के ठोस साहित्य के साथ २ "अलङ्कार"

के प्रत्येक अंक में, कलेवर को दृष्टि में रखते हुए, मनोरञ्जक भाग का हिस्सा भी कम नहीं रखा गया। समालोचकों का कथन है कि "अलंकार" की कविताओं को पढ़ कर सिर झूम जाता है। "श्रीयुत् गुप्त" की गल्पों को पाठकों ने बहुत पसन्द किया है। अलंकार में जो लेख मालाएं निकलती रही हैं वे हिन्दी के किसी भी पुस्तकालय की शोभा को बढ़ा सकती हैं। इस वर्ष इस बात को अनेक पुस्तकालयों ने अनुभव भी किया है और "अलंकार" की पुरानी फ़ाइलें मंगा कर अपने २ पुस्तकालयों को अलंकृत किया है। यदि इन बातों से ही किसी पत्र की कृत्कार्यता को जांचा जा सकता है तो हम निस्संकोच भाव से कह सकते हैं कि "अलंकार" का दूसरा वर्ष, प्रथम वर्ष की अपेक्षा भी अधिक सफलता से बीता है।

अगला वर्ष

अब हम ने तीसरे वर्ष में पदार्पण करना है। हम ऊंचे उद्देश्यों और स्वप्नों को लेकर चले थे। हमारा उद्देश्य रंग-बिरंगे चित्र इकट्ठे कर ग्राहक-संख्या बढ़ाने का कभी नहीं रहा। बाहर की टीप-टाप पर ही "अलंकार" ने जीना होता तो यह दो साल तक भी नहीं जी सकता। "अलंकार" को हम छपे हुए चिकने काग़ज़ों का ढेर नहीं बनाना चाहते। हम चाहते हैं कि "अलंकार" के एक २ पृष्ठ की कदर हो, उस के एक २ वाक्य को बहुमूल्य समझा जाय। शायद यही कारण है कि इतना लघु-काय होते हुए भी "अलंकार" ने साहित्यिक संसार में अपनी स्थिति बना ली है। हम अगले वर्ष के लिये पाठकों के सन्मुख क्या आशाएँ रखें ? हम अपने पाठकों को यही कहना चाहते हैं कि हम अपने उद्देश्य को कभी ओझल होने नहीं देंगे। "अलंकार" का जन्म उत्तम साहित्य उत्पन्न करने के लिये हुआ है। "अलंकार" के संचालकों की हार्दिक इच्छा है कि हिन्दी में ऐसे पाठकों की संख्या निरन्तर बढ़े जिन की साहित्य की तरफ़ रुचि हो, जो गम्भीर विषयों का अनुशीलन करते हुए उकता न जाँय, किस्से-कहानियां पढ़ने और चित्र देखने तक ही अपने साहित्यिक परिशीलन को सीमित न रखें। हम अपने प्रेमी पाठकों को निश्चय दिलाते हैं कि हम "अलंकार" के तीसरे वर्ष को दूसरे की अपेक्षा भी अधिक उज्वल बनाने का प्रयत्न करेंगे। अन्य विषयों के साथ २ आध्यात्मिक विषयों पर भी अधिक लेखों का संग्रह किया जायगा और प्रत्येक अङ्क में वेद-विषयक एक न एक उत्तम लेख अवश्य रहा करेगा।

अग्निहोत्र पर लेख

पाठकों को ज्ञात ही है कि "अलंकार" के शताब्दी अंक में गुरुकुल के सायन्स के उपाध्याय महोदय का अग्निहोत्र पर एक खोजपूर्ण लेख प्रकाशित हुआ था। उस लेख की चर्चा बहुत देर तक विद्वानों में रही क्योंकि अभी तक इस विषय का इतना अनुसन्धान और अन्वेषण किसी ने नहीं किया था। उस के सम्बन्ध में अब तक हमारे पास पत्र आते रहते हैं

और जिज्ञासु लोग अपनी शंकाओं का समाधान करते रहते हैं। जितना अन्वेषण का कार्य उस लेख में छपा था उस से आगे भी अब कुछ कार्य हो चुका है और आगामी अंक में ही हम पाठकों के सन्मुख योग्य उपाध्याय द्वारा किये गये परीक्षणों का सार रखेंगे। इन परीक्षणों को करने में जितना परिश्रम लगता है उसे दृष्टि में रखते हुए कहा जा सकता है कि इस प्रकार का एक लेख ही "अलंकार" के जीवन को सफल बना सकता है। हम तो यहां तक कहने के लिये तैयार हैं कि यदि हमारे कुछ भाई इस प्रकार के गहन विषयों को समझ न सकें तो भी ऐसे विषयों का संग्रह ही बड़ा महत्व पूर्ण कार्य है क्यों कि क्या मालूम, कब कोई जौहरी आकर, किस रत्न का, क्या मूल्य बतला जाय!

पाठकों का कर्तव्य

विद्वत्ता पूर्ण लेखों का संग्रह करना हमारा काम है परन्तु "अलंकार" के पृष्ठों को बढ़ा देने का काम पाठकों के हाथ में है। हम अपने पाठकों से कई वार आग्रह कर चुके हैं कि वे "अलंकार" की ग्राहक संख्या बढ़ाने में हमारा सहयोग दें। अभी तक बहुत थोड़े भाइयों ने इस तरफ़ ध्यान दिया है। इस उदासीनता के होते हुए हमारा इस कठिन कार्य को चला सकना किस प्रकार सम्भव है? हम चाहते हैं कि "अलंकार" की पृष्ठ संख्या बढ़ा दी जाय। मौके २ पर हम किसी २ अंक में ८-१० पृष्ठ बढ़ाते भी रहे हैं। परन्तु यदि वर्तमान पाठकों का पूरा २ सहयोग हो तो "अलंकार" की कलेवर-वृद्धि का प्रश्न बड़ी आसानी से हल हो सकता है। हम अपने पाठकों से बल-पूर्वक कहना चाहते हैं कि "अलंकार" आपका अपना पत्र है। इस की सफलता का सारा दारोमदार आप पर है। आप से किसी प्रकार की आर्थिक सहायता भी हम नहीं मांगते। हम मांगते हैं, केवल ग्राहक। क्या आप अपने मित्रों में से दो-चार को भी "अलंकार" का ग्राहक बनने के लिये प्रेरित नहीं कर सकते? कर सकते हैं, परन्तु आप ने उद्योग ही नहीं किया। यदि प्रत्येक ग्राहक दो-दो नये ग्राहक बना दे तो जहां एक तरफ़ हमें किसी प्रकार की आर्थिक हानि न उठानी पड़े वहां "अलंकार" की पृष्ठ-संख्या भी बड़ी आसानी से बढ़ाई जा सके। क्या हम आशा करें कि "अलंकार" के प्रेमी पाठक इस अपील पर कुछ ध्यान देंगे?

गुरुकुल--रजत--जयन्ती

पाठकों को समाचार-पत्रों द्वारा यह सूचना मिल ही चुकी होगी कि अगले वर्ष गुरुकुल को स्थापित हुए २५ वर्ष व्यतीत हो जायेंगे और इसी के उपलक्ष्य में गुरुकुल की रजत-जयन्ती (सिल्वर जुबिली) भी बड़ी धूम-धाम के साथ मनाई जायगी। गुरुकुल-महायज्ञ को रचे २५ साल बीतने की खुशी का सुअवसर सारे भारतवर्ष में आनन्द और उल्लास का प्रवाह करने वाला होगा, क्योंकि उस समय हमारी जाति, समूह

रूप से, मिलकर, यह घोषणा कर सकेगी कि, उसने दिन-रात जागकर अपनी तुच्छ परन्तु श्रद्धावासित आहुतियों से जातीय-शिक्षा की यज्ञाग्नि को अबतक प्रदीप्त रखा है और उसे ऐसी अवस्था तक पहुँचा दिया है जहां किसी प्रकार का भी विषम वायु का झोंका उसे हानि नहीं पहुँचा सकता। गुरुकुल शिक्षा-प्रणाली के आधार-भूत सिद्धान्तों ने आज भारतवर्ष के शिक्षा-क्षेत्र में हलचल मचा दी है और ऋषि दयानन्द के प्रतिपादित किये हुए उन मौलिक सिद्धान्तों के सन्मुख भारत के ही नहीं, संसार भर के शिक्षाविज्ञ सिर झुका रहे हैं। गुरुकुल ने ऋषियों की लुप्त होती हुई पुरातन सभ्यता की स्वर्गीय झलक प्रकृतिवाद से पादाक्रान्त इस युग में फिरसे ला दिखाई है और भारत देश के धार्मिक, सामाजिक तथा जातीय-जीवन में नवीन प्राण का सञ्चार कर दिया है। गुरुकुल से शिक्षा प्राप्त स्नातकों में से अधिकांश ने धर्म तथा मातृभूमि की सेवा के लिये प्रण किया हुआ है और परमात्मा की कृपा से उन्हें अपने संकल्पों को निबाहने में सफलता भी प्राप्त हो रही है। ऐसी अवस्था में हृदयों में उत्साह भर के अभी से आर्य्य नर-नारियों को रजत-जयन्ती (सिलवर जुबिली) को आशातीत सफल बनाने की चिन्ता प्रारम्भ कर देनी चाहिये ताकि यह अवसर, जहाँ आर्य्य-जाति के लिये नव-युग का सन्देश लाने वाला हो वहाँ गुरुकुल के इतिहास में भी चिरकाल तक स्मरण किया जाता रहे।

गुरुकुल की रजत-जयन्ती की सफलता के लिये अन्य बहुत से प्रोग्राम जनता के सन्मुख रखे ही जावेंगे परन्तु उनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रोग्राम यह है कि इस अवसर पर गुरुकुल के लिये स्थिर कोष एकत्रित किया जाय। आर्य्य-जनता को यह बतलाने की आवश्यकता नहीं कि गुरुकुल कितनी उपयोगी संस्था है और ना ही जनता से गुरुकुल की आवश्यकताएँ छिपी हुई हैं। गुरुकुल के लिये स्थिर कोष जमा कर देना कोई कठिन काम नहीं है। अभी तक आर्य्य भाइयों ने इस कार्य्य के लिये गम्भीरता पूर्वक उद्योग ही नहीं किया है। गुरुकुल रजत-जयन्ती का समय ऐसा है जब कि आर्य-जनता अपनी प्रिय संस्था को सदा के लिये स्थिर करने का विचार कर सकती है और पूरा पूरा उद्योग किया जाय तो उस में सफलता भी हो सकती है। इस महान् कार्य को उस थोड़े से समय में पूर्ण कर सकना, जो हमारे सन्मुख है कठिन मालूम पड़ता है, परन्तु कठिन कामों को साहस से सहल बना देना आर्य-जनता का जन्मसिद्ध गुण है और हमें पूरी आशा है कि इस साल के उद्योग से 'गुरुकुल-सिलवर-जुबिली' के उपलक्ष्य में गुरुकुल का स्थिर कोष अवश्य हो जायगा।

इस समय तक गुरुकुल का कोष ५ लाख के लग-भग है। यदि १० लाख रुपया स्थिर कोष में और जमा हो जाय तो गुरुकुल की नींव सदा के लिये जम जाय और और आर्य्य-जनता साधारण से परिश्रम से इस संस्था को चलाती रहे। गुरुकुल में उच्च से उच्च शिक्षा मुफ़्त दी जाती है। इस समय तीन महाविद्यालय बड़ी सफलता पूर्वक चल रहे हैं। वेद महाविद्यालय, साधारण महाविद्यालय तथा आयुर्वेद महाविद्यालयों में योग्य उपाध्यायों द्वारा बड़ी सफल शिक्षा दी जा रही है। वेद, दर्शन, इतिहास, अर्थशास्त्र, विज्ञान, अंग्रेजी, पाश्चात्य-दर्शन, साहित्य, आर्य-सिद्धान्त, एलोपेथी और आयुर्वेद— सभी विषयों में ब्रह्मचारियों को गहराई तक प्रवेश कराया जाता है। इतने सम्पूर्ण अध्यापन का बोझ आर्य-जनता को हर साल उठाना पड़ता है। यदि १० लाख रुपया गुरुकुल के स्थिर कोष में और जमा हो जाय तो जहाँ यह आदर्श धार्मिक तथा जातीय शिक्षणालय आर्य-जनता तथा ऋषि दयानन्द की सदा के लिये यादगार बन जाय वहाँ जनता के कन्धों पर से हर साल का बोझ भी हलका हो जाय।

१० लाख रुपया इकट्ठा करने के लिये दो प्रकार के डेपूटेशन भारत भर में फिरेंगे। एक बड़े २ शहरों में और दूसरा छोटी छोटी जगहों पर। आप से प्रार्थना है कि आप लिखें कि आप इस परम पवित्र कार्य्य में किस प्रकार हाथ बँटा सकते हैं? किन महीनों में आपके यहाँ 'सिलवर-जुबिली' के उपलक्ष्य में गुरुकुल के स्थिर कोष के लिये धन-संग्रह का कार्य हो सकता है? जिन २ महानुभावों को गुरुकुल की तरफ़ से अपील का भेजा जाना आप आवश्यक समझते हों उन के नाम भी लिख भेजिये ताकि आपकी प्रेरणा के साथ २ गुरुकुल की तरफ़ से भी उनकी सेवा में पत्र व्यवहार किया जा सके। हमें पूर्ण आशा है कि आप इस शुभ कार्य में पूरा २ सहयोग देंगे और ऐसा प्रयत्न करेंगे कि जिस समय आप 'रजत-जयन्ती' मनाने के लिये अगले साल गुरुकुल पधारें तब तक पूरा १० लाख रुपया वसूल हो चुका हो और आय-जनता की गुरुकुल के विषय में चिन्ता मिट चुकी हो।

गुरुकुल समाचार

ऋतु—आज कल गर्मी अच्छी तरह पड़ने लग गई है। दुपहर के समय लू चलती है। कभी कभी आंधियां भी आती हैं। गङ्गा भी बढ़ रही है। सम्भवतः इस मास पुल टूट जावेंगे और कुछ महीनोंके लिये गुरुकुल एक सुन्दर द्वीप का रूप धारण कर लेगा। आसपास के पहाड़ों पर प्याल पक रहे हैं। गुरु-

कुलीय जीवन का एक अत्यधिक आनन्दमय भाग प्रारम्भ हो रहा है। ब्रह्मचारी अवसर पाते ही धूप और गर्मी की प्रवाह न करते हुवे पहाड़ों की तरफ चल पड़ते हैं और इस "गुरुकुलीय फल" को एकत्रित करने में लग जाते हैं।

स्वास्थ्य इन दिनों स्वास्थ्य उत्तम नहीं है। रोगिगृह रोगियों से पूर्ण है। पिछले मास यहां चेचक का प्रकोप रहा था। अब चेचक तो नहीं परन्तु साधारण ज्वर अवशिष्ट है। चेचक से बचने के लिये सब कुल वासियों के टीके भी कराये गये थे। मायापुर-वाटिका में साधारणतया स्वास्थ्य उत्तम है। दो तीन ब्रह्मचारियों को साधारण ज्वर है। अन्य कोई शिकायत नहीं है।

खेलें-गर्मी अधिक हो जाने के कारण अब हौकी-खेल नियम पूर्वक नहीं होती। उस के स्थान पर अन्य अनेक देसी तथा मनोरञ्जक खेलों का आयोजन हुवा है। ब्रह्मचारियों को गातका, लाठी आदि सिखाने का प्रबन्ध किया गया है। इस काम के लिये एक अनुभवी सिक्ख सरदार नियत हुवे हैं। आप उमर में ८० साल के लगभग हैं। परन्तु उत्साह और शक्ति में युवकों का मुकाबला करते हैं। अपनी विद्या के पूरे उस्ताद हैं। प्रति दिन प्रातः और सायं ब्रह्मचारी गतका लाठी आदि सीखते हैं। इसके सिवाय कुछ ब्रह्मचारी घुड़सवारी का भी अभ्यास करते हैं। काश्मीर के महाराजा ने गुरुकुल के लिये दो उत्तम घोड़ियां दान की थीं। ब्रह्मचारी उन्हीं पर चढ़ना सीखते हैं। घुड़सवारी, गतका, लाठी आदि के प्रबन्ध से ब्रह्मचारियों को बहुत लाभ पहुंच रहा है। अनेक ब्रह्मचारी अपना खेल का समय कृषि में भी व्यतीत करते हैं। उन्हों ने स्वयं ही खेतों को जोता और बोया है। आशा है कि ये उन्नतियां कुल के लिये लाभदायक सिद्ध होंगी।

कांगड़ी पाठशाला-गुरुकुल की आर्यसमाज की तरफ से कांगड़ी ग्राम में एक पाठशाला स्थापित है। इस मास इस का वार्षिकोत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया गया। गुरुकुल निवासियों के सिवाय आसपास के ग्रामीण भाई भी सम्मिलित हुवे। प्रो० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार, प्रो० वागीश्वर जी विद्यालंकार प्रो० सत्यकेतु जी विद्यालंकार, तथा अन्य बहुत से सज्जनों के ग्राम सुधार विषय पर उत्तम उत्तम व्याख्यान हुवे। कांगड़ी पाठशाला ने इस समय बहुत उन्नति कर ली है। ६० के लगभग बालक इस समय शिक्षा पा रहे हैं। आसपास के ग्रामों पर इस का बड़ा प्रभाव है। गुरुकुल आर्यसमाज ने शामपुर में भी एक पाठशाला खोल दी है। भोगपुर और लालढ़ांग में भी पाठशालायें जारी करने का विचार है।

सभायें— गुरुकुलीय सभाओं के अधिवेशन नियम पूर्वक हो रहे हैं। गर्मियों में रात के समय पढ़ाई नहीं हो सकती, अतः ब्रह्मचारी अपना समय

सभाओं में विशेष रूप से व्यतीत करते हैं। "नाइट इङ्गलिश क्लब" और "साहित्यगोष्ठी" के अधिवेशन भी शुरू होगये हैं। पिछलेसप्ताह महा०वाग्वर्द्धिनी सभा की ओर से 'आर्यधर्म सम्मेलन' किया गया। सभापति का आसन पं० सत्यकाम जी विद्यालङ्कार ने अलंकृत किया था। अनेक आवश्यक प्रस्ताव स्वीकृत हुवे, जिनमें कि मसूरी-सत्याग्रह का प्रस्ताव विशेष रूप से उल्लेखनीय है। वृटिश सरकार द्वारा आर्यसमाज के अधिकारों को जिस प्रकार कुचला जा रहा है, उसके प्रतिकार के लिये कुलवासियों ने यही निर्धारित किया कि सत्याग्रह प्रारम्भ करके सरकार का मुकाबला किया जाय। आशा है कि अन्य आर्य जनता भी इस उपयोगी विषय पर शीघ्र ध्यान देगी।

आज कल महा०वाग्वर्धिनी सभा की तरफ से ही 'हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' की तय्यारियां हो रही हैं। यह सम्मेलन अगले सप्ताह किया जायगा।

स्नातक भाईयों से आवश्यक निवेदन

स्नातक-मण्डल के गताधिवेशन में आप भाईयों ने अग्रिम गुरुकुलोत्सव पर गुरुकुल-रजतजयन्ती मनाने का महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पास किया है, जिसे कि आप भाईयों के उत्साह से प्रभावित होकर गुरुकुल की स्वामिनी सभा ने भी स्वीकृत कर लिया है। समय बहुत अल्प है और कार्य महान् है। अतः आप सब भाई अभी से कमर कस कर अपने प्यारे कुल की कीर्ति को दिग् दिगन्तरों में फैलाने के लिये तैय्यार हो जावें। आपने उस पुण्य अवसर पर गुरुकुल में श्री स्वामी श्रद्धानन्द-गद्दी स्थापित करने लिये प्रातःस्मरणीय कुलपति जी की सेवा में ३० सहस्र रुपये भेंट करने की प्रतिज्ञा की है। उस धन के संग्रह में अभी से लग जाइये। इस यज्ञ में आहुति डल चुकी है और ७५०) की रकम जमा हो चुकी है। जो कोई भी स्नातक भाई उपर्युक्त स्थिर-निधि या महानिधि के लिये धन एकत्रित करें, वह सब मन्त्री स्नातक-मण्डल के द्वारा ही गुरुकुल कोष में जमा करावें। ऐसा करने से सब हिसाब साफ रहेगा। इस के लिये गुरुकुल में स्नातक-मण्डल की धरोहर खुलवा दी गयी है।

आपका भाई- चन्द्रमणि
मंत्री स्नातक-मण्डल

साहित्य-वाटिका

हमारे परिवर्तन में

"अलंकार" के परिवर्तन में निम्न पत्र, पत्रिकाएँ आती हैं जिन के कृपाशील सम्पादकों तथा सञ्चालकों को हम हार्दिक धन्यवाद देते हैं:—

१. सरस्वती २. माधुरी ३. चांद

४. मनोरमा	५. महारथी	६. Yoga Mimansa
७. साहित्य समालोचक	८. मालव मयूर	९. मातृभूमि
१०. भूगोल	११. वैदिक धर्म	१२. आर्य
१३. ज्योति	१४. गल्पमाला	१५. उपन्यास तरंग
१६. सञ्जीवन	१७. दक्षिणा मूर्ति	१८. आर्य कुमार
१९. बाल जीवन	२०. Vedic Magzine	२१. सम्मेलन पत्रिका
२२. प्रताप	२३. अर्जुन	२४. कर्मवीर
२५. सैनिक	२६. श्रीकृष्ण सन्देश	२७. मतवाला
२८. विश्वमित्र	२९. आर्यमित्र	३०. आर्यजगत्
३१. शंकर	३२. भारत जीवन	३३. प्रभात
३४. The Liberator	३५. हिन्दी नव-जीवन	३६. आर्य जीवन
३७. हृदय	३८. मारवाड़ी	३९. प्रेम

समालोचना

लखनऊ (अमीनाबादपार्क) की सुप्रसिद्ध गंगा पुस्तकमाला हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि के लिये प्रशंसनीय प्रयत्न कर रही है। माला की कुछ पुस्तकें हमारे पाससम्मति के लिये आई हैं, उन का स्वल्प परिचय पाठकों के सन्मुख उपस्थित करते हैं:—

१. विश्वसाहित्य:—लेखक, सरस्वती-सम्पादक श्री पदुमलाल पन्नालाल जी बक्षी। बक्षी जी साहित्य के पंडित हैं, प्रस्तुत ग्रन्थ में उन की लेखनी से लिखे हुए साहित्य के भिन्न भिन्न विषयों पर लिखे हुए निबन्धों का सुन्दर संग्रह है। साहित्य का मूल, साहित्य का विकास, काव्य, नाटक, तीर्थ-सलिल, कला, साहित्य और धर्म प्रभृति कई विषयों पर विशद समीक्षा की गई है। साहित्य प्रेमियों को इस का अवश्य अध्ययन करना चाहिये। पुस्तक कालिजों की पाठविधि में रखने लायक है। मू० १॥)

२. पराग:—इस कविता-पुस्तक में माधुरी-संपादक श्री पं० रूपनारायण जी पाण्डेय की भिन्न भिन्न समय पर लिखी हुई साहित्यिक, राष्ट्रीय एवं फुटकर कविताओं का संग्रह है। हमें जहाँ तक ज्ञात है इस में पाण्डेय जी की बहुत सी उत्तमोत्तम रचनाओं का समावेश नहीं हो पाया है, तथापि संग्रह अच्छा है, मनोरंजन की इस में पर्याप्त सामग्री है। मूल्य एक रुपया।

३. भवभूति:—मूल लेखक, स्वर्गीय श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण। अनुवादकर्त्ता, पं० ज्वालादत्त शर्म्मा। इस में महाकवि भवभूति के नाटकों पर एक अच्छी आलोचना की गई है। साथ ही कवि के समय तथा जन्मस्थान का भी निरूपण किया गया है। साहित्य प्रेमियों के काम की वस्तु है। मूल्य ॥=)

बदापान खुद ब खुद कर देती है मोहरत ज़माने में।
मुनाफ़ा इस क़दर रखिये नमक जितना हो खाने में॥

(१) गंगाविष्णु नैनामृताञ्जनः—यह सफ़ेद सुरमा शिरीष की जड़ में ६ महीने रख कर तथा अन्य वैज्ञानिक तरीकों से शुद्ध करके १ साल की लगातार मेहनत के पश्चात् तय्यार किया गया है। हम दावे के साथ कह सकते हैं कि यह सुरमा आंखों की निम्न बीमारियों में अकसीर साबित हो चुका है—

नेत्रों में खारिश का उठना, रतौंधी, दूर अथवा समीप की वस्तु का साफ़ २ नज़र न आना, धूप में जाते ही आंखों का गरमी से चौंधिया जाना, देर तक किसी वस्तु अथवा पुस्तक की ओर नज़र का न टिकना, आंखों से पानी का गिरना, नज़ले की वजह से आंखों की कमज़ोरी और विशेष करके आजकल के नवयुवकों तथा वृद्धों के लिये यह सुरमा अकसीर साबित हो चुका है। क़ीमत २) तोला रखी गई है। ३ माशा ॥), ६ माशा १), १ तोला २)

(२) कुक्करों का शर्तिया इलाजः—एक आश्चर्य जनक औषधि। यह कोई शास्त्रीय नुस्खा नहीं है। परन्तु किसी अनुभवी वृद्ध सन्यासी का जादू है। देखने में बिलकुल मामूली ख़ाली बत्तियें नज़र आती हैं परन्तु इसके ४, ५ दिन के इस्तेमाल से ही आपको निहायत फ़ायदेमन्द साबित होंगी—

यह बत्तियाँ आंखों के पुराने से पुराने रोहें, सुर्खी तथा पड़वाल और पानी के झर २ गिरने के लिये अकसीर है। फ़ायदे इसके अन्य भी हैं परन्तु आप इसकी एक बार परीक्षा करके हमेशा के लिये इसको अपने पास रखना चाहेंगे। सेवन विधि दवाई के साथ भेजी जाती है।

(३) मस्तिष्क पौष्टिकः—विद्यार्थी, अध्यापक, वकील, क्लर्क और व्याख्याता आदि जिन्हें काम करके काफ़ी देर के लिये आराम की ज़रूरत पड़ती है, उनकी दिमाग़ी ताकत को स्थिर रखनेके लिये यह दवाई अद्वितीय है। कम से कम १५ दिन या १ महीना इसके सेवन करने से आश्चर्य जनक प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इससे आप अपने काम को दिल से कर सकेंगे तथा दिमाग़ी ताकत को ज्यादा नहीं खर्च करना पड़ेगा। विद्यार्थियों के लिये अमृत है। केवल एक बार परीक्षा की ज़रूरत है। १ शीशी १५ दिन के लिये २)

(४) केशरञ्जन खिज़ाबः—जहां अन्य खिज़ाबों के लगाने से काली चमड़ी होने के सिवाय बालों की जड़ें कमज़ोर होकर झड़ने लग जाती हैं, वहां इस के सेवन से बाल काफ़ी अरसेके लिये काले तथा ख़ास चमकीले मालूम देते हैं। यह दो चीज़े हैं-एक खुश्क, दूसरी तर। दोनोंको उचित मात्रामें मिला कर ब्रशसे इस्तेमाल करने से बालोंमें ख़ास चमक आती है। १ शीशी १।)

रोशनी
का
भण्डार
हैसेग लैन्टर्न जर्मनी की बनी हुई
अपने समाज, सभा, सोसायटी, क्लब, व्यायामशाला तथा गृह को, अमरीका की बनी हुई निहायत उम्दा तथा मशहूर स्टोर्म किंग लैन्टर्न से सुशोभित कीजिये। यह लैन्टर्न अपनी चकाचौंध रोशनी के द्वारा रात को दिन कर देती है। उत्सवों की शोभा इस लैन्टर्न से दुगनी हो जाती है। विवाह तथा त्यौहार आदि की खुशी के अवसर पर यह लालटेन घर की शोभा देने वाली उत्तम वस्तु है। इस लैन्टर्न से धुआँ नहीं होता। आँधी तूफ़ान तथा वर्षा में यह बुझ नहीं सकती। इसमें केरोसीन आयल या पैट्रौल इस्तेमाल किया जाता है।
(१) एक मेन्टल वाली ३५० कैण्डल पावर की स्टोर्म किंग लैन्टर्न की कीमत ३०)
(२) दो मैन्टल वाली ४८० कैण्डल पावर की स्टोर्म किंग लैन्टर्न की कीमत ३५)
(३) एक मैन्टल वाली ३०० कैण्डल पावर की हैसेग लैन्टर्न जर्मनी की बनी हुई की० २५)
इन लालटैनों का वजन लगभग दो सेर, ऊँचाई १३ इँच, तथा चिमनी अबरक की होती है। डाक द्वारा मंगाने से एक लालटैन पर पोस्टेज खर्च अलग।
मैन्टल:—
एक मैन्टल वाली लैन्टर्न के लिये मैन्टल कीमत ३॥) फ़ी दर्जन
दो मैन्टल वाली लैन्टर्न के लिये मैन्टल कीमत ३) फ़ी दर्जन
प्राइमस स्टोव नं० १०० कीमत ६) डाक व्यय पृथक्
मिलने का पता:—
रविवर्मा स्टील वर्कस अम्बाला छावनी